गोस्वामि-श्रीपुरुषोत्तम-ग्रन्थमालायाः पञ्चमं प्रसूनम्

अवतारवादावली

(तृतीयो भागः)



अवतारवादावली

३

गोस्वामि-श्रीपुरुषोत्तम-ग्रन्थमालायां पञ्चमं प्रसूनं

अवतारवादावली

(तृतीयो भागः)

(वादाः : १०-२४)

अवतारवादावली ३

गोस्वामि-श्रीपुरुषोत्तम-ग्रन्थमालायां पञ्चमं प्रसूनं

अवतारवादावली

(तृतीयो भागः)

(वादाः : १०-२४)

प्रकाशक : श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट.

वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी

पुना-बेंगलोर रोड़, कोल्हापुर.

महाराष्ट्र. ४१६ ००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.१९७६=ई.स.१९२०.

द्वितीयसंस्करण : वि.सं.२०६३=ई.स.२००७.

प्रति : १०००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : रमा आर्ट्स्,

४, चुनावाला इन्डस्ट्रिअल् एस्टेट्,

कोंडिविटा, अंधेरी (पूर्व),

मुंबई : ४०० ०५९.

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।
।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

सम्पादकीय

वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंमें वादावलियोंके प्रणयनकी परम्पराका उत्स स्वयं महर्षि बादरायणद्वारा ब्रह्मसूत्रोंमें अपनायी गयी विशिष्ट विचाररीतिमें ही निहित हम पाते हैं.

वेदके उत्तरकाण्डरूप उपनिषदोंमें प्रतिपाद्य प्रमेय, नामशः, ब्रह्मके मौलिक तथा लीलार्थ परिगृहीत स्वरूप, तदितर पदार्थों या प्रमेयों का निरसन, ब्रह्मप्राप्तिकी साधना; और उन साधनाओंके द्वारा प्राप्त होनेवाली फलानुभूति आदि, अनेक विचार्य विषयोंका इदमित्थम्भावेन निर्धारण उपनिषद्वचनोंकी एकवाक्यता खोज पानेपर ही शक्य हो पाता है. तदर्थ हेतुनिर्देशपुरःसर वाक्यार्थोंकी मीमांसामें स्वयं सूत्रकार भी वादशैली अपना कर ही प्रवृत्त हुवे हैं. एतदर्थ समन्वय अविरोध साधन और फल के प्रतिपादक चार अध्यायोंमें चार-चार पादोंमें योजित अनेक अधिकरणोंमें उन अधिकरणोंका स्वरूप भी तत्तद् उपनिषदोंके मीमांस्य वचनोंको विषयवाक्य बना कर, उनमें उभरती संशयकी कोटियोंको दरसाते हुवे, उन संशयकोटियोंके अन्तर्गत पूर्वपक्षका निरसन करते हुवे, उत्तरपक्ष या सिद्धान्तपक्ष की उपपत्ति हेतुसहित प्रस्तुत करते हुवे; इसी तरह, अग्रिम विचार्यरूप विषयवाक्यकी संगतिके भी अभिप्रायवश, यों इन पांच अंगोंमें ब्रह्ममीमांसा सूत्रकारने सम्पन्न की है. एतावता सूत्रकार उपनिषदोंके वाक्यार्थोंकी मीमांसाका अनुष्ठान वादशैलीमें ही सम्पन्न करना चाहते हैं. भगवद्गीताके **''अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदताम् अहम्''** (भग.गीता.१०।३२) आदर्शसे सूत्रकार महर्षि बादरायणका अनुप्रेरित होना यों स्पष्ट झलक जाता है.

सूत्रकारने सावधानतया अपने प्रतिपक्षी मतवादोंको दो या तीन वर्गोंमें विभाजित किया है :

१.वह चिन्तन कि जिसमें मीमांस्य उपनिषद्वचनोंका सूत्रकारको सर्वथा अस्वीकार्य अब्राह्मिक व्याख्यान प्रस्तुत किया गया हो.

२.वह चिन्तन कि जिसमें उपनिषदोंके वचनोंपर अवलम्बित हुवे बिना औपनिषदिक प्रमेयसे किसी तरहका अविरुद्ध या विरुद्ध ही कोई प्रमेय स्वतन्त्रतया प्रतिपादित कर दिया हो.

३.स्वयं सूत्रकारकी तरह उपनिषद्वचनोंकी एकवाक्यता साधनेके लक्ष्यको बुद्धिगत रखनेके बावजूद जिनमें उपनिषद्वाक्यार्थकी मीमांसामें सूत्रकारके अभिप्रायसे सर्वथा विपरीत न होनेपर भी यत् किञ्चित् पार्थक्य तो प्रकट हुवा ही हो.

इन्हें पूर्वपक्षतया उपस्थापित करके निजाभिप्रेत हेतुओंके बलपर इन विविध मतवादोंका निराकरण करना तथा उपनिषदोंके अनेकविध वचनोंमें प्रतिपाद्य अनेकनाम-रूप-कर्मोंके एकमात्र उपादान अद्वितीय ब्रह्मरूप प्रमेयके प्रतिपादनमें श्रुतिवचनोंका समन्वित प्रामाण्य, उसकी प्राप्तिके उपाय; और उन उपायोंसे प्राप्य फलोंके स्वरूप के प्रतिपादक प्रारूपको मनोगत रख कर उपनिषद्वचनोंके अभिप्रायोंकी मीमांसा करनेपर एक विशिष्ट विचारदृष्टि उभर पाती है. ऐसी विचारदृष्टिके साथ ही सूत्रकार सूत्रप्रणयनार्थ अग्रसर हुवे हैं. और अतएव वेदान्तसूत्रोंके 'वादावली' नाम्ना प्रसिद्ध न होनेपर भी इन सूत्रोंकी संरचना ही उनकी वैसी पहेचान प्रकट कर देती है.

अतएव वेदान्त-प्रस्थानके बहुत सारे वादग्रन्थोंमें ब्रह्मसूत्रोंकी तरह

ही प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल या समन्वय-अविरोध-साधन-फल का प्रारूप ही अनुगत हुवा हम पाते हैं. यह अन्य कथा है कि वाद-प्रतिवादके घमसान रूपसे छिड़ जानेपर, कभी-कभी, विवादास्पद मुद्दोंकी अपेक्षाके अनुसार अन्यान्य प्रारूपोंमें भी वादग्रन्थों या वादावलियों का प्रणयन हुवा ही है.

शांकर वेदान्तप्रस्थानके प्राचीन-अर्वाचीन वादग्रन्थ, नाम्ना, इष्टसिद्धि ब्रह्मसिद्धि नैष्कर्म्यसिद्धि न्यायमकरन्द ब्रह्मविद्याभरण तत्त्वशुद्धि अद्वैतसिद्धि अद्वैतरत्न वादनक्षत्रमाला अद्वैतामोद शतभूषणी सदृश ग्रन्थोंमें, अतएव, कहीं उक्त प्रारूप तो कहीं विशेष प्रतिपाद्य विषयके प्रतिपादनार्थ या परमतके केवल निरसनार्थ अन्यथा प्रारूप भी अपनाया गया है. इसके विपरीत खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थमें वादरीतिके बजाय वितण्डारीतिको अपना कर ग्रन्थकार अग्रसर हुवे हैं, न्यायमतके पदार्थोंके व्यवहाराभिमत लक्षणोंके भी प्रत्याख्यानार्थ! इसे ही परवर्ती कालमें वादरूपेण भी प्रस्तुत करने श्रीचित्सुखमुनिने तत्त्वप्रदीपिका ग्रन्थकी रचना की. यह प्रभेद इन वादग्रन्थोंके अवलोकन करनेपर परखा जा सकता है.

रामानुज-माध्व वेदान्त-प्रस्थानोंमें भी प्राचीन-अर्वाचीन वादग्रन्थोंमें इसे देखा-सोचा जा सकता है : श्रीयामुनेयाचार्यकृत सिद्धित्रय, श्रीरामानुजाचार्यद्वारा जिज्ञासाधिकरणमें शांकर वेदान्तके प्रत्याख्यानार्थ योजित महापूर्वोत्तरपक्ष, श्रीवेदान्तदेशिककृत तत्त्वमुक्ताकलाप न्यायसिद्धाञ्जन शतदूषणी, श्रीउत्तमुर वीरराघवाचार्यकृत परमार्थभूषण आदि वादग्रन्थ; अथवा, श्रीमन्मध्वाचार्यकृत दस वादप्रकरण, श्रीजयतीर्थकृत वादावली, श्रीव्यासरायकृत न्यायामृत तर्कताण्डव आदि. इनमें कतिपय वादग्रन्थ स्वसिद्धान्तप्रक्रियाके मण्डनार्थ हैं तो अन्य परसिद्धान्तप्रक्रियाके खण्डनार्थ भी हैं.

स्वयं वाल्लभ वेदान्तप्रस्थानमें गोस्वामी श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणद्वारा लिखे गये वादग्रन्थोंमें भक्तिहंस भक्तिहेतुनिर्णय और विद्वन्मण्डन नामक

वादग्रन्थोंमें स्वमतीय पुष्टिभक्तिके स्वरूप तथा हेतु एवं साकारब्रह्मवादके मण्डनार्थ और परमत, विशेषतया, मायावादके खण्डनका अनुष्ठान भी वादग्रन्थकी शैलीमें ही सम्पन्न हुवा है.

इसके अलावा इन वादग्रन्थोंके बारेमें यह भी एक तथ्य उल्लेखनीय लगता है कि कभी इनमें प्रामाण्यमीमांसाको प्रधान उपपादनीय बना कर तन्मूलक प्रमेयका प्रतिपादन किया गया है. तो कभी साक्षात् प्रमेयस्वरूपको प्रधान बना कर प्रवृत्त होनेवाले भी वादग्रन्थ उपलब्ध होते हैं.

इसी तरह प्रमेयस्वरूपको वादचर्चाका प्रधान विषय बनानेवाले वादग्रन्थोंमें भी ब्रह्मचर्चासे आरम्भ कर ब्रह्मसे जन्य या ब्रह्मके अवान्तर रूपोंकी निगमनात्मक पद्धतिसे चर्चामें जुटनेवाले कतिपय वादग्रन्थ मिलते हैं. तो कुछ अन्य वादग्रन्थ जड़-जीव आदि तत्त्वोंके स्वरूपनिर्धारणद्वारा ब्रह्मके स्वरूपकी उपनयात्मक पद्धतिसे चर्चामें जुटे हुवे भी दिखलायी देते हैं.

शांकर वेदान्तप्रस्थानके लिये, प्रायः, समारोपित गुणधर्मोंके प्रतिषेधद्वारा निर्विशेष अवाच्य ब्रह्मका उपपादन, निषेधशेषतया, करना अधिक आत्मसंगत प्रक्रिया हो जाती है. अतएव ब्रह्मसूत्रोंमें शब्दमर्यादया सुलभ न होनेपर भी भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यको उत्सूत्र अध्यासभाष्य जिज्ञासाधिकरणमें जोड़ना पड़ा. तदनुरूप ब्रह्मके उपासनार्थ कल्पित मिथ्यारोपित कार्यलक्षण तथा अनारोपित परमार्थतया ज्ञेय स्वरूपलक्षण के प्रभेदवश शाखारुन्धतीन्यायेन जिज्ञास्य ब्रह्म और ज्ञेय ब्रह्म के द्वैतका अवलम्बन भी वहां अनिवार्यतया करना पड़ा है.

शांकरेतर वेदान्तके विभिन्न प्रस्थानोंमें इसकी अपेक्षा न होनेसे, ब्रह्मको उपनिषदादि शास्त्रोंका एकमात्र तथा साक्षाद् वाच्य माना गया

है. अतएव ब्रह्मके स्वरूपमें आरोपित तथा अनारोपित के प्रभेदकी अपेक्षा शांकरेतर वेदान्तके प्रस्थानोंमें रह नहीं जाती. अतएव ब्रह्मके उपनिषदादि शास्त्रोंमें प्रतिपादित स्वरूपके निर्धारित हो जानेपर ब्रह्ममीमांसाके आनुषंगिकतया ब्रह्मांशभूत, ब्रह्मोपादानक या ब्रह्मकर्तृक सृष्टिके अनेकविध तत्त्व, यथा, जड़-जीव या साधन-फल आदि सभी विषयोंका निर्धारण निगमनात्मक पद्धतिद्वारा कर पाना इन वेदान्तप्रस्थानोंके लिये सुकर हो जाता है. यह महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकृत ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके —

> ''ननु ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते विरोधनिराकरणादीनाम् अप्रतिज्ञातार्थत्वम्... 'ब्रह्मणि' इति न कर्मणि षष्ठी किन्तु शेषे षष्ठी. तथाच ब्रह्मसम्बन्धि तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव प्रतिज्ञातं वेदितव्यम्. नच गौणतापत्तिः अजिज्ञास्यत्वं च स्याद् इति वाच्यं, ब्रह्ममात्रे सन्देहाभावात् सन्दिग्धस्यैव जिज्ञास्यता. गौणत्वन्तु शब्दतएव नतु अर्थतः. वेदप्रामाण्यन्तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वाद् न विचार्यते. तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् इति सिद्धम्''. (ब्र.सू.वा.भा.१।१।१).

> ''तत्र किंलक्षणं किम्प्रमाणकम् इति जिज्ञासायाम् आह सूत्रकारो 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्' इति... नहि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः किन्तु सन्देहं वारयितुम्... उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहद् वेदेन बोधितं तद्धि न अन्यथा भवितुं क्षमम्... वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं बोध्यते. वेदश्च परमाप्तो अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति. अन्यथा सर्वत्रैव तदविश्वासप्रसंगात्. नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः... प्रतीतं च निषेध्यं, न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतं, सत्यत्वादयः च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्. नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव

व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासतइति वाच्यं, तर्हि कर्तृत्वं तथा कुतो न अंगीक्रियते?''
(ब्र.सू.वा.भा.१।१।२)

इन भाष्यवचनोक्त प्राग्धारणाओंके सन्दर्भमें प्रस्तुत अवतारवादावली भी सच्चिदानन्द ब्रह्मके मौलिक तथा लीलार्थ परिगृहीत सृष्ट्यनुगत विविध रूपोंकी चर्चाद्वारा जड़-जीव तथा साधन-फलके स्वरूपकी मीमांसाका अनुष्ठान निगमनात्मक पद्धतिको अपना कर प्रवृत्त होनेवाला ग्रन्थ है, यह स्पष्ट हो जाता है.

अतएव इसके प्रारम्भके तीन-चार वाद सच्चिदानन्द ब्रह्मके आनन्दांश स्वरूपोंकी मीमांसामें योजित हैं. पांचवेंसे ले कर नौवें वादोंमें ब्रह्मके सदंशके साथ सम्बद्ध अन्यान्य विषयोंकी मीमांसा की गयी है. यहां अब दसवें ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें वादोंमें ब्रह्मके स्वयं चिदंश तथा उनके निर्वाहक रूपोंकी मीमांसा की गयी है. बादमें चौदहवेंसे चौबीसवें वादोंमें साधन-फलसम्बन्धी पदार्थोंकी मीमांसा अनुष्ठित हुयी है.

अतः इस स्थूल प्रारूपके स्पष्टीकरणके बाद उन-उन वादोंकी विषय-संशय-पूर्वोत्तरपक्ष-के संकलनार्थ उपलब्ध होती कारिकाओंका भावानुवाद प्रस्तुत करना विचार्य विषयोंके विहंगावलोकनार्थ उपकारक होगा :

१०.<u>ब्राह्मणत्वादिदेवतावाद</u> :

विषय : सृष्टिरूप कार्यका एकमात्र निमित्त तथा समवायी कारण ब्रह्म सृष्टिकालमें विराट् या ब्रह्माण्डमूर्ति होनेका रूप धारण करता है. तब उसके मुख बाहू उरु और चरणों में अन्यान्य देवताओंके समावेशकी तरह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्णोंका समावेश

भी निरूपित हुवा है. इसे न तो सृष्टिकालिक वर्णचतुष्टयके उत्पत्तिस्थानके अर्थमें और न सृष्टिकालिक वर्णचतुष्टयके स्थितिस्थानके अर्थमें ही सोचा जा सकता है. इसे तो वर्णचतुष्टयके नियामक आधिदैविक रूपोंके ब्रह्माण्डमूर्ति विराट्में ही अवस्थित होनेके तात्त्विक निरूपणार्थ; तथा उसके वैसे ध्यानार्थ स्वीकारना उचित होगा. इसका औचित्य विशेषमें इसलिये भी है, क्योंकि, वेदादि सकल शास्त्र प्रधानतया वर्णचतुष्टयाधिकारक धर्मोंके ही अनुष्ठानपर भार देते हैं. धर्म, क्योंकि, केवल आधिभौतिक देहसे ही सम्बद्ध किसी कर्म-फलभावका कोई सनातन नियम न हो कर आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सनातन मूल्योंको भी अपना स्वरूपनिर्वाहक बनाता है. अतः उसे परमात्माके विराट् स्वरूपमें समाविष्ट कर निहारनेपर हमारी धर्मदृष्टिका सविशेष उदात्तीकरण होता है.

संशय-पूर्वपक्ष : लोकमें तो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र वर्ण जातिभेदके रूपमें ही स्वीकारे गये मिलते हैं ऐसी स्थितिमें इन वर्णोंका देवतारूप होना कैसे स्वीकार्य बन सकता है?

सिद्धान्त : ब्राह्मणत्व आदि वर्णोंको जन्मना सिद्ध जातिओंके रूपमें माना नहीं जा सकता. क्योंकि व्यक्तिके विद्यमान रहनेपर भी उसमेंसे ब्राह्मणत्व या क्षत्रियत्व आदि वर्ण विलुप्त होते निरूपित हुवे हैं. इसी तरह अन्य भी वर्ण प्रकट या विलुप्त भी हो सकते होनेसे इन वर्णोंको जातिके रूपमें स्वीकारा नहीं जा सकता. वर्णी व्यक्तिके साथ इन ब्राह्मणत्व आदि वर्णोंका सम्बन्ध भी, इन्हें जाति माननेपर, संगत नहीं हो पाता. प्रत्यक्षदृष्ट वस्तु या व्यक्ति में विद्यमान रूपाकृति आदि ही वस्तु या व्यक्ति की जातिकी व्यंजक बनती हैं. ऐसा कोई नियत व्यंजकधर्म वर्णोंका दृष्टिगोचर नहीं होता. इन वर्णोंको जातितया स्वीकारनेपर वर्णोंके स्वरूप तथा कर्तव्य आदिके निरूपक शास्त्रवचन भी असंगत हो जाते हैं. अतः तत्तद् देवताओंके शरीरमें आवेश या निवेश के रूपमें ही वर्णोंको स्वीकारना उचित बात होगी. यह द्वितीयस्कन्ध-सुबोधिनीके अवलोकन करनेसे स्पष्ट होता है.

११. जीवव्यापकत्वखण्डनवाद :

विषय : जीवात्मा स्वरूपेण नित्य चिद्रूप तथा अणुपरिमाण होनेपर भी भगवान्की ही व्यामोहिका मायाके प्रभाववश स्वयं अपना स्वरूप जान नहीं पाती है. इस व्यामोहिका मायाके कारण पनपे निज स्वरूपके अज्ञानसे छुटकारा तो परमात्माकी शरणमें जानेवालेको ही मिलता है. भगवान्की शरणमें जानेवाला ही स्वयंके ब्रह्मांश होनेकी तरह स्वान्तःस्थित परमात्माद्वारा स्वयंके नियन्त्रित होनेके तथ्यको जान पाता है.

संशय-पूर्वपक्ष : शरीरमें रहनेवाली जीवात्माका अणुपरिमाण होना अनेक न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग मतके प्रवर्तक चिन्तकोंको अमान्य होनेसे तथा अणुपरिमाण होनेकी कोई स्पष्ट उपपत्ति भी दिखलायी देती न होनेसे, तार्किकोंद्वारा स्वीकृत आत्माके विभुपरिमाण होनेकी धारणा ही उचित लगती है.

सिद्धान्त : अणुपरिमाण न हो तो शरीरपरिमाण होनेपर तो आत्माको अनित्य मानना पड़ेगा. अथवा सर्वत्र विद्यमान माननेपर सभी शरीरोंमें उत्पन्न होनेवाले कर्म और उनसे जन्य सुख-दुःखोंके साथ भी कर्तृभाव और भोक्तृभाव से सम्पृक्त उसे मानना पड़ेगा. अतः आत्माके व्यापक होनेकी कथा सुसंगत नहीं लगती. निद्राकालीन सुखशयनके स्मरणवश तथा श्रुतिवचनवश भी आत्माका चिद्रूप एक बार निश्चित हो जानेपर आत्माके अणुपरिमाण होनेके बारेमें भ्रान्तिवश दी जाती अनुपपत्तियां बहुत गम्भीर नहीं लगती हैं.

१२. जीवप्रतिबिम्बादिरूपखण्डनवाद :

विषय : देशकालस्वरूपके त्रिविध परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्द ब्रह्ममें जीवोंको अणुपरिमाण पारमार्थिक चिदंश माननेके बजाय, शांकर वेदान्तप्रस्थानमें, माया अविद्या या अन्तःकरण रूपी उपाधिओंमें प्रतिबिम्बित अवच्छिन्न या कल्पित ब्रह्मांश माना जाता है. अन्य कुछ चिन्तक

अविभक्त अपरिच्छिन्न आकाशोपम ब्रह्मरूप आधारमें विभक्ततया अधिष्ठित परिच्छिन्न चिदंश उसे मानते हैं. तीसरे कुछ दण्डविशिष्ट पुरुषके हस्तमें अवस्थित दण्डरूप विशेषणकी तरह उसे चिदंश मानते हैं. परिच्छिन्न परिमाणवाले जीवके अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न होनेपर भी चेतन होनेके अर्थमें और ब्रह्मके सदृश होनेपर भी उसकी तुलनामें अल्पपरिमाणवाले होनेके अर्थमें भी उसे अंश माना गया है. इन मतोंको शुद्धाद्वैतब्रह्मवादकी दृष्टिसे उपपन्न कैसे माना जा सकता है?

संशय-पूर्वपक्ष : श्रुति और सूत्र से विरुद्ध होनेके कारण जीवको अंशरूप मानना उचित नहीं. अतएव भगवद्गीताके **''ममैव अंशो जीवलोके''** (भग.गीता.१५।७) इस वचनमें भी जीवके भगवदंश होनेकी बात प्रतिबिम्बरूप अंश होनेके रूपमें ही क्यों न स्वीकार लेनी चाहिये? अथवा अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे भिन्न परिच्छिन्न परिमाण होनेके अर्थमें जीवको ब्रह्मका अंश मान लेना चाहिये.

सिद्धान्त : जीवके स्वरूपके बारेमें ये विविध धारणायें न केवल युक्तिबाधित हैं अपितु श्रुतिवचनोंके भी स्वारसिक अभिप्रायका भलीभांति अवगाहन करनेपर स्वीकार्य नहीं लगती हैं. ऐसा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणके वचनोंके आशयको भलीभांति हृद्गत करनेपर समझा जा सकता है.

१३.<u>श्रीमद्भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवाद</u> :

विषय : श्रीमद्भागवत महापुराण वेद-वेदान्तका साररूप तथा सभी पुराणोंमें मूर्धन्य पुराण है. स्वयं वेदव्यासको इसके प्रणयन करनेपर ही अपने अकृतार्थ होनेका खेद निवृत्त हुवा था. फिरभी इसके अष्टादश पुराणके अन्तर्गत होने या न होने के बारेमें मतभेद दिखलायी देता है.

संशय-पूर्वपक्ष : क्योंकि वेदोंकी शाखाओंके विभाजन, महाभारतप्र-

णयन, ब्रह्मसूत्रोंकी रचना तथा अठारह पुराणके निर्माणके बावजूद परितोष प्राप्त न होनेपर इसे महर्षि वेदव्यासद्वारा प्रकट करनेकी कथा वर्णित हुयी होनेसे इस भागवतपुराणको अठारह पुराणोंसे बहिर्भूत मानना ही उचित लगता है. यह कथा भी स्वयं श्रीमद्‌भागवतमें ही महर्षि वेदव्यास और मुनि नारद के संवादतया गुंफित है. स्वयं पुराणोंमें मिलते पुराणलक्षणके अनुरूप न होनेके कारण भी इसे अठारह पुराणोंके अन्तर्गत मानना युक्तिसंगत नहीं लगता है.

सिद्धान्त : इस विषयमें यह ज्ञातव्य है कि प्रमुख पुराणोंकी अठारह संख्या और उनके लक्षण के साथ सर्वथा अनुरूप होनेके कारण इसे महापुराण मानना ही उचित है. यह महाप्रभुके तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अवलोकन करनेपर भलीभांति समझमें आ ही सकता है.

१४.<u>भक्तिमार्गीयोपदेशादिविषयकशंकानिरासवाद</u> :

विषय : भगवान्‌की सृष्टिलीलामें सांसारिक बन्धनोंसे विमुक्ति पानेको सभी दैवी जीव अधिकारी होते हैं. उनका उद्धार उनके अधिकारके अनुसार शरणागति या आत्मसमर्पणरूपा भक्ति आदि मार्गोंके द्वारा होता है. यह तत्तन्मार्गानुकूल आत्मोद्धारके उपायोंका उपदेश प्रदान करनेवाले आचार्यके द्वारा सम्पन्न होता है.

संशय-पूर्वपक्ष : यह तो ठीक है परन्तु प्रपत्ति या भक्ति आदि मार्गोंद्वारा उद्धार जो दैवी जीव द्विज नहीं होते उनका ही होता है. क्योंकि गायत्रीदीक्षाके संस्कारद्वारा संस्कृत द्विजोंका उद्धार तो श्रौत-स्मार्त साधनाओंद्वारा होना ही उपपन्न लगता है. अतएव वेदमाता गायत्रीके उपासक होनेके कारण द्विजजातीय तो सभी शाक्त ही होते हैं, नतो शैव और न वैष्णव ही. इसके अनुकल्पतया वेदबाह्य जनोंके लिये तान्त्रिकी श्रीवैष्णवी दीक्षाका भी विधान मिलता होनेसे वह भी मानी जा सकती है. कथमपि शरणागति या आत्मसमर्पणरूपा भक्ति की

कथा तो उपपन्न नहीं होती.

सिद्धान्त : यहां विचारणीय है कि सभी द्विजोंके सामान्यरूपेण शाक्त होनेका नियम क्या जन्मवश स्वीकारना अथवा संस्कारद्वारा किसी अतिशयके आधानवश? यदि जन्मना स्वीकारते हैं तो किसी द्विजके म्लेच्छधर्मको अपना लेनेपर भी उसका शाक्त होना निवृत्त नहीं हो पायेगा. यदि म्लेच्छधर्म अपना लेनेपर भी शाक्त होनेका रूप निवृत्त न होता हो तो उसे म्लेच्छधर्मसे संकीर्ण धर्म स्वीकारना पड़ेगा. अतः निवृत्त होना स्वीकारते हैं तो वैष्णवी दीक्षाद्वारा भी उसे निवृत्त होता माननेमें कोई आपत्ति होनी नहीं चाहिये. अतः शरणागति तथा आत्मसमर्पणरूप ब्रह्मसम्बन्ध की दीक्षाओंको वैष्णवता प्रदान करनेवाली दीक्षाओंके रूपमें स्वीकार लेना चाहिये. यहां कुछ लोग ऐसी शंका करते हैं : देह आदिका ब्रह्मसम्बन्ध कराना क्या देहादिमें ब्रह्मका अध्यास निर्माण करना है अथवा ब्रह्ममें देहादिका अध्यास करना? गाय-घोड़ा-द्रव्य आदि किसीको समर्पित कर देनेके बाद उनमें उन्हें जैसे अपना नहीं माना जाता वैसे देहादिको ब्रह्मको समर्पित कर देनेपर क्या देहादिमें उनके अपने होनेकी बुद्धि निवृत्त हो जाती है या नहीं? यदि निवृत्त न होती हो तो समर्पण हुवा नहीं माना जा सकता और निवृत्त होनेकी बात तो प्रत्यक्षसे विरुद्ध लगती है. अतः लोकमें देहादिके अपने होनेकी अनुभूतिके साथ तालमेल न रखनेके कारण यह समर्पण शक्य नहीं लगता. देहादिमें स्वत्वके विनाशकी बात सोचनेपर तो ब्रह्मको अर्पण कर देनेपर जातिनाश भी मानना पड़ेगा. ऐसी सारी शंकायें सिद्धान्तके रहस्यके अज्ञानवश उभरती होनेसे वस्तुतः तो तुच्छ ही हैं. क्योंकि ब्रह्मको किये जाते देहादिके समर्पणके बाद आहार्यबुद्धिद्वारा ऐसा मनन आवश्यक होता है कि ये सभी कुछ ब्रह्मके है.

इसके अलावा इन दोनों मन्त्रोंका ॐकारवर्जित होना, जपसंख्याका नियत न होना, जपके अन्तमे होमोपयोगी द्रव्यका उल्लेख न मिलना,

दीक्षादानार्थ विहित मास-पक्ष-तिथिका अनुल्लेख, इन मन्त्रोंकी दीक्षाके हेतु योग्य अधिकारिताके लक्षणका अभाव, सभीको एक ही मन्त्रका उपदेश निषिद्ध होनेसे सिद्धान्तवैपरीत्य आदि अनेक अनुपपत्तियां, इन मन्त्रोंके भक्तिमार्गीय होनेके तथ्यसे समाहित हो जाती हैं. फिरभी स्वच्छन्दताके निवारणार्थ कुछ नियम तो माने ही गये हैं. मूलाचार्यके माहात्म्यवश स्वयं गुरुकी योग्यताका भी प्रश्न साम्प्रदायिक व्यवस्थामें बहोत गम्भीर नहीं माना गया है. सम्प्रदाय और आगम तो अनेक होते होनेके कारण साधनाभिमानत्यागात्मिका शरणागति तथा आत्मसमर्पणात्मिका भक्ति की इन दीक्षाओंमें कोई दूषण सोचा नहीं जा सकता.

१५.भगवत्प्रतिकृतिपूजनवाद :

विषय : देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही सृष्टिमें सर्वरूप धारण कर प्रकट हुवे हैं; अतः उनके, सर्वान्तर्वर्ती होनेपर भी गुरु तथा प्रतिमा आदि रूपोंमें भक्तोंके लिये भक्तिभाववश वे विशेष पूजनीय होते ही हैं.

संशय-पूर्वपक्ष : यहां संशय यह होता है कि ब्रह्मसृष्ट वस्तुमात्रमें ब्रह्मके दोषरहित सर्वसम होनेका सिद्धान्त यदि माना जाय तो किसी स्थलविशेषपर उसे अधिक पूजनीय मानना अन्यत्र उसी ब्रह्मकी अवज्ञाकी मनोवृत्तिको बढ़ावा देनेका कारण बनेगा. ऐसी मनोवृत्तिकी शास्त्रमें निन्दा भी की गयी होनेसे स्थानविशेषपर ब्रह्मको अधिक पूजनीय बनानेवाली भक्तिको बढ़ावा देनेके बजाय सर्वत्र तुल्यतया उसे निहारते हुवे पूजन करना ही उचित होना चाहिये.

सिद्धान्त : ब्रह्मोपादानक सभी नाम-रूप-कर्मोंके भीतर ब्रह्मकी निर्दोष सर्वसमता मान्य होनेपर भी इन विविन्न नाम-रूप-कर्मोंकी विभिन्नताका विचार करनेपर गुरु या प्रतिमा आदिमें विशेष पूजनीयताके मनोभाववश सर्वत्र समानतया पूजाका अनुष्ठान उचित नहीं हो सकता. यह स्थानविशेषमें

विशेषादर-प्रयुक्त पूजारीति, श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्ध तथा तत्त्वार्थदीपनिबन्धके सर्वनिर्णय प्रकरण में भी सूक्ष्मतया उपदिष्ट गूढ रहस्यके गम्भीर अवलोकन करनेपर सुविशदतया अवगत हो पाती है.

१६.ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवाद :

विषय : तैत्तिरीयोपनिषद्में इन विविध नाम-रूप-कर्मोंके अभिन्ननिमित्तोपादान तथा प्राकट्यकर्ता ब्रह्मको 'रस'रूप दरसाया गया है. अतः उस ब्रह्मकी रसात्मकताकी अभिव्यक्ति भी अनेकधा होती है! फिरभी परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णको आलम्बन विभाव बना कर जब किसीके हृदयमें भक्तिभाव रसात्मकतया स्थायी भाव बन जाता है तो आधिभौतिक या आधिदैविक अन्यान्य नाम-रूप-कर्मोंमें प्रकट होते रसभाव श्रीकृष्णसेवननिरत भक्तको लुभावने नहीं लगते! अतः ऐसे भक्त श्रीकृष्णके सेवनार्थ जो भी ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक या तुलसीमाला आदिके नियम होते हैं उन्हें उसी रसभावकी तन्मयताके साथ निभाते हैं. फिरभी अन्योंको यह ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलकादि चिह्नोंके धारणकी बात जंचती नहीं है.

संशय-पूर्वपक्ष : अतः विचारणीय हो जाता है कि अथर्वशीर्षोपनिषद् एवं बृहज्जाबालोपनिषद् के वाक्योंके आधारपर परब्रह्मकी वास्तविक अनुभूति भस्म द्वारा त्रिपुण्ड्र धारण किये बिना हो नहीं सकती. अतः क्या त्रिपुण्ड्र अथवा भस्म धारण करना ब्रह्मविद्याका अनिवार्य अंग ही होता है?

सिद्धान्त : अनेकविध लीला तथा अनेकविध जीवोंके भक्तिभावोंको अनेकविध आध्यात्मिक एवं आधिदैविक उपायोंद्वारा परितुष्ट करनेको ब्रह्मने अनेकविध आधिदैविक स्वरूप तथा आध्यात्मिक शास्त्र एवं साधनाप्रणाली या भक्तिभाव प्रकट किये हैं. इनमें एक स्वरूप, एक शास्त्र, एक कोई विशेष साधनाप्रणाली; अथवा एक प्रकारके भक्तिभावके

दृढीकरणार्थ की जाती प्रशंसा या अपर आधिदैविक स्वरूप तत्प्रतिपादक शास्त्र या उसकी अनुभूति या प्राप्ति की साधनाप्रणाली या भक्तिभाव के अरोचक होनेकी कथासे अथवा उनकी निन्दाके वचनसे धीरज नहीं खो देनी चाहिये. क्योंकि उपासनाओंके अनेक प्रभेदके अनुसार शैव या वैष्णव आदि प्रभेद तो उस एकमेव अद्वितीय परब्रह्मके अनेकविधतया प्रकट होनेके प्रमाणरूप होते हैं. अतः जैसे अथर्वशीर्षोपनिषद् एवं बृहज्जाबालोपनिषद् के वाक्योंके आधारपर शैवोंको त्रिपुण्ड्र धारण करना उचित होता है. वैसे ही वासुदेवोपनिषद् एवं गोपालतापनीयोपनिषद् की तरह अन्यान्य स्मृतिपुराणोंके वचनोंके भी आधारपर श्रीकृष्णभक्तोंको ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक ही धारण करना उचित होता है. इसी तरह तत्तत् शास्त्रोंमें प्रतिपादित तत्तद् देवोंकी आराधनामें तत्तत् प्रकारके तिलक ललाट आदि अंगोंपर धारण करनेका आग्रह न केवल निर्दोष अपितु सर्वथा उचित ही होता है. अतः भ्रूमूलके बीच अर्ध वर्तुलाकृतिसे बंधे दो दण्डाकारोंवाला तिलक हम वैष्णवोंके लिये श्रुति स्मृति तथा युक्ति के आधारपरभी उचिततर ही होता है.

१७. <u>तुलसीमालाधारणवाद</u> :

विषय : वैष्णवधर्मके आदर्शके अनुसार भगवत्परायण वैष्णवोंके कण्ठमें तुलसीकाष्ठकी माला तथा मुखमें भगवन्नाम सदा रहना उनका सच्चा आभूषण है.

संशय-पूर्वपक्ष : इस वैष्णवभूषाके बारेमें यह सन्देह होता है कि तुलसीकाष्ठकी मालाकी ऐसी अनिर्वायिता निरर्थक लगती है

सिद्धान्त : यह भगवदीय वैष्णवोंके लिये भगवत्प्रापक बाह्य चिह्न है जिसकी उपयोगिता और आवश्यकता पुराण आदि वैष्णव शास्त्रोंमें प्रतिपादित है. यों धर्मशास्त्रके नाना निबन्धों तथा वैष्णवोंके सदाचार के आधारपर भी तुलसीकाष्ठकी मालाका धारण आवश्यक ही होता है.

१८.शंखचक्रधारणवाद :

विषय : श्रीकृष्णका भक्तिभावपूर्वक अर्चन करनेवालेके लिये अर्चनांगतया गोपीचन्दनकी मृत्तिकासे शंख चक्र गदा पद्म और भगवन्नामोंका धारण वैष्णव-द्विजोंके लिये आवश्यक होता है.

संशय-पूर्वपक्ष : यहां कई लोग ऐसी आशंका करते हैं कि इस तरह विष्णुके आयुधोंसे अपने-आपको अंकित करना, नृत्यगीत आदि करना अद्विजोंके लिये तो धर्म हो सकता है पर ब्राह्मणोंके लिये नहीं.

सिद्धान्त : इस विषयमें ज्ञातव्य है कि भगवदर्चनाके अंगतया नित्यविहित होनेसे तथा भगवदर्चनाके नित्यकर्म होनेके कारण भी इसे यज्ञोपवीतकी तरह नित्यधारणीय मानना चाहिये. इस बारेमें शास्त्रकें जो निन्दावचन दिखलाये जाते हैं वे या तो अर्चनाके अंगतया धारण न कर जो केवल मुखकी शोभावृद्धिके प्रयोजनसे धारण करते हैं उनके बारेमें हैं; अथवा, जो वैष्णव न हों ऐसे अधिकारिओंको उद्देश्य बना कर भी कुछ निन्दावचन या निषेधवचन प्रवृत्त हुवे हैं.

१९.भक्तिरसत्ववाद :

विषय : श्रीमद्भागवत महापुराणमें प्रधानतया प्रतिपाद्य भक्तिरसका लक्षण 'माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोधिक स्नेह'' नारदपंचरात्रमें उपलब्ध होता है. अतः इस ऐसे लक्षणके अनुरूप ही उसका स्थायी भाव भी स्वीकारना चाहिये. सच्चिदानन्दस्वरूप एकमेव अद्वितीय परब्रह्मके माहात्म्यको भलीभांति जान कर, उसके सदंशरूप समग्र ब्रह्माण्डमें ही केवल नहीं अपितु ब्रह्माण्डवर्ती प्रत्येक चिदंशरूप जीवात्माके भीतर भी, जो उसे परमात्मत्वेन अवस्थित जान या मान पाता है, उसके भीतर भक्ति प्रकट हो पाती है. ऐसी अंशरूप जीवात्माके भीतर अंशीके माहात्म्यज्ञानके कारण परमात्माकी असाधारणगुणरूपा आत्मरति

ही भगवद्भक्तिका रूप धारण कर लेनेपर रसरूपा भी बन जाती है.

संशय-पूर्वपक्ष : भक्तिकी इस रसरूपताको कुछ लोग स्वीकारना नहीं चाहते. क्योंकि नाट्यशास्त्र एवं रसशास्त्र में कहीं भी भक्तिका रसरूपतया प्रतिपादन उपलब्ध नहीं होता. अतएव कोई भक्तिको रसरूपा स्वीकारता भी हो तो भी वह उपपन्न नहीं होता. क्योंकि वैसी कोई स्पष्ट अनुभूति ही शक्य नहीं लगती है. यदि भक्तिके रसरूप होनेकी अनुभूति किसीको होती भी हो तो उसका रसशास्त्रमें अंगीकृत रस या भावों के भीतर अन्तर्भाव स्वीकार लेना चाहिये. अतः कथमपि भक्तिको स्वतन्त्र रसतया मान्य करना उचित नहीं लगता.

सिद्धान्त : लौकिक रसोंके नाटन या आस्वादन के सीमित प्रयोजनवाले नाट्यशास्त्र या रसशास्त्र में भक्तिको रसरूप न भी माना गया हो तावता भक्तिकी अलौकिक रसरूपतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता. क्योंकि उपनिषदोंमें रसके मूलभूत पदार्थ स्नेह या रति को परमात्माका असाधारणगुण माना गया है. वह लौकिक प्रियतम/प्रियतमा और प्रेमिका/प्रेमी रूपी आलम्बनविभावोंके बीच जैसे उद्दीपनविभाव संचारिभाव या अनुभाव आदि रसाभिव्यंजक सामग्री द्वारा प्रकट होता होनेसे अभिनयार्ह भी होता है, वैसे ही जीवात्मा-परमात्माके बीच भी शक्य होनेसे रसप्राकट्यकारिणी सामग्री द्वारा प्रकट तथा अभिनयार्ह भी हो सकता है. यह अलौकिक विषयक होनेपर भी लोकमें सिद्ध होनेसे तथा वैसी अनुभूतिके भी लोकमें प्रसिद्ध होनेके कारण भक्तिकी अलौकिक रसरूपता सिद्ध हो जाती है. अतः नाट्यशास्त्रोक्त लौकिक आठ रसोंसे अतिरिक्त अलौकिक रसतया भक्तिरस भी अनुभूतिके बलपर ही सिद्ध हो जाता है.

२०.**भक्त्युत्कर्षवाद :**

विषय : ऐसे भक्तिरसके पानकी स्पृहा तो मुक्त जीवात्माओंके भीतर भी रहती है. यह भक्तिभाव; किन्तु, प्राप्त होता है भगवान्‌की

अतिशय कृपाके किसी विरले पात्रको ही. क्योंकि यह भक्ति तो स्वयं ब्रह्मके स्वरूपानन्दका ही एक विलक्षण लीलारसात्मक धर्म है.

संशयपूर्वपक्ष : यह धारणा उपपन्न नहीं हो पाती; क्योंकि मुक्तिमें तो सारी कामनायें निःशेष निवारित हो जाती हैं. अब 'अनुग्रह' किसे कहना यहभी सुपरिभाषित न होनेके कारण अतिशय अनुग्रहवश भक्तिके प्रकट होनेकी बात भी विवादास्पद लगती है. अतः भक्तिको एक प्रकारकी मनोवृत्ति मानना ही अधिक सुसंगत बात होगी बजाय कि ब्रह्मानन्दका धर्म या रसरूप माननेके.

सिद्धान्त : बृहदारण्यकोपनिषद्में यह प्रतिपादित किया गया है कि जगत्के किसी भी पदार्थमें स्वयं उसके भीतर प्रिय होनेका कोई निरपेक्ष गुणधर्म नहीं होता. आनन्दस्वरूप परमात्माके सर्वोपादान तथा सर्वान्तवर्ती होनेके कारण उसकी ही प्रियता निखिल जागतिक विषयोंमें क्षुद्रांशोंमें अनुस्यूत हो कर उनमें प्रियताका आभास प्रकट करती है. ऐसी स्थितिमें स्वयं परब्रह्म परमात्मा भगवान् होनेके अनौपाधिक माहात्म्यज्ञानके कारण किसीको श्रीकृष्णमें सुदृढ सर्वतोधिका रति प्रकट हो तो अर्थापत्तिके बलपर उसे भी ब्रह्मधर्मतया स्वीकारना ही पड़ेगा. यह तो ब्रह्मसूत्रके वाक्यान्वयाधिकरणके आधारपर सिद्ध होता ही है. श्रीमद्भागवत भी इस विषयमें परमप्रमाण है. यहां कहा गया है कि यज्ञादि कर्म, आत्मा या ब्रह्म आदि परमतत्त्वोंके शास्त्रीय ज्ञान, मिथ्यामोहजन्य प्रिय लगते जागतिक या पारलौकिक विषयोंमें वैराग्य; अथवा दान व्रत तप आदि किसी भी शास्त्रविहित साधनकी अपेक्षा रखे बिना भगवद्भक्ति भगवदनुभूतिके प्रदानहेतु समर्थ होती है. भगवद्भक्तिका यह असाधारण उत्कर्ष श्रीमद्भागवतपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरणकृत सुबोधिनी व्याख्याके आधारपर तो सहज ही समझा जा सकता है.

२१.नामफलादिप्रकारवाद :

विषय : भगवान्के विविध नाम यथावद् अवगत होनेपर ही

मुख्य फलका दान करते हैं. अन्यथा अतः ऐसा 'श्रीकृष्ण' नाम सदा भक्तिके साथ लेता रहना चाहिये.

संशयपूर्वपक्ष : यहां यह आशंका होती है कि इस तरह भगवन्नामोंके बारेमें यथावद् जान कर भक्तिभावसे ग्रहण करनेका आग्रह क्या अनावश्यक नहीं? क्योंकि इन भगवन्नामके अर्थ तो स्वतः नामोंके कारण ही अवगत हो जायेंगे फिर ज्ञान-भक्तिकी आवश्यकता नामोंके ग्रहणमें स्वीकारनी नहीं चाहिये.

सिद्धान्त : भगवान्‌को भक्तिभावके बिना भलीभांति जाना नहीं जा सकता. अतः सामान्यतया पापनिवारक भगवन्नाम भी भक्तिभावके साथ लिये जायें तभी भगवज्ज्ञान या भगवत्प्रसाद प्राप्त करने फलप्रद उपाय बन पाते हैं. अतः सर्वप्रथम तो भगवन्नामके माहात्म्यको भलीभांति जान कर, बादमें उनके द्वारा भगवन्माहात्म्यको जान लेनेपर हृदयमें प्रकट होते भगवत्स्नेहके भक्तितया प्रकट होनेपर ही भगवन्नाम भक्तोंके भगवद्भावभरित मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले बनते हैं. यह भगवन्नामद्वारा मिलते फल और उसके वास्तविक अधिकारी का रहस्य श्रीभागवतसुबोधिनी विद्वन्मण्डन तथा तत्त्वार्थदीप निबन्धके भलीभांति अवगाहन करनेपर समझा जा सकता है.

२२. 'जय-श्रीकृष्णो'च्चारणवाद :

विषय : महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके मार्गमें शरणागत हो कर अपने भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक एवं मुद्रा धारण करनेवाले, कण्ठमें तुलसीकाष्ठमाला धारण करनेवालेको अपने मुखमें 'जय-श्रीकृष्ण !' वचन सभी निजमार्गानुगामीके प्रति पराभिवादनतया सदा बोलना चाहिये. क्योंकि अपने सम्प्रदायमें तो अभिवादनका सर्वसामान्य प्रकार यही है.

संशयपूर्वपक्ष : वैष्णवोंके अन्य भी सम्प्रदाय हैं और उनमें ऐसा

आग्रह देखा नहीं जाता. इस कारणसे तथा वर्णाश्रमाचारके अनुसार भी, सभी वर्णोके और सभी आश्रमोंके बीच, समान व्यवहारकी रूढि न होनेके कारण भी, यह प्रथा न केवल व्यर्थ अपितु अनुचित भी लगती है.

सिद्धान्त : यह तो भगवद्भक्तोंके परस्पर व्यवहारका नियम है और भागवतादि पुराणोंके आधारपर सिद्ध भी होता है. अतः अपने भगवद्भक्त होनेके मनोभावकी तुलनामें देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमाभिमान जिनमें प्रबल हो उन्हें 'जय-श्रीकृष्ण!' अभिवादनके द्वारा खेद नहीं पहुंचाना चाहिये. फिरभी भगवद्भक्तोंके बीच तो अभिवादनकी यही रीति उचित होती है. क्योंकि परस्पर श्रीकृष्णके जयकी शुभकामनासे बढ़ कर और अधिक संमान पारस्परिक हो ही क्या सकता है? फिरभी अपनी इस रूढिपर जिन्हें क्रोध आता हो उन्हें तो नमस्कार भी न करना ही उचित है.

२३.स्ववृत्तिवाद :

विषय : अपने-अपने घरमें स्वयंकी जो भी आजीविका हो और उसके द्वारा जो द्रव्य उपार्जित होता हो उससे पुष्टिमार्गीय भक्तको श्रीकृष्णके स्वरूपकी तनुवित्तजा सेवा सदा करनी चाहिये. अतएव जो इस सम्प्रदायमें गुरुपदपर आसीन हों उन्हें अपने शिष्योंद्वारा धरी जाती निज आजीविकारूप गुरुभेटद्वारा ही भगवत्सेवा करनी चाहिये. क्योंकि सिद्धान्ताभिमत यही उनकी आजीविका स्वीकारी गयी है. अन्य नही.

संशयपूर्वपक्ष : यह नियम कितना उचित है, यह विचारणीय हो जाता है. क्योंकि शिष्योंद्वारा धरी जाती गुरुभेटमें, दानके लिये आवश्यक मानी गयी, संकल्प आदिकी विधिका पालन किया नहीं जाता. अतः इस तरह परद्रव्य स्वीकारनेमें बीज या प्रमाण मिलना कठिन लगता होनेसे भेट धरनेवालेकी कृति निष्फल लगती है और

स्वीकारनेवालेकी कृति धर्मानुमोदित नहीं लगती.

सिद्धान्त : शास्त्रोंमें प्रतिपादित अनेक प्रकारकी आजीविकाओंके अन्तर्गत ब्राह्मणवर्णके लिये गुरुत्वकी वृत्ति भी श्रुति स्मृति और सदाचार के आधारपर मान्य है ही. इस गुरुत्वकी वृत्तिमें भी यदि अयाचित द्रव्य मिलता हो तो वह निर्दोष 'अमृता' वृत्ति कही जाती है. अतः अपने मार्गमें सदुपदेश करनेवाले गुरुपदासीन व्यक्तिको अपने मार्गके अनुगामिओंद्वारा बिना मांगे गुरुबुद्ध्या जो चरणभेंट मिलती हो या ऐसे संचित हुयी हो उससे अपना निर्वाह चलाना ही उचित रीति है (अर्थापत्त्या अपने आराधनीय भगवद्विग्रह या भगवत्सेवाकथा के नामपर देवलकवृत्ति तो सर्वथा वर्जित ही सिद्ध होती है).

२४.<u>वस्त्रादिसेवावाद</u> :

विषय : अपने पुष्टिभक्तिमार्गमें फलरूप तो भगवान्को ही माना जाता है. अपने प्रसादरूप वस्त्रादि अनेक वस्तुओंकी आराधनाद्वारा भी वे भगवान् अपनी भक्तिप्राप्यता कृपा या प्रसन्नता का अनुभाव प्रकट कर सकते हैं.

संशयपूर्वपक्ष : भगवत्पूजनांगतया भगवान्को समर्पित हो जानेपर भगवद्विग्रहपरसे उत्तीर्ण वस्त्रों आदिके पूजन आदिकी रीति या विधि शास्त्रोंमें कहीं दिखलायी नहीं देती है. प्रत्युत भगवत्प्रसादरूप भगवत्पूजोपयुक्त पदार्थोंका उपभोग तो भगवत्सेवक या भगवद्भक्तों के हेतु भृत्यभाववश अंगीकरणीय माना गया है. अतः वस्त्रसेवाकी बात बेतुकी लगती है.

सिद्धान्त : भगवदुपचारोंके भगवद्विग्रहार्थ पूजनान्तर्गत भगवदुपभोग हो जानेपर भगवद्भृत्योंके लिये जैसे वे उपभोगार्ह होते हैं, वैसे ही किसी विशेष भगवद्भक्तको उन भगवदुपभुक्त वस्त्रादिकी आराधना करनी

हो तो, उसमें भी कोई दोषावह बात मानी नहीं गयी है. अतः इस तरह भगदुपभुक्त वस्त्र आदिकी सेवा करनेवालेको भक्तिमार्गीय मुख्यफलकी अनुभूतिमें किसी तरहका अन्तराय नहीं माना जा सकता है.

२५.प्रथमपरिशिष्ट मूर्तिपूजनवाद :

विषय : पाषाण-धातु-काष्ठादि मूर्तिओंके रूपमें सर्वोपादानतया सर्वनामरूपकर्मधारक ऐसे सर्वात्मक परब्रह्म परमात्मा भगवान्‌का पूजन-आराधन क्या उत्तम होता है या सर्वसम अथवा अधम? यही यहां जिज्ञास्य अथवा मीमांस्य है.

संशयपूर्वपक्ष : पुराणोंमें अनेक स्थलोंपर इसे अधमकक्षाके अधिकारीके लिये उचित माना गया होनेसे भगवदाराधनार्थ किसी पदार्थविशेषका अवलम्बन योग्य नहीं लगता.

सिद्धान्त : भगवान्‌के उल्लिखित माहात्म्यको भलीभांति जाननेवाला ज्ञानी भक्त जब किसी मूर्तिविशेषका अपनी भक्तिमयी आराधनाके हेतु वरण करता है, तब उसे अज्ञानीके बारेमें कहे गये दोषोंका अपराधी माना नहीं जा सकता. अतः भूर्तिपूजन सर्वथा दोषरहित ही होता है, यदि शास्त्रोक्त भगवन्माहात्म्यज्ञानके साथ भक्तिभावपूर्वक कोई भगवदाराधन करना चाहता हो तो.

२६.द्वितीयपरिशिष्ट भागवतपाठनाधिकारवाद :

विषय : श्रीमद्‌भागवत पुराण, भगवान्‌के दिव्य अवतारों और स्वयं अवतारी रूपोंकी दिव्य लीलाके श्रवण कीर्तन स्मरण के प्रयोजनवश प्रकट हुवा भक्तिशास्त्र होनेके साथ-साथ, ब्रह्मसूत्रोंका निष्कृष्ट अभिप्राय तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीताका सार होनेसे इसे ब्रह्मविद्यारूप भी माना गया है. अतः अनुपनीत व्यक्तिओंद्वारा उपदेशार्थ इसका उपयोगमें शास्त्राज्ञाका

उल्लंघन होता होनेसे अनुपनीतोंको ब्रह्मविद्योपदेशरहित अंशके ही पठन कीर्तन स्मरण करनेका अधिकार माना गया है. पाठन-प्रवचनका अधिकार शास्त्रमान्य नहीं है.

मूलमें यह स्वतन्त्र वादग्रन्थ न हो कर ब्रह्मसूत्रोंके सम्बद्ध अधिकरणके अणुभाष्यकी प्रकाश व्याख्याका मूलग्रन्थके प्रतीकोंसे रहित अंश है, जिसे स्वतन्त्र पृथक् ग्रन्थकलेवरमें स्वयं ग्रन्थकर्ताने प्रकट किया कि किसी परवर्ती विद्वान्ने यह सुस्पष्ट नहीं होता. फिरभी ग्रन्थकर्ताके नामके साथ उपलब्ध होती मातृकामें 'अणुभाष्यप्रकाश' व्याख्याके अंशतया इसका उल्लेख न किया गया होनेके कारण यहां परिशिष्टतया योजन करना उचित लगता है.

इस तरह संक्षेपमें श्रीपुरुषोत्तमचरणकृत वादोंका भावानुवाद देख लेनेके बाद अब यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि इनमें एकाद अपवादको छोड़ कर प्रायः सभी वाद थोड़े-बहुत पाठभेदोंके हेरफेरके साथ; और कुछ तो स्वयं ग्रन्थकारके निजहस्ताक्षरोंमें लिखित भी, उपलब्ध हुवे होनेसे वादोंकी क्रमसंख्या तथा निश्चित पाठके निर्धारणमें हमारा अतीव उपकार हुवा है. जैसा हम जानते ही हैं कि ग्रन्थकार लेखनके बाद भी अपने लेखनपर निरन्तर चर्चा-मनन करते रहते थे, अतएव कई सारे संशोधन-परिवर्धन स्वयं करते ही रहते थे. इसे यहां इदंप्रथमतया प्रकाशित हो रहे *जीवव्यापकत्वखण्डनवाद* की निजहस्ताक्षरालेखित मातृकामें स्वयं ग्रन्थकारद्वारा योजित ''**चतुर्दशमपत्रानंकपुटीयषष्ठपंक्तौ शोधपत्रद्वयम्**'' इस पार्श्वटिप्पणीद्वारा भी प्रमाणित होता देखा जा सकता है. अतएव ग्रन्थकार बहुधा निजलेखनकी कुछ प्रतिलिपि विद्वज्जनसमुदाय तथा अध्येतृशिष्यसमुदाय के बीच वितरित करते थे. बादमें उपस्थापित किसी भी शंकाका स्पष्टीकरण उल्लेखनीय प्रतीत होनेपर अपनी प्रतिमें उसे पार्श्वटिप्पणीके रूपमें संशोधित या परिवर्धित करते रहते थे. इसके कारण निजहस्ताक्षरालेखित प्रतियोंमें भी प्रायः

कई बार पाठभेद प्रकट हो जाना एक स्वाभाविक परिणति थी. बहुधा इन स्वोपज्ञ पार्श्वटिप्पणियोंके अलावा पाठकोपज्ञ टिप्पणियां तदुत्तरवर्ती अनुलिपिकारद्वारा मूलग्रन्थमें मूलकारकृत टिप्पणीकी भावनाके वश योजित की हुयी देखी जा सकती हैं. इन्हें छांटना वास्तविक पाठनिर्धारणमें एक बड़ी कठिनाई खड़ी करता है. फिरभी इन दुविधाओंका निजमतिबलकी सीमामें, जितना समाधान सम्भव था उतना, सावधानीके साथ करनेका प्रयास किया है.

इसके अलावा इन वादोंमें स्वयं ग्रन्थकारने वादोंके उपक्रममें प्रतिपाद्यविषयनिर्देशात्मक मंगलाचरण, उसमें उभरते पूर्वोत्तरपक्ष तथा ग्रन्थान्तमें विषयोपसंहार को कारिकाओंमें निबद्ध करना चाहा था. इस विषयमें, परन्तु, किसी कारणवश एकरूपताका निर्वाह हो नहीं पाया. अतः ग्रन्थसम्पादनके समय उनमें एकरूपतामें लानेके प्रयासके प्रयोजनवश यथापेक्षा नूतन कारिकायें योजित की गयी हैं. मूलकारप्रणीत कारिकाओंसे, किन्तु, पृथक् दरसानेके हेतु कोष्ठकमें इनका संयोजन किया गया है.

जहां तक सम्पादनविधिका प्रश्न है तो प्रस्थानरत्नाकरग्रन्थसे जिस सम्पादरीतिको अपनाया गया, उसे यहां भी भरसक निभानेका प्रयास किया ही गया है. अनुच्छेदविभाजन प्रतिपाद्यविषयकी स्वारसिक एकवाक्यताके आधारपर शीर्षकोपन्यासके साथ किया गया है. ये शीर्षक कुछ सीमातक किसी भी व्याख्याके आद्योपान्त्य अंग अवतरणिका तथा निष्कर्ष की जिज्ञासाकी पूर्ति कर पायें इसकी सावधानी बरती गयी है.

शंका-समाधानोंको सुस्पष्ट अन्वयके द्योतनार्थ "नच * ... * इति वाच्यं, यस्मात्" अथवा "* ननु... * इति चेत् न, यस्मात्" ऐसे आकारमें दरसाया गया है.

प्रमाणवचनोंके उद्धरणोंमें, जिनके आकरस्थलमें मिले उन्हें तो,

उदाहरणतया "**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**" (छान्दो.उप.३।१४।१) इस तरह अन्यथा रिक्तकोष्ठक (. । ।) के न्यासद्वारा दरसाया गया है.

एक तो *जीवव्यापकत्वखण्डनवाद* तथा दूसरा *वस्त्रसेवावाद* और तीसरे *भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवाद* के अपवादोंको छोड़ कर, इस खण्डमें प्रकाश्यमान अवशिष्ट सभी वाद हमारे पितामह गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके आस्थानपण्डित तथा पितृचरणके विद्यागुरु देवर्षि श्रीरमानाथ शास्त्रीद्वारा सम्पादित 'वादावली' नामक ग्रन्थमें संकलित थे. ये सभी प्रकाशित वाद सन् पचासके उत्तरार्ध तथा साठके आरम्भमें पितृचरणने पांक्तालापनविधिद्वारा मुझे पढ़ाये भी थे. तभीसे इन्हें भलीभांति सम्पादित करनेका मनोरथ प्रबल था सो अब पूर्ण होने जा रहा है! मूलमें ये वाद ग्रन्थकारद्वारा 'अवतारवादावली'के अन्तर्गत प्रणीत हैं. यहां 'अवतार' विशेषण २४ संख्याका वाचक है. इन चौबीस वादोंमेसे प्रारम्भके दो *प्रहस्तवाद* और *पण्डितकरभिन्दिपालवाद* पर तो ग्रन्थकारने निजशिष्य तथा प्रस्तुत सम्पादकके पूर्वज गोस्वामी श्रीविठ्ठलरायजीकी अध्ययनशीलता और जिज्ञासुता पर प्रसन्न हो कर स्वोपज्ञ व्याख्या भी लिखी थी. अवशिष्ट सभी २२ वादोंको भी इसी तरह व्याख्यासे मण्डित करनेकी अपनी तीव्र अभिलाषाके बावजूद सामर्थ्य और समय की अल्पताके वश व्याख्या लिखी नहीं जा सकी. फिरभी द्वितीय खण्डकी तरह इस तृतीय खण्डमें भी केवल ४ वादोंपर ही अपने सीमित बुद्धिसामर्थ्यके अनुरूप व्याख्यालेखन शक्य हो पाया. जहां तक *वस्त्रसेवावाद* का प्रश्न है तो उसका एक ही पत्र सो भी जीर्ण एवं त्रुटित ही मिला. वैसे उसके अवलोकन करनेपर यह वाद इससे अधिक लिखा गया हो ऐसी प्रतीति भी होती तो नहीं है. उसे, फिरभी यथामति, पूर्ण करनेका प्रयास किया है. इन व्याख्याओंके औचित्यानौचित्यका विमर्श तो विद्वज्जनोंके निर्णयपर छोड़ देना ही उचित होगा. इनमें अधिकांश वाद सन् ८५ में हरिद्वार तथा हृषीकेश

में तीर्थवासकी एक मासकी अवधिमें मैंने सम्पादित किये थे. अन्यान्य कारणोंके वश, परन्तु, उसके मुद्रण-प्रकाशनमें व्यवधान आते ही रहे.

अब प्रकाशित होने जा रहे इन सभी वादग्रन्थोंको कम्प्युटरमें फीड करनेका श्रेय सुश्री अल्पा मांडवियाको जाता है. हालमें श्रीमती मनीषा-श्रीपरेश शाह, श्रीमती पद्मिनी-श्रीधर्मेन्द्र झाला, श्रीमती निकिता-श्रीजगदीश शेठ, श्रीहर्षदभाई तथा श्रीहंसमुखभाई शेठ आदिने पाठभेदनिर्धारणकी लम्बी बैठकोंमें सहपठनका उत्साह दिखा कर इन्हें शीघ्र ही मुद्रण-प्रकाशनोचित बना दिया. अतः इन सभीपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण तथा ग्रन्थकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी कृपा इसी तरह बरसती रहे और स्वमार्गीय नामसेवा इनसे सम्पन्न होती रहे ऐसी शुभकामना! इस ग्रन्थके अन्तमें प्रकाश्यमान उद्धरणके आकरस्थलों और यहां पर उनके पृष्ठोंकी अनुक्रमणिका चिरंजीवी गोस्वामी श्रीशरद्ने तैयार की है. प्रस्तुत ग्रन्थके आवरणपृष्ठतया प्रदत्त चित्रकी निर्मिति सुश्री ख्याति मेहताकी है. अन्य सभी प्रकाशनोंकी तरह इस ग्रन्थका भी मुद्रण-प्रकाशनोपयोगी सारा उत्तरदायित्व श्रीमनीष बाराईने वहन किया है. इस प्रकाशनके सुअवरपर प्रकाशनसंस्था श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेश प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्टके सहयोगी न्यासी जनों श्रीहंसराज गो. वेद आदि सभीको अभिनन्दित करनेके मनोभावोंके संगोपनार्थ अपनेको असमर्थ पाता हुं. क्योंकि न्यासकी सुव्यवस्थावश ही ऐसी अमूल्य ग्रन्थराशिओंका प्रकाशन सुकर सहज हो पाता है.

अन्तमें परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय उपकार उन लोगोंका है कि जिन महानुभावोंने और संस्थाओंने अपने हस्तलिखित ग्रन्थागारोंसे इतनी सारी हस्तलिखित ग्रन्थमातृकायें हृदयके अतीव औदार्यद्वारा हमें प्रदान की. इनके उपकारको भूल पाना कथमपि शक्य ही नहीं!

गोस्वामी श्याम मनोहर

अधिकज्येष्ठकृष्णा तृतीया
वि.सं.२०६३. मुंबई.

पाठसंशोधनार्थं संगृहीतमातृकाविवरणम्

क्रमो	ग्रन्थनाम	संशोधनार्थं प्राप्तानाम् आदर्शानां तालिका

१०. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः **क**=मुम्बानगरीस्थबृहन्मदिरास्थानपण्डितैः भट्ट-देवर्षिभिः श्रीरमानाथशास्त्रिभिः सम्पाद्य ततः प्रकाशिता वि.सं.१९७६= ई.स.१९२० वर्षे. **ख**=गट्टुलालोपनामक-श्रीगोवर्धनभट्टानां ग्रन्थसंग्रहीया मातृका **ग**=लन्डनस्था इन्डिया ऑफिस् लायब्रेरी एंड रिकॉर्ड्स्(एस्.एन्.एम्.एस् २४९७) **घ**=अधुना मुं.वि.वि.ग्रन्थागारे गुजराती ऑफिस् लायब्रेरी इच्छाराम देसाईसंग्रहीया(४९८४) **ङ**=पोरबन्दरस्था गो.श्रीशीलुबावासंग्रहीया.

११. जीवव्यापकत्वखण्डनवादः (इदंप्रथमतया प्रकाश्यमानः) **ख**= पंचमपीठस्थग्रन्थागारीया गृन्थकृन्निजहस्ताक्षरे लिखिता **ग**=लन्डनस्था इन्डिया ऑफिस् लायब्रेरी एंड रिकॉर्ड्स्(एस्.एन्.एम्.एस् २४९७) **घ**=गट्टुलालोपनामक-श्रीगोवर्धनभट्टानां ग्रन्थसंग्रहीया मातृका **ङ**= जुनागढस्था गो.श्रीकिशोरचन्द्र-महाराजसंग्रहस्था.

१२. जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः **क**=यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख**=वि.सं.१८९० वर्षे ज्येष्ठवदि ३ सोमवासरे लिखितोल्लेखका **ग**=गट्टुलालोपनामकश्रीगोवर्धनभट्टग्रन्थागारीया.

१३. भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः **क-१**=शुक्लोपाह्वश्रीहरिशंक-रशास्त्रिसम्पादिता जेठानन्द आसनमल पुस्तकालयात् वि.सं.१९९९ वर्षे प्रकाशिता **क-२**=प्रकाशकादिविवरणरहिता प्राचीना मुद्रिता **ख**=कोटास्था प्रथमपीठग्रन्थागारीया **ग**=अविज्ञातस्वामिका **घ**= मुं.वि.वि.इच्छरामदेसाईसंग्रहीया (५१४१) **ङ**=कृष्णगढस्था मदीयग्र-

न्थागारीया **च**=जुनागढस्था गो.श्रीकि.म.ग्रन्थागारीया.

१४. उपदेशादिविषयकशङ्कानिरासवादः **क**=यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख**=अविज्ञातस्वामिका **ग**=गट्टुलालोपनामकश्रीगोवर्धनभट्टग्रन्थागारीया **घ**=पुणेस्था भाण्डारकर ओरि.रिस.इंस्टी.ग्रन्थागारीया (३१९/१८९.-९५) **ङ**=मुं.वि.वि.ग्रन्था.(५१३४) श्रीइच्छा.देसा.संग्रहीया **च**= राजस्थान प्राच्यविद्या हस्तलिखितसंग्रहालयस्था (३०१३९-रा.प्रा.वि.प्र.).

१५. भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः **क**=यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख**= मुं.वि.वि.ग्रन्था.(५१००) श्रीइच्छां.देसा.संग्र.''वाराणसीस्थसागरस्थोपाह्वरामकृष्णभट्टस्य'' इति उल्लेखवती **ग**=पोरबंदरस्था गो.श्रीशीलु.-संग्रहीया ''लेखक-कंडोलिया ब्राह्मण हंसराजमुलजी अमरेलीवारे लि.मुंबइमे वि.सं.१९२०पौ.कृ.७'' इति उल्लेखवती **घ**=जुना.गो.श्रीकिशो.म.ग्रन्था. **ङ**=कोटास्था प्रथ.पी.ग्रन्थागारीया.

१६. ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः **क**=यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख**=कोटास्था प्रथ.पी.ग्रन्था. **ग**=अविज्ञातस्वामिका **घ**=अविज्ञातस्वामिका **ङ**=अविज्ञातस्वामिका **च**=जुना.गो.श्रीकिशो.ग्रन्था. **छ**=मुं.वि.वि.ग्रन्था.श्रीइच्छा.देसा.संग्रहीया **ज**=अविज्ञातस्वामिका.

१७. तुलसीमालाधारणवादः **क**=यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख**= अविज्ञातस्वामिका **ग**=अविज्ञातस्वामिका **घ**=राजस्थान प्राच्यविद्या हस्तलिखितसंग्रहालयस्था (३०१४५-रा.प्रा.वि.प्र.) **ङ**=कोटास्था प्रथ.पी.ग्रन्थागारीया. **च**=अविज्ञातस्वामिका **छ**=कृष्णगढ स्था मदीयग्रन्थागारीया **ज**=ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखिता **झ**=''आत्रेयगोपीनाथात्मजदेवकीनन्दनस्य'' इति उल्लेखवती जुना.गो.श्रीकिशो.-म.ग्रन्थागारीया.

१८. **शङ्खचक्रधारणवादः क=**यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख=**मुं.वि.वि. ग्रन्था. श्रीइच्छा.देसा.संग्रहीया (४९१५) **ग=**अविज्ञातस्वामिका **घ=**अमदावादस्था भो.जे.ग्रन्थागारीया ङ= **च=**राजस्थान प्राच्यविद्या हस्तलिखितसंग्रहालयस्था (३०१४५-रा.प्रा.वि.प्र.) छ=अविज्ञात-स्वामिका. **ज=**जुना.गो.श्रीकिशो.म.संग्रहीया "आत्रेयगोपीनाथात्मज-देवकीनन्दनस्य' इति उल्लेखवती.

१९. भक्तिरसत्ववादः **क=**यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख=** गट्टुलालोपनामकश्रीगोवर्धनभट्टग्रन्थागारीया **ग=**"संवत् १८५६ वर्षे मार्गशीर्षमासे शुक्लपक्षे तिथौ ९ गुरुवारे लिखितम्" इति उल्लेखवती गट्टुलालोपनामकश्रीगोवर्धनभट्टग्रन्थागारीया. **घ=**जुना.गो. श्रीकिशो.-म.संग्रहीया.

२०. भक्त्युत्कर्षवादः **क=**यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख=** ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखिता पोरबंदरस्था गो.श्रीशीलु.संग्रहीया **ग=**अमदावादस्था भो.जे.ग्रन्थागारीया (५७९२). **घ=**"संवत् १८५६ मार्गशीर्ष सुदी २" इति उल्लेखवती जुना.गो.श्रीकिशो.म.संग्रहीया.

२१. नामफलादिप्रकारवादः **क=**यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख=**गट्टु-लालोपनामकश्रीगोवर्धनभट्टग्रन्थागारीया **ग=**गट्टुलालोपनामकश्रीगोव-र्धनभट्टग्रन्थागारीया **घ=**कोटास्था प्रथ.पी.ग्रन्थागारीया. ङ=अवि-ज्ञातस्वामिका **च=**जुना.गो.श्रीकिशो.म.संग्रहीया.

२२. 'जय-श्रीकृष्णो'च्चारणवादः **क=**कस्याञ्चित् साम्प्रदायिकपत्रिकायां प्रकाशितस्य प्रतिचित्रम् **ख=**अविज्ञातमूला मातृका **ग=** पंचमपीठग्रन्थागारीया **घ=**जुना.गो.श्रीकिशो.म.संग्रहीया.

२३. स्ववृत्तिवादः **क=**'पुष्टिभक्तिसुधा' मासिकपत्रिकायां ३ वर्षे ९ अंके

मुद्रिता **ख**=पंचमपीठग्रन्थागारीया **ग**=कोटास्था प्रथ.पी.ग्रन्थागारीया **घ**=मांडवीग्रन्थागारीया **ङ**=''आत्रेयगोपीनाथात्मजदेवकीनन्दनस्य, अंकेला... चन्दिरमितेब्दके विक्रमस्य शुक्राख्ये मासे कृष्णेऽनंगतिथौ विद्यारत्नशर्मणा लिखितं जयनगरे श्रीगोकुलशीतकिरणमन्दिरे सतां सुखदे श्रीगोविन्दसमीपे'' इति उल्लेखवती जुना.गो.श्रीकिशो.म.संग्रहीया **च**=जुना.गो.श्रीकिशो.म. संग्रहीया **छ**=मुं.वि.वि.ग्रन्था. श्रीइच्छा.देसा.संग्रहीया (५१२७).

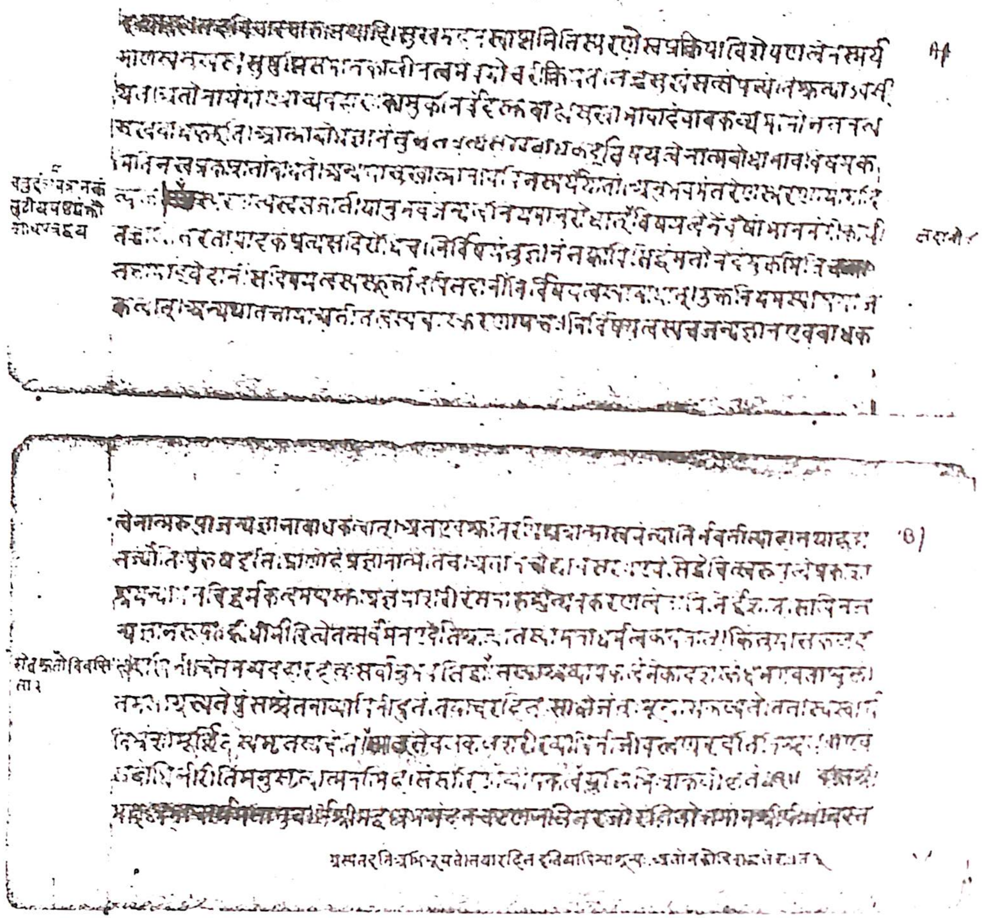
२४. वस्त्रादिसेवावादः **क**=नाथद्वारास्थद्वितीयपीठग्रन्थागारीया.

२५. मूर्तिपूजनवादः **क**=यथापूर्वं श्रीरमा.शा.सम्पादिता **ख**=''संवत् १७६३ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ चन्द्रे लिखितं पुस्तकं'' इति उल्लेखवती ग्रन्थकृत्कालिका **ग**=मुं.वि.वि.ग्रन्था. श्रीइच्छा.देसा.संग्रहीया (४९-०८).

२६. भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः **क**=कोटास्था प्रथ.पी.ग्रन्थागारीया.

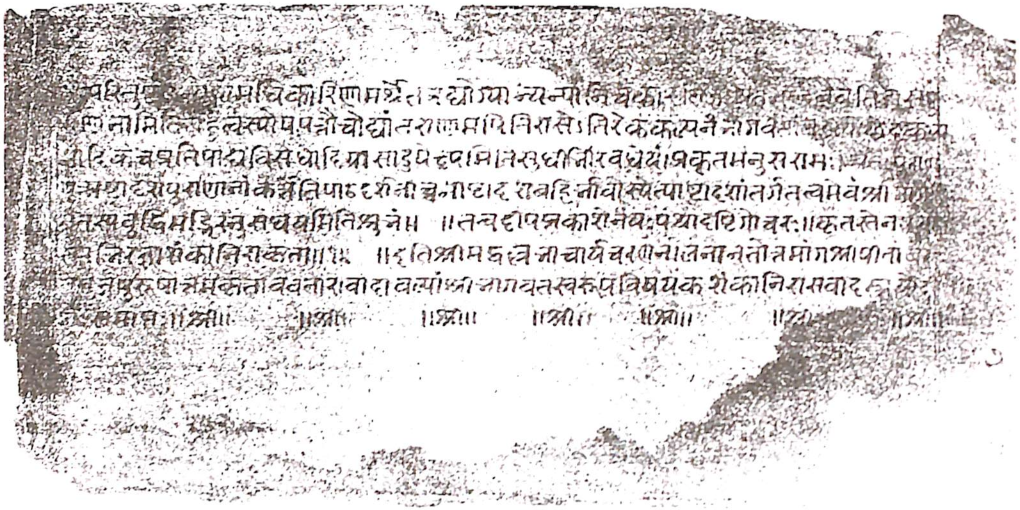
विषयानुक्रमणिका

ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितस्य



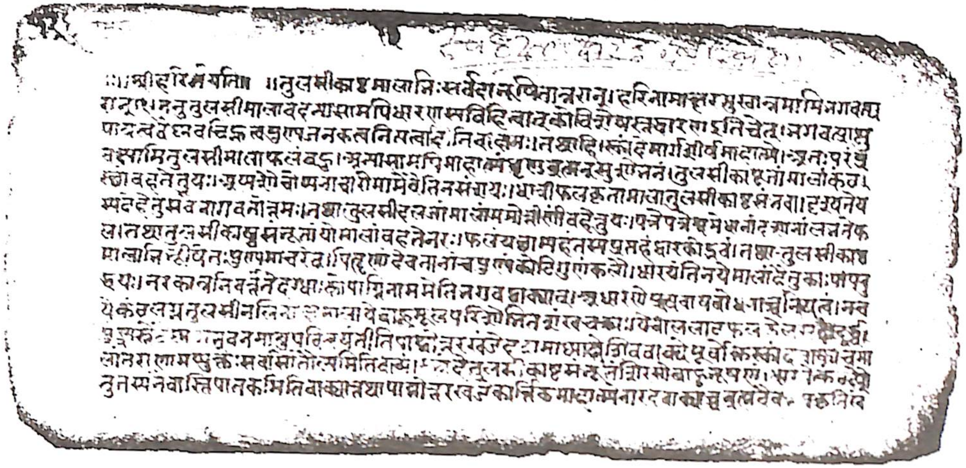
जीवव्यापकत्वखण्डनवादस्य पुटद्वयम्

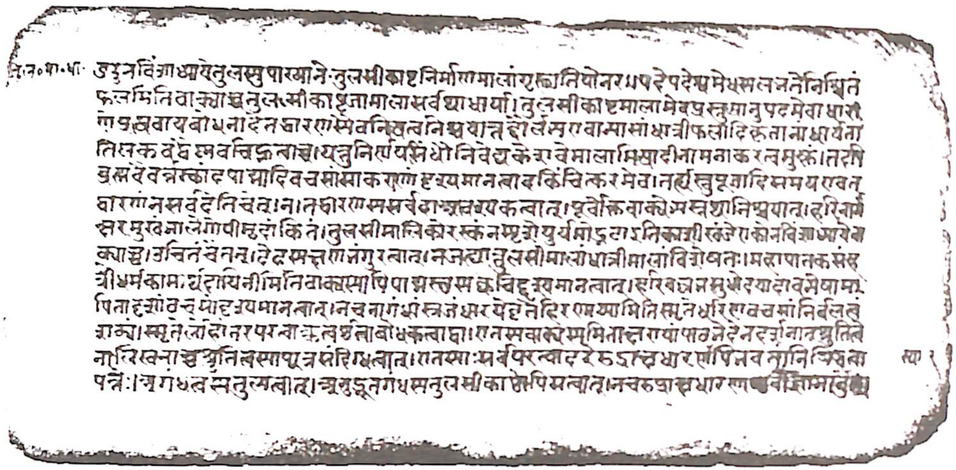
ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितस्य



भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादस्य अन्तिमं पुटम्

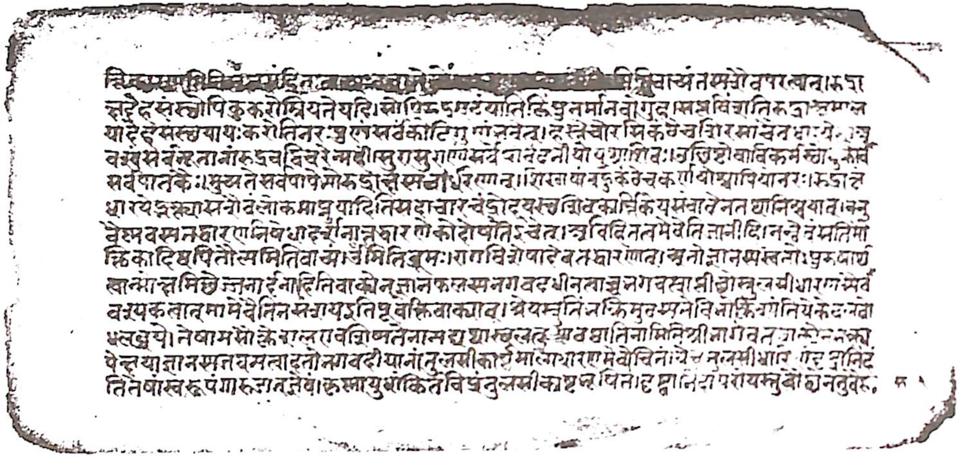
ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितस्य

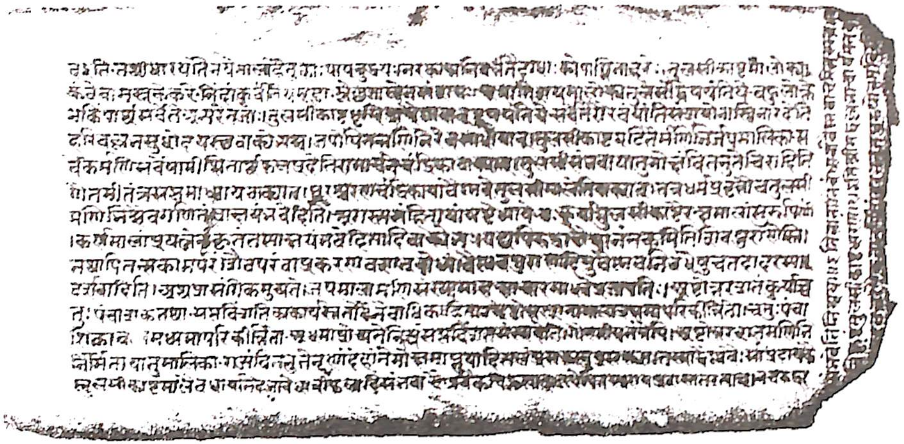




तुलसीमालाधारणवादः

ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितस्य





तुलसीमालाधारणवादः

भक्त्युत्कर्षवा॰ ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितस्य

१

मुक्तैरप्यभिलषिता भक्तिर्ज्ञायिताऽनुग्रहा-
त्माप्या। आनंदधर्मभूतां रसरूपां नौमि हरिभक्तिं. ननु सर्वमिदमसंगतमि-
व प्रतिभाति। तथाहि। यदा सर्वं प्रलीयते कामायेऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो
भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति यावत्कामप्रलये मृतत्वश्रावणेन मुक्तानां तदभि-
लषितत्वासंभवात्। सत्यभिलाषे मुक्तत्वस्यैवासंभवात्। किंचानुग्रहो नाम प्रसादो वा
दया वा। तत्राद्यः तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशमिति
भोक्ता मिछेज्जनार्दनादिति श्रुतिस्मृतिभ्यां दर्शनमुक्त्योरेव प्रसादलभ्यत्वक-
थनेन प्रसादातिशयस्य तत्रैव पर्यवसानात्। दयापक्षेऽपि तस्या निरुपधिपर-
दुःखप्रहाणेच्छारूपत्वात् यावद्दुःखनिवृत्तेः तत्रैव संभवेन तत्रैव पर्यवसानौचि-
त्याच्च। किंच। भक्तिर्हि स्नेहरूपत्वेन भगवतामभिमता। तस्य च मनोधर्मत्वमेव
भावरूपत्वात्सिद्धमिति दूरनिरस्तमानंदधर्मत्वं। किंचात्रानंदपदेन सुखं वा
विवक्षितं ब्रह्म वा। उभयथाऽपि स्थायिभावात्मकतायाः भावात् रसरूपत्वहानि।
किंच ब्रह्मधर्मत्वे नित्यत्वमवश्यं वाच्यं तदपि न युज्यते। तत्कादाचित्कत्वस्य प्र- १

त्यक्षसिद्धत्वात्। पुनश्च भगवत्यनंतेऽरतिः असंगश्च तदाश्रये स्थितिप्रार्थना वा
क्वाऽपि श्रुतिपुराणादिषु ब्रह्मधर्मत्वेनानुक्तत्वाच्च। अतः कारिकोक्तं सर्वमेवासंग-
तमिवाभाति। अत्र विधीयते। निरुपाधिप्रेमत्वस्य निर्लीनब्रह्मधर्मता वाक्यान्वयाधि-
करणेन श्रीभागवते स्थितं। तथाहि। मैत्रेयी ब्राह्मणे येनाहं नामृता स्यां किम-
हं तेन कुर्यामित्यादिनोपक्रमे। न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो
निदिध्यासितव्य इत्यात्मदर्शनं तत्साधनं चोपदेष्टुं न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रि-
यो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवतीत्यादिनाऽऽत्मनि निरुपाधिप्रीतिविषय-
ताभ्यासेन तत्र परिचायितं उपसंहारे चैतावदरे खल्वमृतत्वमित्यमृतत्वविषय-
कज्ञानस्यैवामृतत्वमुच्यते। तत्र स्वप्रतीत्यापत्यादि सर्वापेक्षया प्रियत्वलिंगक-
त्वात्मैव भवतीत्युपक्रमोपसंहाराभ्यासैरिदं वाक्यं जीवबोधकं यत्पुनरत्रात्मज्ञाना-
दीनां सर्ववेदनरूपफलसिद्ध्यर्थमात्मनः सर्वरूपत्वं आम्नातं यथा समुद्रादिदृष्टा-
न्तैः सर्वाधारत्वं यास्यत्यनेनास्य ब्रह्मतानात्सर्वं तस्यात्कर्षार्थं जीवात्मस्यापि
गमुक्तौ सहकारित्वात्। अतो जीव एवात्राभिधीयत इति पूर्वपक्षे तन्निरासाय

वाक्यान्वयादिति हेनर्व्यासपादैर्ब्रह्ममीमांसायामुक्तः। तत्रायमर्थः। अत्रोपक्रमे
अमृतत्वाय आत्मदर्शनं तत्साधनानि चोपदिश्यंते· अमृतत्वं च ब्रह्मज्ञानादेवेति
निर्णीतं· तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽनाय· तमेवं विद्वान
मृत इह भवति नान्यः पंथा अयनाय विद्यत इति सावधारणया नान्यमार्गनिषे
धिकया श्रुत्या। तेनेहापि तन्मेवात्मत्वेन परामृश्य दर्शनादि वाक्यानामन्वयो वक्त
व्यः अन्यथा तद्विरोधापत्तेः। एवं चोपसंहारवाक्यमपि युज्यते· उपक्रमस्थासंज
ते विरोधित्वात्प्रबलः। किं चैवं ज्ञानफला दिवाक्यान्युपपन्नेष्यंति तस्यैव सर्वत्वा
त्सर्वाधारत्वाच्च। अन्यथा तु प्रयोजनकासदुत्कर्षबोधनान्निर्युः प्रमाण
त्वं च जह्युः। न च प्रियत्ववाक्यानामनन्वयः शंक्यः। आनंदे आनंदजनक एव
च प्रियत्वप्रतीतेस्तदर्थमानंदस्वरूपे आनंदजनके च विचार्यमाणे आनंदो
ब्रह्मेति व्यजनात् आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते· यो वै भूमा तत्सुखं
नाल्पे सुखमस्तीत्यादि श्रुतिभिर्ब्रह्मण आनंदरूपत्वे भूतशब्दवाच्यानां सशरीर
जीवानां तत्कार्यत्वे सर्वेण वात्मानो व्युच्चरंतीति श्रुत्या केवलानामंशत्वे च सिद्धे य २

जीवस्य परमप्रियत्वं तद्ब्रह्मगतमेव ब्रह्मणो अविषयत्वे तदंशत्वात्संबंधनैक
द्याच्च जीवेनासते· जीवस्य विषयत्वात्। तथा· एष ह्येवानंदयातीति सावधारण
श्रुत्या ब्रह्मण एवानंदजनकत्वादेतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवं
तीति श्रुत्यान्यत्रिकानंदस्यापि तदंशत्वात् तज्जनितानंदस्यापि ब्रह्मजनितत्वाद्ब्रह्मै
वानंदजनकमिति यो न्यत्र प्रियत्वाध्यासः सोऽपि तत्संबंधादेवेति प्रियत्ववाक्यानां
मपि तत्रैवान्वयः। एवं चान्यासोऽपि तस्यैवानुगुण इति सात्तात्पर्यपरया च सर्वे
षां वाक्यानां तत्रैवान्वयादिदं ब्रह्मवाक्यमिति सिद्धं इति तंव्याससचरणैः। तेन निरु
पधिप्रियत्वस्यानंदधर्मत्वं तत्र सिद्धं प्रियत्वमेव च स्नेहः। प्रमानाप्रियतां हार्दं
प्रमस्नेह इत्यभिधानात्। मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्ष इति च। स्नेह एव च भगवति भक्तिः।
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः। स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्ति
र्न चान्यथेति पंचरात्रात्· अत्र सुदृढ इति ब्रह्मधर्मत्वबोधकं सर्वतोऽधिक इति
निरुपधित्वबोधकं। तथा· सा परानुरक्तिरीश्वर इति शांडिल्यसूत्राच्च। अत्रा
पि परपदे निरुपधित्वबोधकं। नन्वेवं न केवलस्य धर्मत्वे नित्यत्वात्· पुनश्च नृपा

भक्त्युत्कर्षवादः

भक्त्युत्कर्षवा॰

३ भगवत्यनंतेरतिरित्यादिप्रार्थनावाक्यानां दानवचनत्वापोहो भजनपरत्वाधायकसं
यमैः श्रेयोभिर्विविधैस्तान्यैः कृत्स्नं भक्तिर्हि साध्यत इत्यादीनां साधनवाक्या
नां भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रफलभोगनैराश्येनास्मिन्मनसः कल्पनमिति
भक्तिलक्षणश्रुतेश्च विरोध इति चेत्। मैवं। तस्याः नित्यत्वेपि ज्ञानं परमगुह्यं मे
यद्विज्ञानसमन्वितं सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मयेत्यत्रोक्तभगवद्वच
नवत्सुकं योगैः स्वैरितरत्र चाङ्कवैरिति भगवद्दत्तैश्वर्यवत्वभगवद्विचारि
तानुपूर्व्या मनसि तत्समागमनेन तत्स्वरूपनित्यत्वस्याबाधात्। अत एव प्रा
र्थनावाक्ये पुनः पदमपि संगच्छते। विद्यमानस्यैकस्मिन् संबंधे निवृत्ते का
लांतरे तस्य संबंधांतर एव पुनः पदप्रयोगात् यथा पुनरागत इति। तेन पुनर्भ
वनप्रार्थनादिवाक्यानां कादाचित्कानुभवस्य च [illegible] न विरोधः। यथा च समान
सीन आत्मा जनानामित्यत्र मनस्याविर्भावाद्भगवान्मानसीन इति आख्यातेत
था भगवत्संबंधनैकट्यान्मनस्याविर्भवंती भक्तिरपि मनोधर्म इति व्यवह्रियते
। यथा वह्निनैकट्यतारतम्येनोष्णस्पर्शानुभवतारतम्यं तथैव भगवन्नैकट्यतार ३

तम्येन भक्त्यनुभवतारतम्यं तेन लक्षणश्रुतेरपि न विरोधः। किंच रसो वै सः इ
ति रसत्वेनाविर्भूतोपि भगवान् रसशास्त्रोक्तप्रकारद्वारा हृद्याविर्भूत एव रसतां
स्वस्मिन्ननुभावयतीति सूत्रं वालेत्यत्र स्थितं। तथा भक्तिरपि तत्प्रकारद्वा
हृदि स्थायित्वेनाविर्भवंती ततो देहत्वे निरूप्यमाणे तेन चानुभूयमाना रसरू
पतामपि धत्त इति न तद्विरोधः। एवं तदाविर्भावस्यात्यनुग्रहादेव। भगवान् भ
क्तानां मुकुंदो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगमिति पंचमस्कंधस्थशुकवाक्या
त्स भवेत्स्वं सर्वथा न ददातीति वाक्यं। हरिविरक्तेष्टवचनोनस्य सङ्क्तिवाचकः
अथापि दातव्यवचनस्तेन लब्धं विद्वद्बुधा इति वाक्ये दानस्याप्युक्तत्वात्। अतो न्य
नुग्रह एव ददातीति निश्चयः। अनुग्रहश्च न फलदित्सानवाइ छांतरं यस्यानु
ग्रहमिच्छामीति भगवद्वाक्य इच्छाविषयत्वेनोक्तत्वात्। फलदित्सादेस्तथा
त्वान्नावादिति भक्तिं हंसे स्थितं। दयादिरप्येतस्यैव पर्यायः। एवं तावदनुगृह्णी
ताः यानावोनुग्रहाद्विमित्यादिषु दयाप्रार्थनावाक्येषु तथा प्रयोगेऽलौकि
स्थयात्। अत एव सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत दीयमानं न

ग्रन्थकृन्निजहस्ताक्षरालेखितस्य

भक्त्युत्कर्षवा

४

र्ष स्यात्ति विनामसेवनं जनाः इति मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयं
नेच्छंति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत्कालविद्रुतमिति तादृश्यमुक्त्यनंगीकारोऽपि सं
गच्छते। इयं च मुक्तानामप्यभिलषितेवा आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्यु
रुक्रमे। कुर्वंत्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः। परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य
उत्तमश्लोकलीलया। गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवानित्यादिप्रथ
मद्वितीयस्कंधादिवाक्यैस्तथा निश्चयात्। न च यदा सर्वे प्रलीयंत इति श्रुति
विरोधः। इतः पूर्वं कामयमानस्य पुनरागतिमुक्त्वा अथ अकामयमान इति न
चावस्याकथनं प्रतिज्ञाय योऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो न भवति
न तस्मात्प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव समवनीयंते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्युक्त्वा तद
ग्रहोस्मिन्मंत्र उच्यते। तत्र संग्राह्यार्थे ब्राह्मणे अकामस्याप्यात्मकामत्वश्रा
वणेन तदर्थसंग्राहकेऽस्मिन्मंत्रेऽपि तदतिरिक्तानां सर्वेषां कामानामेव स
र्वपदे विवक्षिततया आत्मकामातिरिक्तकामानामेव लयस्य मुक्त्यधिकार
त्वेन विवक्षितत्वात्। भक्तेश्चात्मधर्मत्वेन तत्प्रापकत्वेन च तदभिलाषे स्यान्नो ४

कामानतिरेकात्। अतः कारिकोक्तं सर्वमविवादमिति दिक्॥ ॥श्रीमदा
चार्यकृपया श्रीपीतांबरसूनुना सुबोधिन्युक्तया रीत्या भक्त्युत्कर्षः समर्थि
तः॥२॥ ॥इति श्रीपीतांबरतनुजश्रीपुरुषोत्तमविरचितो भक्त्युत्कर्षवा
दः संपूर्णो विज्ञः॥ ॥श्रीकृष्णाय नमः॥ ॥शुभं भवतु॥ ॥श्रीरस्तु॥

भक्त्युत्कर्षवादः



ग्रन्थकर्तुः प्राचीनचित्रानुकृतिः

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

।। अवतारवादावलीकारिकासंग्रहः ।।

(आदशमात् चतुर्विंशतितमवादपर्यन्तः)

(१०.ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः)

यच्छासनानुसारेण ब्राह्मणत्वादिदेवताः ।।
देहे तिष्ठन्ति लोकस्य तं हरिं सर्वदाऽऽश्रये ।।१।।
(प्रसिद्धाः जातयस्त्वेताः देवताः न तथा मताः ।।
प्रत्यक्षधर्मास्वीकाराद् देवताकल्पना वृथा ।।२।।)
न जातिर् ब्राह्मणत्वादि व्यक्तिं सन्त्यज्य निर्गमात् ।।
अन्यागमात् च सम्बन्धस्याशक्यवचनत्वतः ।।३।।
नियतव्यञ्जकाभावाद् वाक्यानां च विरोधनात् ।।
ततः स्फुटं देवतात्वं प्रमाणानां समन्वयात् ।।४।।
पुरुषोत्तमदासेन श्रीपीताम्बरसूनुना ।।
सुबोधिन्युक्तरीत्यैवं ब्राह्मणत्वं विचारितम् ।।५।।

(११.जीवव्यापकत्वखण्डनवादः)

आत्मा नित्यश्चित्स्वरूपोऽणुरेवं
यन्मायाक्तः स्वस्वरूपं न वेत्ति ।।
सा तीर्णा स्याद् यत्प्रपत्त्यैव देवं
तं श्रीकृष्णं भक्तियुक्तः प्रपद्ये ।।१।।
(नाणुरात्मा शरीरे स्याद् अपरैर्वादिभिस्त्विह ।।
अन्यथैवाभ्युपगमाद् गमको नेह कश्चन ।।२।।
अथवा तार्किकोक्तं हि व्यापकत्वं कुतो नहि ।।

लोकप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् अणुता नैव सिद्ध्यति॥३॥)
प्रत्यात्म-भोग-नियमानुपपत्त्यादि-दूषणैः॥
ग्रस्ता व्यापकता तेषां यत्नादपि न सिध्यति॥४॥
सुष्वापस्मरणात्, श्रुत्या, चिदात्मत्वे विनिश्चते॥
नोक्तदोषाः प्रसज्यन्ते भ्रान्तैर्दत्ताअपि स्फुटम्॥५॥
एवं सुबोधिनीरीतिम् अनुसृत्यात्मनामिह॥
संसारिणां व्यापकत्वं युक्तिभिः शकलीकृतम्॥६॥

(१२.जीवप्रतिबिम्बादिरूपताखण्डनवादः)

यच्चिदंशेषु जीवेषु प्रतिबिम्वादिरूपताम्॥
वदन्ति मतभेदैस्तं श्रीकृष्णं सर्वदाऽऽश्रये॥१॥
(श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाद् जीवो नांशोऽभ्युपेयते॥
गीतोक्तन्तु तदंशत्वं प्रतिबिम्बादिरूपतः॥२॥)
युक्तिबाध्या न युक्तेयं प्रतिबिम्वादिरूपता॥
श्रुतेः सम्यग् विचारे च तस्याअपि विरोधतः॥३॥
(अंशांशिभावरूपेण ब्रह्मोपादानकत्वतः।
नभोपमे विभिन्नांशकल्पनाजल्पनं वृथा॥४॥
परिच्छेदत्रयातीतब्रह्मणोंशत्वसम्भवात्।
मुख्यया शब्दवृत्त्यातु गौणांशत्वं न रोचकम्॥५॥
श्रुतीनां ब्रह्मजीवैक्यबोधकानान्तु गौणता।
मुख्यार्थत्यागाद् रोचेत तद्गम्ये ब्रह्मणि कथम्?॥६॥)
इति श्रीवल्लभाचार्य-वाचामाशयगोचरम्॥
प्रतिबिम्बादिरूपत्वखण्डनं विशदीकृतम्॥७॥

(१३.श्रीमद्भागवतस्वरूपविषयकशङ्कानिरासवादः)

वेदवेदान्तसारं यद् व्यासखेदनिवर्तकम्॥
महापुराणमूर्धन्यं श्रीमद्भागवतं स्तुमः॥१॥
(अष्टादशपुराणानि कृत्वा चक्रे हि भारतम्॥

व्यासस्तेनाप्यसन्तुष्टो जगादेदं तदेति हि ।।२।।
व्यासनारदसंवादात् स्वयं भागवतोदिताद् ।।
तल्लक्षणाननुगमान्नेदमष्टादशे मतम् ।।३।।)
अत्रोच्यतेऽन्तर्गतं तत् पुराणेष्वस्य लक्षणम् ।।
संख्या चोक्ता तदत्रास्ति तेनेदं नातिरिच्यते ।।४।।
तत्त्वदीपप्रकाशेन यः पन्था दृष्टिगोचरः ।।
कृतस्तेन पथास्माभिः अज्ञाशंका निराकृता ।।५।।

(१४.उपदेशविषयशङ्कानिरासवादः)

यथाधिकारं शरण-भक्ति-मार्गोपदेशतः ।।
य उद्धार सर्वांस्तं वन्दे श्रीवल्लभप्रभुम् ।।१।।
(द्विजेतराणामन्यत्र प्रपत्त्याद्यधिकारिता ।।
श्रौतस्मार्ताविरुद्धत्वाद् गायत्रीसंस्कृता द्विजाः ।।२।।
सर्वे शाक्ता द्विजा जात्या न शैवा नच वैष्णवाः ।।
यस्मादुपासते नित्यं गायत्रीं वेदमातरम् ।।३।।
अनुकल्पतया तस्याः दीक्षायाः तान्त्रिकी भवेत् ।।
श्रीवैष्णवी सा यद्वा स्याद् वेदबाह्याधिकारिका ।।४।।)
शाक्तत्वं किं नु सामान्यं देहोत्पत्त्योत सङ्गतम् ।।
अथवातिशयरूपं वै विकल्पं सहते न तत् ।।५।।
म्लेच्छादिभावे तद्धानेः साङ्कर्यं ह्यन्यथा ध्रुवम् ।।
अन्त्येतु तन्निवृत्तिः स्याच्छैववैष्णवधर्मतः ।।६।।
प्रपत्तिब्रह्मसम्बन्धौ दीक्षे वैष्णवताप्रदे ।।
देहादेर् ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम किं मतम् ?।।७।।
ब्रह्माध्यासोऽत्र देहादौ तदध्यासोऽथवा परे ।।
समर्पिते गवाश्वादौ 'न ममे'ति यथा मतिः ।।८।।
तथा देहार्पणे तेऽस्ति नवेत्येतद् विमृष्यताम् ।।
नास्ति चेन्नार्पणं जातमस्तीत्युक्तिस्तु वै मृषा ।।९।।
लोकानुभवबाधेन किञ्च कर्तुं न शक्यते ।।

स्वत्वाविनाशाद् देहस्य चार्पणे जातिनाशनम्'' ॥१०॥
तदेतदतितुच्छं हि रहस्यानवबोधतः ॥
आहार्यमत्याभिप्रेतं 'तवाहं न ममे'ति हि ॥११॥
मन्त्रयोः प्रणवाभावो भक्तिमार्गानुरोधतः ॥
''जपसंख्या तथा होमद्रव्यं किमनयोः मतम् ?'' ॥१२॥
प्रश्नोऽयं हि गतस्तावद्दत्तोत्तरतयात्र हि ॥
मन्त्रयोः शिष्य-मासादि-मन्त्रैक्याद्यविचारणे ॥१३॥
स्वाच्छन्द्यापत्त्यभावाय सन्त्यत्र नियमाअपि ॥
दम्पत्योर्गुर्वैक्यादौ नैव दोषो हि कश्चन ॥१४॥
मूलाचार्यस्य माहात्म्याद् योग्यता साम्प्रदायकी ॥
मन्त्रे सर्वत्र विज्ञेया ह्युच्छेदापत्तिरन्यथा ॥१५॥
सम्प्रदायास्त्वनेका हि ह्यागमाः सन्ति वै तथा ॥
तस्माद् भक्तिप्रपत्त्योर्हि मन्त्रयोः नास्ति दूषणम् ॥१६॥)
इति श्रीवल्लभाचार्यदासदासेन निर्मितः ॥
उपदेशादिविषयो वादोऽयं प्राप पूर्णताम् ॥१७॥

(१५.भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः)

सर्वः सर्वान्तरो देवो यो गुरुः प्रतिमादिषु ॥
भक्त्या भक्तैर्विशेषेण पूज्यस्तं कृष्णमाश्रये ॥१॥
स्थानतौल्यात् स्थितेः साम्याद् अवज्ञादिषु दोषतः ॥
निन्दनाच्चान्यथाभक्तेः तुल्यं सर्वत्र पूजनम् ॥२॥
स्थानस्थित्योः समत्वेऽपि तद्धर्मादेर्विचारतः ॥
गुरौ मूर्तौ विशेषोक्तेः पूजासाम्यं न युज्यते ॥३॥
इत्येकादशसिद्धा गूढा या सर्वनिर्णये सौक्ष्म्यात् ॥
स्वाचार्यचरणकृपया रीतिर्विशिदीकृताऽस्माभिः ॥४॥

(१६ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः)

श्रीकृष्णसेवनरसैः तिरस्कृतरसान्तरान् ॥

तदेकभावनपरान् ऊर्ध्वपुण्ड्रधरान् नुमः ।।१।।
(अथर्वशीर्षोपनिषद्बृहज्जाबालवाक्यतः ।।
त्रिपुण्ड्रं भस्मना नित्यं ब्रह्मविद्याङ्गमेव हि ।।२।।
उपास्तिरीतिवैविध्यात् शैववैष्णवभेदतः ।।
पुण्ड्रयोरुभयोर्ज्ञेयं कर्तव्यत्वं नचान्यथा ।।३।।)
मतान्तराण्यपाकृत्य श्रुतिस्मृतिसयुक्तिभिः ।।
सच्छिद्रमत्र तिलकं निर्णीतं वैष्णवोचितम् ।।४।।

(१७.तुलसीमालाधारणवादः)

तुलसीकाष्ठमालाभिः सर्वदा भूषितान् नरान् ।।
हरिनामाक्षरमुखान् नमामि भगवत्परान् ।।१।।
(को विशेषो हि तुलसी-काष्ठमालाविधारणे ?
इत्येवं पूर्वपक्षेतु समाधानं विधीयते ।।२।।
भगवत्प्रापकं ह्येतद् लिङ्गं भागवतं मतम् ।।
विहितं हि पुराणादौ धारणीया ततः सदा ।।३।।)
इति नानानिबन्धानां वैष्णवाचरितस्य च ।।
दर्शनादत्र निष्कृष्टं तुलसीकाष्ठधारणम् ।।४।।

(१८.शङ्खचक्रधारणवादः)

कृष्णं भजन्ति ये प्रेम्णा तदंगत्वेन तन्मृदा ।।
शंखादिचिह्नितांस्तान्वै ब्राह्मणान् प्रणमाम्यहम् ।।१।।
शंखचक्राद्यंकनं च नृत्यगीतादिकं तथा ।।
एकजातेरयं धर्मो न जातु स्याद् द्विजन्मनः ।।२।।
नित्यत्वे सति पूजांगत्वोपवीताऽतिदेशतः ।।
केवले सेधतः शिष्टैर् धार्यं शंखादिकं मृदा।।३।।
इत्येवं भगवत्पूजाशेषं शंखादिधारणम् ।।
निबन्धोक्तपथोवाच निश्चित्य पुरुषोत्तमः ।।४।।

(१९.भक्तिरसत्ववादः)

श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणरजःपुञ्जकृपयाप्तः।
भक्तिरसस्य स्थायी स्नेहो मन्मानसे जयति।।१।।
अश्रुतत्वाद् असिद्धत्वाद् अनुभूतेरभावतः।।
अन्तर्भावाच्चातिरिक्तो रसो भक्तिर्न कुत्रचित्।।२।।
श्रुतत्वाद् लोकसिद्धत्वाद् अनुभूतेश्च भेदतः।।
तेभ्योऽतिरिक्तो मन्तव्यः साङ्गो भक्तिरसो बुधैः।।३।।
इति श्रीमल्लीलार्णव-चरण-काश्मीरज-रजोऽ-
नुरागारक्त-श्रीव्रजपति-रति-प्राप्त-निखिलः।।
पयोदः-श्रीहारि-द्युति-हरि-तडित्-तुल्य-वसना-
भिधावान् स्नेहस्य स्वभजनरसत्वं व्यरचयत्।।४।।

(२०.भक्त्युत्कर्षवादः)

मुक्तैरप्यभिलषिताम् अतिशयितानुग्रहात् प्राप्याम्।।
आनन्दधर्मभूतां रसरूपां नौमि हरिभक्तिम्।।१।।
(मुक्तौ कामक्षयादत्रानुग्रहस्यानिरुक्तितः।।
भक्तिर्मनोधर्मरूपा ब्रह्मणो नो रसो नवा।।२।।)
निरुपाधिप्रियत्वस्य निर्णीता ब्रह्मधर्मता।।
वाक्यान्वयाधिकरणेऽन्यच्छ्रीभागवते स्थितम्।।३।।
श्रीमदाचार्यकृपया श्रीपीताम्बरसुनुना।।
सुबोधिन्युक्तया रीत्या भक्त्युत्कर्षः समर्थितः।।४।।

(२१.नामफलादिप्रकारवादः)

यन्नामानि यथावज् ज्ञातान्येवार्पयन्ति मुख्यफलम्।।
नत्वन्यथा तमेव 'श्रीकृष्णं' गृणत सर्वदा भक्त्या।।१।।
भगवन्नाम्न्यतिशयो ज्ञानभक्तिकृतः कथम्?।।
स्वार्थोपस्थापने नाम्नः स्वतः सामर्थ्यसम्भवात्।।२।।
भक्त्यैव तत्त्वतो ज्ञेयो हरिर् 'भक्त्ये...'ति वाक्यतः।।

नामापि तादृग् गर्गोक्तेः तथा ज्ञाने हि तत्फलम् ।।३।।
इत्थं सुबोधिनीतो विद्वन्मण्डननिबन्धाभ्याम् ।।
विदितो नामफलादेः प्रकार उक्तोऽधिकारी च ।।४।।

(२२. 'जयश्रीकृष्णो'च्चारणवादः)

श्रीवल्लभाचार्यशरणागताः तिलकमालिकाः ।।
दधानः श्रीकृष्णजयवदतः प्रणमाम्यहम् ।।१।।
(सर्ववर्णेषु सर्वेषां समं यदभिवादनम् ।।
वर्णाश्रमसदाचारविगर्ह्यं नानुमन्यते ।।२।।
अन्येषु सम्प्रदायेषु वैष्णवेष्वपि केषुचित् ।।
नैतादृग्व्यवहाराद्धि नियमोऽयं वृथा मतः ।।३।।
भक्तानां व्यवहारोऽयं सिद्धो भागवतादपि ।।
भक्तैः सह सदा पाल्यो नहि देहाभिमानिभिः ।।४।।
श्रीकृष्णजयकाम्यातु स्वीयसम्मानननं महत् ।।
येषामिहैव कोपश्चेत् नाभिवन्द्यास्तु ते परम् ।।४।।
ललाटे तूर्ध्वपुण्ड्रं वै कण्ठे तुलसिमालिकाम् ।।
मुखेतु 'जय श्रीकृष्ण! इत्येवं ह्यभिवादनम् ।।५।।
दधानो वैष्णवान् वन्दे श्रीमदाचार्यसंश्रितान् ।।
बुद्धिप्राणवचोभिस्तु श्रीकृष्णैकपरान् सदा ।।६।।)

(२३.स्ववृत्तिवादः)

(पुष्टिमार्गीयभक्तानां स्ववृत्त्या स्वगृहे सदा ।।
तनुवित्तजसेवातः तुष्टं श्रीकृष्णमाश्रये ।।१।।
शिष्यप्रदत्तद्रव्यादेः ग्रहो वृत्तिः गुरोरिति ।।
नियमो ह्युचितो ह्येषो नोवेत्यत्र विचार्यते ।।२।।
सङ्कल्पादेरभावात्तु शिष्योपायनसंग्रहे ।।
बीजप्रमाणराहित्याद् दातुस्स्यान्निष्फला कृतिः ।।३।।
श्रुतिस्मृतिसदाचार-सिद्धत्वात् सर्ववृत्तिषु ।।

गुरुत्वेऽप्यमृताख्यैव निर्दुष्टा वृत्तिरिष्यते ।।४।।
स्वसम्प्रदायशिष्यैस्तु स्वपादोपान्तिकन्तु यद् ।।
ह्युपानीतं तदेवात्र ग्राह्यं सदुपदेष्टृभिः ।।५।।

(२४.वस्त्रादिसेवावादः)

(स्वकीयेषु वस्त्रादिषु स्वानुभावं
प्रकाश्य स्वभक्त्यैकलभ्यं फलं यो ।।
ददातुं समर्थोऽस्ति वन्दे तमीशं
समेषां स्ववर्त्मस्थितानां हि मृग्यम् ।।१।।
पुराऽयं तु वादो कृतो ग्रन्थकृद्भिः
स कात्स्न्र्येन कुत्रापि नैवोपलब्धः ।।
अपूर्णां विलोक्यावतारावलीं तु
यतेऽहं प्रपूर्त्यै कृपालब्धबुद्ध्या ।।२।।
शास्त्रेष्वविहितत्वात्तु पूजनादेरसम्भवात् ।।
भृत्यधार्यतया चापि वस्त्रसेवा वृथा मता ।।३।।
शास्त्रोक्तत्वात् तथाचाराद् भगवद्वस्त्रसेवनम् ।।
भक्तिमुख्यफलप्राप्तौ नैवाऽमुख्यं कदाचन ।।४।।
सामान्यशास्त्राध्ययनादिशून्यं
येऽपाठयन् मां विविधान् हि वादान् ।।
वादावलीतो सुतवत्सलान् तान्
श्रीतातपादान् प्रणमन् स्मरामि ।।५।।)

इह ग्रन्थकृद्भिः वादविषयाणां मंगलाचरण-पूर्वोत्तरपक्ष-उपसंहारकारिकाः इत्येवं न्यूनातिन्यूनं प्रायः कारिकाचतुष्टयस्य योजनं विचारितमपि क्वचिद् अनुष्ठितं क्वचिन्नापीति एकरूपतानिर्वाहाय यत्र कारिका नोपलब्धा तत्र मया कोष्ठकान्तः ( ) कारिकायोजनं कृतमिति क्षन्तव्यं मदीयं धाष्ट्र्यम् इदम् (गो.श्या.म.).

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

दशमो

।। ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः ।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

।। चातुर्वर्ण्याधिदेवताप्रकाशिका ।।

चातुर्वर्ण्याभिसृष्टारं गुणकर्मस्वभावशः।
अकर्तारञ्च गीतोपदेष्टारं प्रणमाम्यहम्।।
कर्मदेवब्रह्मणां हि गायत्र्या निजशक्तिना।
प्रकाशकं शरीराविष्टं मुखादिविभूतिभिः।।
वर्णाभिमानिदेवान्तर्यामिब्रह्माण्डविग्रहम्।
नारायणं परात्मानं सर्वभावेन संश्रये।।
विवाहपुंसवनाद्यैः संस्कारैः स्वस्ववृत्तिभिः।
अपातकैश्चाचरितैर्ये धर्मास्ते न जन्मतः।।

*ननु के एते खलु धर्माः ये जन्मतो हि अनभिमताः विवादास्पदीभूताः च : किं चतुर्वर्णोत्पन्नेषु अर्भकेषु समवेताः ब्राह्मणत्वादिजातिरूपाः? आहोस्विद् चतुर्वर्णविभक्तान् ब्राह्मणादीन् उद्दिश्य विधीयमानाः कर्मरूपाः? तत्र नाद्यः कल्पः क्षोदीयः, प्रादुर्भावार्थकाद् 'जनि'धातोः ''जायते इति जातिः'' इति व्युत्पत्तेः, ''**जातिः सामान्यजन्मनोः**'' (अम.को.३।३।६८) इति कोशात् च, 'जाति'पदवाच्यानां जन्मसामान्यान्यतरधर्माणां जन्मतएव अंगीकार्यत्वात्. तत्र जन्मसिद्धाअपि केचन परिमाणाकृत्यादिरूपाः धर्माः निवृत्त्यर्हतया नाशार्हतया वा अनित्याः भवन्ति, तथापि सामान्यरूपो धर्मस्तु अनाद्यविनाश्येव. नापि द्वितीयाः, यतोहि येच उपनयनविवाहपुंसवनजातकर्मनामकरणचूडाकरणादिसंस्काराः ब्रह्मणादिवर्णान् उद्दिश्य

शास्त्रेषु विहिताः तेतु तत्तद्वर्णजातानेव उद्दिश्य शास्त्रेषु विहिताइति विपरीतम् इदम् ''ये धर्माः ते न जन्मतः''* इति प्राप्ते —

उच्यते : न तावद् जातिवर्णयोः एकार्थवाचित्वं सम्भवति. नच * ''**सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः**'' (याज्ञ.स्मृ.१।४।८९) इति स्मृतिवाक्ये जातिवर्णयोः एकार्थवाचित्वाभावे सवर्णेभ्यः सवर्णास्वपि कदाचित् असमानवर्णाः अभर्काः जायेरन्निति बाधितार्थबोधापत्तिः * इति वाच्यं, ''**जातिः = छन्दसि सामान्ये मालतीगोत्रजन्मसु**'' (धर.को.८७०) इति कोशाद् वंशार्थकतायाअपि सम्भवात्. किञ्च ''**आकृतिग्रहणा जातिः लिंगानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह**'' (पा.म.भा.४।१।३३) इति वाक्ये सर्वेषु ब्राह्मणादिषु सर्वव्यक्त्यनुगतैकैकाकाराणां स्वस्वाकृतिव्यङ्ग्यानां ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिधर्माणाम् अनुपलम्भेन 'सर्वव्यक्त्यनुगतसं-स्थानव्यङ्ग्याकृतिरूपा'र्थसम्भवइति न जन्मना ब्राह्मणत्वादिधर्मसिद्धिः. नित्यानेकसम-वेतायाः 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या'यास्तु सद्व्यव्यतिरिके ''**जातिव्यक्तिविभागो अयं यथा वस्तुनि कल्पितः**'' (भाग.पुरा.६।१५।८) इति वाक्यात् शब्दज्ञानानुपातिकल्पनैक-रूपत्वादपि न जन्मना सिद्धिः. तस्माद् अवशिष्यते चरणसहकृतगोत्ररूपा जातिः इति तृतीयः कल्पः. तत्र ''**संततिः गोत्र... वंशो अन्ववायः सन्तानः**'' (अम.को.२।२।१) इति उक्त्या वंशापरपर्यायतया जन्मना सिद्धावपि न ब्राह्मण्यादिवर्णविनिगमकत्वम्. यथाच उक्तं ''**नैष दोषः सर्वे एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते — ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रः इति. आतश्च गुणसमुदाये एवं हि आह : 'तपः श्रुतं च योनिः च एतद् ब्राह्मणकारणं तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मणएव सः'**'' (पा.म.भा.५।१।११५) इति. तेन 'सजातयः'पदेऽपि एषएव वंशरूपो अर्थो अंगीकरणीयः. अतएव आकृतिव्यङ्ग्यानां गोत्वाश्वत्वादिधर्माणां जातित्वाभ्युपगमेऽपि यत्र ''**गोः अयं यः शकटं वहति, गोतरो अयं यः शकटं वहति सीरं च**'' (पा.म.भा.५।३।५५) इत्येवं जातिवाचकेनापि पदेन प्रकर्षापकर्षद्योतनेतु ''**नैष जातेः प्रकर्षः. कस्य तर्हि? गुणस्य... समानगुणएव स्पर्धा भवति... जननेन प्राप्यते सा जातिः. नच एतस्य अर्थस्य प्रकर्षापकर्षौ स्तः**''

(पा.म.भा.५।३।५५) इति गुणवाचकता अंगीकृता. याज्ञवल्क्येनापि उच्यते "**सर्वस्य प्रभवो विप्राः श्रुताध्ययनशीलिनः तेभ्यः क्रियापराः तेभ्यो हि अध्यात्मचिन्तकाः, न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता यत्र वृत्तम् इमे च उभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्**" (याज्ञ.स्मृ.१।९।१७९-१९८) इति. तस्माद् ब्राह्मण्यप्रकर्षे तारतम्यनिरूपणाद् 'जाति'-'वर्ण'पदयोः न एकार्थवाचकत्वम् उपपद्यते. अतएव "**संस्काराः यत्र अविच्छिन्नाः स द्विजो... द्विजन्मनां जन्मकर्मावदातानां क्रियाः च आश्रमनोदिताः**" (भाग.पुरा.७।११।१३) इति वचने न केवलेन जन्मना किमुत गुणकर्मसमुच्चितेनैव जन्मना द्विजत्वोत्कर्षः प्रतिपादितः. किञ्च "**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णाः द्विजातयः, चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो, नास्ति तु पञ्चमः**" (मनुस्मृ.१०।४) इति वाक्याद् वर्णास्तु चत्वारएव. वर्णापसदानां वंशरूपाः जातयस्तु पुनः अनेकाः, "**व्यभिचारेण वर्णानाम् अवेद्यावेदनेन च स्वकर्मणां परित्यागात् जायन्ते वर्णसंकराः**" इति वर्णभ्रंशहेतूनाम् ऐक्याभावेन "**सूतो वैदहकः चैव चाण्डलः...**" (मनुस्मृ.१०।२४-२६) इति उक्तत्वाद् जातिवर्णयोः नैकत्वं स्वीकर्तुं शक्यम्.

नच * वर्णसांकर्यादिहेतुभ्यएव वर्णापसदजातीनाम् अनेकत्वेऽपि हीनजातिषु ब्राह्मणाद्युचितसंस्कारैः न ब्राह्मणवर्णो क्वचिद् वर्णितः. अपिच मनुनापि "**सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीषु अक्षतयोनिषु आनुलौम्येन सम्भूताः जात्या ज्ञेयाः तएव ते**" (मनुस्मृ.१०।५) इति जन्मनैव वर्णाः अभ्युपेताइति जात्यवान्तरभेदएव वर्णः * इति शंक्यं, जन्मना हि वर्णांगीकारे ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाद् जातस्य ब्राह्मण्यनियमे किम् अन्तर्गडुना अक्षतयोनित्वेन ? नहि अजैकनिमित्तेन क्षतयोनिरपि अजा अपरास्माद् अजाद् गर्भधारणे गजोत्पादयित्री दृष्टचरी ! तस्मात् सजातीयसन्तानोत्पत्तौ क्षताक्षतयोनित्वयोः दृष्टदोषगुणाभावेन, पुनर्भुवः स्त्रियाः विवाहसंस्कारनिषेधेन च; विवाहवत् सन्तत्युत्पत्तावपि बैजिकगर्भाधानपुंसवनजातकर्मादिसंस्काराणां नियतापेक्षणात् च न केवलेन जन्मना ब्राह्मणत्वादिजातयः किन्तु तत्तद्वंशोचितसंस्कारैः स्वस्वकर्मवृत्त्यादिभिः अपातकाचरितैः च वर्णाः. ततः कथंकारं तेषां जातित्वसम्भावनापि.

(मंगलाचरणेन उपक्रमः)

यच्छासनानुसारेण ब्राह्मणत्वादिदेवताः ।।
देहे तिष्ठन्ति लोकस्य तं हरिं सर्वदाश्रये ।।१।।

---

*ननु ''**जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा**'' (याज्ञ.स्मृ.१।५।९५) इत्यत्र हीनजातेरपि सप्तमे पर्याये उच्चवर्णीयकर्माधिकारनियमो अंगीकृतएवेति कः प्रभेदो नाम जातिवर्णयोः अवतिष्ठेद्* इति चेद् एतत्तु असाम्प्रतमेव. यस्माद् जन्मना वर्णनियमे उत्कर्षो न वक्तव्यः, उक्तश्च पुरा युगेहि उत्कर्षनियमः, तस्माद् न जन्मना वर्णो अंगीकर्तुं शक्यः. नहि घटत्वं पुरा पटत्वाभिन्नं सद् इदानीं भिन्नं भवितुम् अर्हति. तद् उक्तं भगवता ''**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**'' (भग.गीता.४।१३) इति. *ननु ''**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च, परन्तप!, कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैः गुणैः... शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिः आर्जवमेव च ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजं... परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**'' (भग.गीता.१८।४१-४४) इत्यत्र चातुर्वर्ण्ये कर्मप्रविभागः, तस्यच स्वभावजन्यगुणमूलकत्वं, स्वभावानां च आनुवंशिकत्वेन गुणकर्मणोरपि वंशानुगतिकत्वमिति गुणकर्मनिमित्तापि जातिः जन्मनैव गले पतिता* इति चेत् न, वंशवर्णयोः पार्थक्येन स्वभावस्य वंशानुगतिकतासम्भवेऽपि वर्णानुगतिकत्वे प्रमाणाभावात्. विदुरादीनां ''**द्वैपायनसुतो... विदुरः**'' (भाग.पुरा.३।७।१) इति वचनाद् ब्राह्मणवंशजत्वेन तादृग्गुणशालित्वेऽपि तस्य ब्राह्मणवर्णानभ्युपगमात्. तस्माद्—

यथा शिल्पिकृता मूर्तिः संस्कृता देवता भवेद्।
आराध्या ह्यर्चनात् सैव भक्त्यात्मेशः परः प्रियः ।।
मातृगर्भप्रसूतस्य संस्कारेणाधिकारिता।
स्ववृत्तिकर्मनिष्ठायां देवावेशे हि वर्णिता ।।

तत्तद्वर्णोचितसंस्कारैः अर्भकेषु तत्तद्वर्णाभिमानिदेवताः प्रादुर्भूताः प्रतिष्ठिताः च भवन्तीति तत्तद्वर्णाभिमानिदेवतावेशादेव ते-ते जनाः ब्राह्मणादिवर्णीयाः भवन्ति इति रहस्यं प्रतिपादयन्तः श्रीहरेः समाश्रयणरूपमंगलाचरणेन उपक्रमन्ते **यच्छासना...**

(ब्राह्मणत्वादयो न जातयः इति सिद्धान्ते आक्षेपः)

(**प्रसिद्धाः जातयस्त्वेताः देवताः न तथा मताः।।**
प्रत्यक्षधर्मास्वीकाराद् देवताकल्पना वृथा।।२।।)

*ननु इदम् अयुक्तं[पा.भे.१], लोके ब्राह्मणत्वादीनां जातित्वेन प्रसिद्धेः बाधकाभावेन च तेषां जातित्वोपगमस्य युक्ततया देवतात्वकल्पनस्य अन्याय्यत्वात्.

इत्यारभ्य **हरिं सर्वदाश्रये** इत्यन्तं यावत्. तद् उक्तं मनुना ''**यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुंक्तः प्रथमं प्रभुः स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनःपुनः... लोकानान्तु विवृध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयद्**'' (मनुस्मृ.१।२८-३१) इति. इह ''स्वयं भेजे सृज्यमानः'' इति स्वस्य वंशानुगुणसंस्कारैः संस्कारानुगुणकर्माचरणैः च स्वस्मिन् देवावेशनिर्वाहकैः स्वकर्माभिनिष्पादितगुणैः वर्णितां भजन्ते इति रहस्यं बोध्यम्.

इह ग्रन्थे एकरूपतानिर्वाहाय पूर्वपक्षसंग्रहकारिका मया योजिता. अथ इदानीं ब्राह्मणत्वादिजातितोद्भावकं पूर्वपक्षम् आरचयन्ति **ननु** इत्यादिना. इह ब्राह्मण्यादीनां जातित्वकल्पना तथाप्रसिद्धिमूलैवेति बाधकानुपलब्धिः इति एका, अपरातु देवतात्वकल्पना अप्रसिद्धा इति द्वे अनुपपत्ती दर्शिते. *ननु ''सति कुड्ये चित्रम्'' इति न्यायेन ब्राह्मणत्वादीनां प्रमाणतः सिद्धौ हि तेषां जातित्वं वर्णत्वं देवत्वं वा इति विचारस्य प्रसक्तिः. तानि ब्राह्मणत्वादीनिच जन्मना कर्मणा वा उभाभ्यां वा इतितु सर्वं तदानुषंगिकमेव. नहि प्रत्यक्षविषयीभूतेषु मनुष्येषु ''इमे ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वा वैश्याः वा'' इति ''इमेतु शूद्राः'' वा इति प्रभेदो विस्पष्टो बोद्धुं शक्यते. यस्माद् व्यक्तिबोधाधीनश्च जातिबोधो, नापिच व्यक्तयः स्वावयवसन्निवेशविशेषावगमरहिताः स्वजातीनां प्रभेदम् आवेदयितुं प्रभवन्ति. नहि गोगजादीनामिव ब्राह्मणादीनां विभिन्नाकृतयो अत्र दृश्यन्ते चक्षुषा. येन आधारद्रव्यबोधाद् आधेयभूतानां जातीनामपि आध्यक्ष्यम् आशंक्येत. अपिच शौचाचारशिखामुखाकृतिधर्मैरपि इदमित्थंभावेन ब्राह्मणत्वादिनिश्चयो न शक्यो, नैकपुरुषाणां व्यवहारे च विप्रलम्भकता उपलभ्यते. अतोहि ब्राह्मणत्वादिसत्त्वे प्रमाणानुपलब्ध्या दूरापेता हि तेषां जातिवर्णदेवत्वादिविचारणा * इति चेद्—

अत्र केचिद् एवं समादधते : प्रतीयन्ते हि तावद् आकृतिव्यंग्याः जातयः प्रत्यक्षादिप्रमाणैः. द्रव्यादीनां प्रथमप्रत्यक्षावसरे जातेः प्रत्यक्षं न सम्भवदपि लोकादिभ्यः तद्वाचकशब्दाभिज्ञाने सति जातयो निर्वक्तुमपि शक्याः भवन्त्येव. "अयं पुरोऽवस्थितः पशुः वा द्रव्यपिण्डो वा 'गो'पदवाच्यइति एतादृशाः सर्वे गोत्वजातिमन्तः" इति. पश्चात्तु गच्छता कालेन तदवान्तरप्रभेदाअपि "इयं पञ्चनददेशिया गौः" "इयं पर्वतदेशीया गौः" इति अवगम्यन्तएव. सति चैवं समानाकारप्रसवात्मिका जातिः वा समानाकारबुद्ध्यालम्बनभूता वा, इति जात्युपजातिसाधारणो अवबोधः सर्वजनसाक्षिकः. तेनैतादृशेन बोधेन मनुष्येष्वपि "**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च... कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैः गुणैः... शमो दमः तपः शौचं... ज्ञानं विज्ञानम् आस्तिक्यं ब्रह्म कर्म स्वभावजं... परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्**" (भग.गीता.१८।४१-४४) इति उक्त्या येषु-येषु माणवकेषु यादृशाः स्वभावभेदाः, अन्नजलवायुदेशाद्यैक्येऽपि, दृग्गोचरीभवन्ति, तैस्तै तेषां-तेषां कुलेषु पूर्वजातानां क्षेत्रेषु बीजेषु च मिथः प्रभेदो हेतुतया अनुमातव्यः. यतो तेन विना तादृशाः प्रभेदाः आकस्मिकाः भवेयुः. समानप्रसवः च तेषु अनाकस्मिकः सन् हेतुविशेषं प्रमापयति. तेन इत्थंभूतेन तर्कसचिवेन प्रत्यक्षेण जातयः सिध्यन्त्येव इति.

तदेतत् न सिध्यति इति प्रसाधनीयं : तथाहि क्षेत्रबीजप्रभेदानुमानसचिवेन प्रत्यक्षेण तेषु-तेषु पुरुषेषु उपलभ्यमानाः तत्तत्कर्मगुणजनकाः स्वभावभेदाः यदि असंकीर्णाः स्युः तदा "**अनार्यम् आर्यकर्माणम् आर्यं च अनार्यकर्माणं सम्प्रधार्य अब्रवीद् धाता न समौ नासमौ इति**" (मनुस्मृ.१०।७३) इति मनूक्तो विधातुः सन्देहो निरवकाशएव स्यात्. यदितु विधातुरपि वर्णसंकराद् जायमानः सन्देहो दुरपह्नवः तदा तत्सृष्टेषु को नाम स्वसदृशानां कर्मगुणयोः संकीर्णतादर्शनेऽपि तर्कसचिवप्रत्यक्षस्य निर्णायकत्वं वा मनःप्रत्ययं वा श्लाघेत्! नच * "**सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि साजातयः**" (याज्ञ.स्मृ.१।४।८९) इति वचनानुरोधाद् विशुद्धमातापितृकत्वज्ञानविशिष्टपुत्रज्ञानेन हि जातिप्रत्यक्षः सम्भवएव * इति वाच्यम्, अवगतविशुद्धमातापितृकत्वविशिष्टपुत्रप्रत्यक्षेऽपि पितामहप्रपितामहादिपूर्वजानां ब्रा-

ह्मणान्ववायत्वेऽपि तेषु कयोश्चिद् दम्पत्योः —

"यो अनधीत्य द्विजो वेदम् अन्यत्र कुरुते श्रमं स जीवन्नेव शूद्रत्वम् आशु गच्छति सान्वयः" (मनुस्मृ.२।१६८).

"लवणं तनया लाक्षा पतनीयानि विक्रये, पयो दधि च मद्यं च हीनवर्णकराणि तु" (याज्ञ.स्मृ.३।३।४०).

"भर्तुः शरीरशुश्रूषा धर्मकार्यं च नैत्यकं, स्वा चैव कुर्यात् सर्वेषां न अस्वजातिः कथञ्चन. यस्तु तत् कारयेद् मोहाद् सजात्या स्थितया अनया यथा ब्राह्मणचण्डालः पूर्वदृष्टः तथैव सः" (मनुस्मृ.९।८६-८७).

"सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयाद्" (मनुस्मृ.१०।९२).

"ब्रह्मोज्झता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः गर्हितानाद्ययोः जग्धिः सुरापानसमानि षट्" (मनुस्मृ.११।५६).

"यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येन आप्लाव्यते सकृत् तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति" (मनुस्मृ.११।९७).

"चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च पतति अज्ञानतो विप्रो ज्ञानात् साम्यं तु गच्छति". (मनुस्मृ.११।१७५).

इत्येतादृशानि पातनीयकर्माचरणानि लोकाविज्ञातानि आसन् नवा इति निर्विचिकित्साध्यवसायो विना सर्वज्ञेन केन कर्तुं शक्यः? तदभावेतु विशुद्धमातापितृकत्वमपि न ब्राह्मण्याय अलम्. अथ *सर्वेषामपि प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतएव अंगीकृतम्. अनुपलब्धेः च प्रमाणतया अंगीकाराद्, ईदृग् वृत्तान्तस्य अनुपलब्धेरेव ब्राह्मण्यनिश्चये न बाधा काचिद्* इति चेद् न, "येन इन्द्रियेण या व्यक्तिः गृह्यते तद्गता जातिः तदभावः च तेनैव इन्द्रियेण गृह्यते" इति नियमांगीकाराद् भूतकालिकापरोक्षज्ञानविषयीभूते हि पितामहप्रपितामहादौ एतादृग्वृत्तसद्भावे तदभावे वा भूतकालिकापरोक्षानुपलब्धेरेव प्रामाण्यम्. ततोहि इदानीन्तनानुपलब्धेः न तत्र प्रामाण्यप्रचरः. ऐतिह्यादेः प्रामाण्यप्रस्तावेतु अपौरुषेयत्वात् श्रुत्यादेः स्वतःप्रामाण्यवादो भज्ज्यादेव. इदानीन्तनानुपलब्धेस्तु परोक्षत्वेन न

बाधकानितु "**व्यक्तेरभेदः तुल्यत्वं संकरो अथ अनवस्थितिः रूपहानिः असम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः**" (किरणा.१६) इति. तत्र व्यक्त्यभेदः आकाशत्वादेः जातित्वबाधको[पा.भे.२] अनेकाननुगमात्, तत्र जातिकल्पने प्रयोजनाभावात्. तुल्यत्वञ्च घटत्वकलशत्वादेः जात्यन्तरत्वबाधकम्, एकव्यञ्जकव्यंग्यत्वेन भेदग्रहासम्भवात्, गौरवात् च. संकरस्तु भूतमूर्त्तत्वादेः जातित्वबाधकः परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोः एकत्र समावेशे[पा.भे.३] उभयोः दुष्परीक्ष्यत्वात्.

तत्र प्रामाण्यसम्भावनालेशोऽपि. *ननु "**यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं जन्तुं प्रसूयते तथा बाह्यतरं बाह्यः चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते. प्रतिकूलं वर्तमानाः बाह्याः बाह्यतरान् पुनः हीनाः हीनान् प्रसूयन्ते वर्णान् पञ्चदशैव तु**" (मनुस्मृ.१०।३०-३१) इति वचनात् चातुर्वर्ण्यबाह्येष्वपि 'वर्ण'पदप्रयोगाद् जातिवर्णयोः अभेदः कुतो न सिध्येद्* इति चेत् न, "**नास्ति तु पञ्चमः**" (मनुस्मृ.१०।४) इति निषेधस्य उक्तत्वादेव नो वर्णिनो चातुर्वर्ण्यबाह्याः भवन्ति. *ननु तदा इह उक्तायाः पञ्चदशसंख्यायाः का गतिः? इति चेद् यथाच म्लेच्छवाक् आर्यवाक् च भवतः तथाहि एते न आर्यवर्णाः किन्तु दस्युवर्णाः. आर्यवर्णानां हि वेदे अधिष्ठातृदेवतानिरूपणेन देवतावेशजत्वम्. अनार्यवर्णानान्तु "**मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः म्लेच्छवाचः च आर्यवाचः ते सर्वे दस्यवः स्मृताः**" (मनुस्मृ.१०।४५) इति उक्त्या न वेदोक्तदेवतावेशः. अन्यथा "**शनकैस्तु क्रियालोपाद् इमाः क्षत्रियजातयो वृषलत्वं गताः लोके**" (मनुस्मृ.१०।४३) इति क्षत्रियवर्णितापि एतज्जातीयकानां कुतो न सिध्येत्? नच इष्टापत्तिः शक्या, यस्माद् क्षत्रियवर्णाभ्युपगमे आपस्तम्बोक्तेन "**अतिक्रान्ते सावित्र्याः ऋतुत्रयं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेद्. अथ उपनयनम्... अथ अध्याप्यम्. अथ यस्य पिता पितामहः इति अनुपेतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुताः... तेषाम् इच्छतां प्रायश्चित्तं... अथ उपनयनम्**" (आ.ध.सू.१।१।२५-३७) इति वचनात् पातित्याविशेषाद् एतेषामपि प्रायश्चित्तेन शुद्धिः शक्येत्. नच इष्टैव सा इति वाच्यं तदा वर्णानां जन्मवादो गतः आगतश्च कर्मणा देवताप्रतिष्ठावादः.

प्रकृतम् अनुसरामः : तत्र षट्सु जातिबाधकेषु नैकस्यापि ब्राह्मणत्वादिषु प्रसक्तिः इति आदौ आपादयन्ति **तत्र** इत्यादिना. इदम् अत्र अवधेयं : एकस्यां

अनवस्थापि तथा; अतएव, सत्तायां 'सद्' इति प्रत्ययेऽपि न तत्र सत्तान्तराभ्युपगमः. रूपहानिस्तु विशेषत्वादेः जातित्वबाधिका. तत्र विशेषत्वाकारेण अनुगमेऽपि न तत्र सामान्यवान्, 'गुणो-गुणः' इति गुणलक्षणाक्रान्ततया गुणत्वापत्तौ विशेषाणां विशेषरूपताहानिप्रसंगात्. असम्बन्धश्च अभावत्वस्य जातित्वबाधको, अभावे समवायाभावात्. प्रकृतेच न किञ्चिदपि बाधकम् अतो ब्राह्मणत्वादिकं जातिरेव.[पा.भे.४]

(ब्राह्मणत्वादौ सांकर्यदोषाभावोपपादनम्)

नच * क्षत्रियत्वाभाववत्सु ब्राह्मणेषु ब्राह्मणत्वस्य सत्त्वाद् ब्राह्मणत्वाभाववत्सु क्षत्रियेषु क्षत्रियत्वस्य सत्त्वात् परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोः तयोः एकस्मिन् विश्वामित्रशरीरे समावेशाद् अस्त्येव सांकर्यम्. यद्वा ब्राह्मणत्वाभाववति क्षत्रियविश्वामित्रशरीरे इति सांकर्यम्. अतः उभयथा दोषाद् ब्राह्मणत्वादेः न जातित्वं युक्तम् * इति शंकनीयं, ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वव्याप्यविश्वामित्रत्वस्य क्षत्रियदशायाम् अभावेन च विश्वामित्रत्वम् आदायापि सांकर्याभावाद् इति.

व्यक्तौ द्वयोः जात्योः सामानाधिकरण्यं स्वेतरव्यावृत्तजातिस्वरूपावगमे बाधकम्. किञ्च एकस्य अर्भकस्य विभिन्नवर्णीयमातापित्रोः जातत्वे बीजभूतवर्णे तस्य समावेशो मन्तव्यः उत क्षेत्रभूतवर्णे उत उभयवर्णयोः इति निर्धारयितुम् अशक्यतया कतरद्वर्णाधिकारकसंस्कारार्हतायाअपि निश्चयाशक्यत्वेन दोषरूपता. तत्र आद्यन्तु सर्वेषां मते जातिबाधकं न भवति अपरन्तु उक्तैः शास्त्रवचनैः वर्णसांकर्यदोषरूपम्. अत्र मूलग्रन्थे तृतीयप्रकारकस्य दोषस्य ब्राह्मणत्वादिजातिषु प्रसक्तिः अस्ति नवा इति विचार्यते तत्र न सम्भवति इति पूर्वपक्षाशयः. अस्त्येव दोषत्वाभ्युपगमेतु अत्रापि प्रसक्तिः इति उत्तरपक्षः. तत्र पूर्वपक्षी प्रसक्तिपक्षं निराकर्तुं किञ्चिद् आशंक्य तां शंकां परिहरन् आह **नच क्षत्रियत्वाभाववत्सु** इत्यादिना **अन्यथानुपपत्तेरेव मानत्वाद्** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन.

परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरण... इति. हेतुसाध्ययोः पक्षधर्मतेइव धर्मयोर्हि साहचर्यं क्वचिद् नियतं, क्वचिच्च घटपटयोः ऐकाधिकरण्यं अनियतमपि. तथा परस्परसहावस्थानासहिष्ण्वोः विरोधोऽपि चतुर्धा बोद्धव्यः : [१] परस्परात्यन्ताभाव-

नच *विश्वामित्रत्वव्याप्यविरुद्धभेदेन ब्राह्मणत्वद्वैविध्यांगीकारेऽपि सांकर्यनिवृत्तेः विश्वामित्रद्वैविध्यांगीकारो अनुचितः* इति शंक्यं, जातिकल्पनाधिक्यप्रसंगात्.[पा.भे.५] तथाहि — एकं ब्राह्मणत्वं विश्वामित्रत्वव्याप्यम् अपरं च तद्विरुद्धम्. एवं तुल्ययुक्त्या क्षत्रियत्वमपि द्विविधम्. अन्यथा विश्वामित्रत्वम् आदाय सांकर्यापत्त्या क्षत्रियत्वस्यापि जातित्वानुपपत्तेः. तथाच ब्राह्मणत्वद्वयं क्षत्रियत्वद्वयं विश्वामित्रत्वं च एकम् इत्येवं पञ्चजातयः. विश्वामित्रत्वद्वैविध्येतु ब्राह्मणत्वं

रूपतया यथा घट-तदत्यन्ताभावयोः. [२]परस्परात्यन्ताभावव्याप्यतया यथा गोत्वाश्वत्वात्यन्ताभावयोः. तथाहि यत्र गोत्वं तत्र अश्वत्वात्यन्ताभावो यत्र च अश्वत्वं तत्र गोत्वात्यन्ताभावइति. ततो गोत्वाश्वत्वयोः यद्यपि एकत्र समावेशो विरुद्धः तथापि उभयात्यन्ताभावयोः एकत्र गजे सामानाधिकरण्यं सम्भवत्येवेति नैतयोः परस्परात्यन्ताभावत्वरूपो विरोधो नवा परस्परात्यन्ताभावव्यापकत्वरूपो वा. [३]परस्परात्यन्ताभावव्यापकतया विरोधस्तु मनुष्यसमुदाये यत्र वर्णित्वाभावः तत्र वर्णापसदत्वं, यत्रच वर्णापसदत्वाभावः तत्र वर्णित्वमिति. अतो कस्मिन्नपि मनुष्ये न वर्णित्ववर्णापसदत्वयोरिव वर्णित्वात्यन्ताभाव-वर्णापसदत्वात्यन्ताभावयोरपि सामानाधिकरण्यं शक्यं वक्तुम्. यत्र पुनः घटपटसरिसृपपक्षिमक्षिकापश्वादिषु वर्णित्ववर्णापसदत्वान्ताभावयोः सामानाधिकरण्यं तत्र न मनुष्यत्वमिति. आतश्च मनुष्यत्वव्याप्ययोः वर्णित्व-वर्णापसदत्वयोः परस्परात्यन्ताभावव्यापकत्वम्. न जातु तयोः सहावस्थानार्हत्वम्. इह 'मनुष्यत्वव्याप्यचातुर्वर्ण्य'ग्रहणं देववारणाय. तेषु **''सवा एष ब्राह्मणस्य यज्ञो यद् अनेन बृहस्पतिः अयजत. ब्रह्म हि बृहस्पतिः ब्रह्म हि ब्राह्मणः. अथो राजन्यस्य यद् अनेन इन्द्रो अयजत क्षत्रं हि इन्द्रः क्षत्रं राजन्यः''** (श.प.ब्रा.५।१।११) इति, **''प्रजापतिः अकामयत 'प्रजायेये'ति स मुखतः त्रिवृतं निरममीत, तम् अग्निः देवता अन्वसृज्यत ब्राह्मणो मनुष्याणाम्. बाहुभ्यां पञ्चदशं निरममीत, तम् इन्द्रो देवता अन्वसृज्यत राजन्यो मनुष्याणाम्. मध्यतः सप्तदशं निरममीत, तं विश्वेदेवाः देवताः अन्वसृज्यन्त वैश्यो मनुष्याणाम्. पत्तः एकविंशं निरममीत, तम् अनुष्टुप् छन्दो अन्वसृज्यत... शूद्रो मनुष्याणाम्''** (तैत्ति.संहि.७।१।१) इति वर्णांगीकारात्. तच्च उक्तं **''नहि यदेव त्यज्यते तस्यैव केवलं देवसम्बन्धः त्यक्तुरपि तेनैव सम्बन्धेन सैव देवता भवति... भवति पुरुषस्यापि यष्टुः सा देवता''** (तन्त्रवार्ति.१।४।२२) इति. [४]घटत्वात्यन्ताभा-

क्षत्रियत्वं तत्तद्व्याप्यं विश्वामित्रत्वद्वयं चेति चतस्रएव जातयइति लाघवात् तथा कल्पनमेव युक्तं, दोषाभावात्. नच * व्याप्यव्यापकभावे मानाभावः * शंक्यः, तदनंगीकारे घटत्वपृथिवीत्वादीनामपि मृद्घटादौ संनिवेशेन सांकर्यप्रसंगे जातेः दत्ततिलाञ्जलित्वापातइति अन्यथानुपपत्तेरेव मानत्वाद् इति.

वति स्वर्णकुण्डले वृत्तिमतः स्वर्णमयत्वस्य स्वर्णमयत्वात्यन्ताभाववति मृद्घटे च वृत्तिमतो घटत्वस्य इत्युभयोः घटत्वस्वर्णमयत्वयोः एकत्र स्वर्णघटे सामानाधिकरण्योपलम्भेन चतुर्थः प्रकारः विरोधस्य. एतेषु कतमत्प्रकारको विरोधो वा सांकर्यं वा विश्वामित्रादिषु च ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वयोः उच्यते येन इमे जाती न भवेताम्? किञ्च पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि प्रकाराणां प्रतियोगितानुयोगितावच्छेदकधर्मसम्बन्धादिभेदैस्तु सामानाधिकरण्यं सम्भवत्येव. तद् यथा मूलावच्छेदेन कपिसंयोगात्यन्ताभाववति वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसंयोगसम्भवे प्रतियोगितदत्यन्तावयोरपि एकत्र वृत्तिमत्ता न सर्वथा अनंगीकार्यैव भवति. तादात्म्यसम्बन्धेन अन्योन्यस्मिन् वृत्तिमतोः घटाभाव-पटाभावयोरिव घटपटयोरपि पृथिव्यां सामानाधिकरण्यं सम्भवत्येव. एतावता न घटत्वपटत्वजात्योः अपलापः शक्यः. एवं ''क्वचिद् उपहितव्यक्तौ उपाधिद्वयसांकर्येऽपि उपाधीनां स्वरूपतः खलु असांकर्यम्'' इति न्यायेन सांकर्यस्य जातिबाधकत्वे अबाधकत्वे वा उभयथापि न ब्राह्मणत्वादिजात्यपलापः शक्यः कर्तुम्.

तथाच इह संशयपूर्वोत्तरपक्षकोटिक्रमसंकलना एवं ज्ञेया : सद्द्रव्येषु ततो व्यतिरिक्ताः सत्तादिरूपाः जातयो भवितुम् अर्हन्ति नवा? भवन्ति चेत् तासु आकृतिव्यंग्यायां पररूपायां मनुष्यजातौ अन्तर्भूताः अपराः अनाकृतिव्यंग्याअपि ब्राह्मणत्वादिजातयो भवितुम् अर्हन्ति नवा? भवन्ति चेत् किं जातिवर्णौ एकएव पदार्थः आहोस्विद् विभिन्नौ? इति आद्याः कोटयः.

द्वितीयास्तु संशयकोटयो : अनाकृतिव्यंग्यासु वर्णरूपासु जातिषु सतीषु तत्तद्वर्णिनां पितृणां बीजेभ्यः सकाशात् तत्तद्वर्णिक्षेत्रभूतानां मातृणां गर्भेभ्यो माणवकानां प्रसवे सति जन्मनैव? उत शास्त्रेषु विहितैः तत्तद्वर्णानुकूलैः संस्कारकर्मवृत्त्यादिभिरेव वा? जन्मकर्मोभाभ्यां वा? जन्मना अभ्युपगमे नित्यानेकानुगतसामान्यरूपाः वा?

(सांकर्यस्य न जातिबाधकत्वम् इति मतेन प्रत्यवस्थानम्)

अन्येतु * संकरो न जातेः बाधकः, श्रीनृसिंह-किम्पुपुरुषादौ उभयसत्वात्. पाट्टकार्पाससूत्रैः निर्मिते पटे तथाभूतजातिद्वयोपलम्भात् च * इति आहुः.

तस्माद् ब्राह्मणत्वादिकं जातिरेवेति ब्राह्मणत्वादीनां देवतात्वकल्पनम् अन्याय्यमेव.

सखण्डाखण्डोपाध्यन्यतररूपाः वा? जन्मसंस्कारकर्मवृत्त्यादिभिः आविर्भूयमानानां धर्माणां अनित्यतत्तद्व्यक्तिनिष्ठत्वेतु गुणकर्मस्वभावरूपाः वा? तत्तद्देवतावेशरूपाः अनित्याः तत्तद्व्यक्तिवृत्तयो वा?

तत्र पूर्वपक्षाभिप्रायसंक्षेपस्तु : द्रव्यादिव्यतिरिक्ताः जातयो अभ्युपगन्तव्याः इति. आकृतिव्यंग्यमनुष्यजात्यन्तर्गताः अनाकृतिव्यंग्याअपि तत्तद्वर्णिविशुद्धमातापितृ-जातत्वज्ञानविशिष्टमाणवकसमवेताः ब्राह्मणत्वादिजातयोऽपि सम्भवन्त्येव इति. तस्माद् जातिवर्णयोः प्रभेदोऽपि परापरजातिरूपएव नच अन्यथा. संशयस्य द्वितीयस्यां कोटौ ताइमाः जातयो नित्यानेकानुगताः वर्णरूपाः जन्मनैव इति. तस्माद् वर्णसांकर्ये वा संस्कारकर्मवृत्त्यादिलोपे वा संस्कारकर्मादिलोपादृष्टहेतुकः स्वस्ववर्णाभिव्यञ्जकानां शरीराम्भकाणूनां नाशादेव ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यरूपद्रव्यनाशो न पुनः जातीनां नाशो नित्यत्वादेवेति. नहि नित्यानां जातीनां विनाशो नाम अन्यः कश्चित् मन्तुं युक्तः. इत्येवमाद्यभिप्रायकां पूर्वपक्षी स्वयुक्तिम् उपसंहरति **तस्माद् ब्राह्मणत्वादिकं** इत्यारभ्य **देवतात्वकल्पनम् अन्याय्यमेव** इत्यन्तं यावत्.

इह सिद्धान्त्यभिमताः कोटयस्तु : सद्द्रव्येषु सत्तादिरूपाः नित्यानेकानुगताः जातयो स्वाधारद्रव्यतो भिन्नाः भवितुं न अर्हन्ति. नहि आकृतेः पृथक् पररूपा मनुष्यजातिः काचन भवति यदन्तर्भूताः वा अपराः अनाकृतिव्यंग्याः ब्राह्मणत्वादिजातयो नाम सम्भवेयुः. ततो ब्राह्मणत्वादयो वर्णाएव. तस्माद् जातिवर्णौ एकएव पदार्थौ न मन्तव्यौ. इति आद्याः कोटयः.

द्वितीयस्यान्तु संशयकोट्यां : तत्तद्वर्णिनां पितॄणां बीजेभ्यः सकाशात्

(सिद्धान्तोपक्रमः)

इति प्राप्ते उच्यते —

न जातिर् ब्राह्मणत्वादि व्यक्तिं सन्त्यज्य [पा.भे.७] **निर्गमात्** [पा.भे.८] **।।**
अन्यागमात् च सम्बन्धस्याशक्यवचनत्वतः।।३।।
नियतव्यञ्जकाभावाद् वाक्यानां च विरोधनात्।।
ततः स्फुटं देवतात्वं प्रमाणानां समन्वयात्।।४।।

तत्तद्वर्णिवंशक्षेत्रभूतानां मातॄणां गर्भेभ्यो माणवकानां प्रसवे सति तत्तद्वर्णवंशजान् अधिकृत्य शास्त्रेषु विहितानां वर्णानुकूलसंस्काराणां सम्पादनेन तेषु स्वरूपयोग्यताएव केवला प्रादुर्भवति. फलाभिमुखवर्णितातु तत्तत्कर्मवृत्त्यादिनिर्वाहे तत्तद्वर्णाभिमानिदेवतावेशादेव. तस्माद् वर्णाः जन्मकर्मोभाभ्यामेव न केवलेन जन्मना. तास्तु देवताः संस्कारकर्मवृत्त्यादिभिः प्रादुर्भूय अवस्थिताः स्वरूपतो नित्यत्वेऽपि आवेशतो हि अनित्याः, तत्तद्व्यक्तिवृत्तयः च इति. तासां पूर्णाभिव्यक्तौ पूर्णैव तत्तद्वर्णानां गुणकर्मस्वभावाभिव्यक्तिः. अन्यथा आवेशतारतम्यात् गुणकर्मस्वभावतारतम्यं च. तेन कदाचिद् गुणकर्माद्यनिर्वाहे अल्पनिर्वाहे वा देवतावेशहानिरपि सम्भवति. इत्येवंरूपं सिद्धान्तपक्षं प्रतिपादयितुम् इदानीम् उपक्रमन्ते **इति प्राप्ते उच्यते** इत्यादिना.

*ननु ब्राहमणत्वादेः जातित्वाभावे मनुयाज्ञवल्क्यस्मृत्योः ''**हत्वा गर्भम् अविज्ञातम् एतदेव व्रतं चरेद्**''(मनुस्मृ.११।८७), ''**चरेद् ब्रह्महणो व्रतं गर्भहा च यथावर्णं तथा आत्रेयीनिषूदकः**''(याज्ञ.स्मृ.३।५।२४५) इति भ्रूणस्य वा आसन्नगर्भाधानायाः गर्भिण्याः वा वधे तत्तद्वर्णवधप्रायश्चित्तातिदेशो अपार्थकः स्याद्* इति चेत् न, भावानवबोधात्. तथाहि : भ्रूणस्य आसन्नगर्भायाः वा गर्भिण्याः वा तत्तद्वर्णिताभावेऽपि तेषां वधेषु तत्तद्वर्णिपुरुषवधपापसमत्वस्य अतिदेशायैव एवंविधानि वाक्यानि प्रवृत्तानि अंगीकरणीयानि. अन्यथा एतयोरेव वाक्ययोः ''**राजन्यवैश्यौ च ईजानौ**'', ''**यागस्थक्षत्रविड्घाते चरेद् ब्रह्महणो व्रतम्**'' (तत्रैव) इति ब्राह्मणवर्णे अजातयोरपि राजन्य-वैश्ययोः यज्ञार्थदीक्षितत्वे सति तयोः वधे ब्रह्महत्यापातकश्रवणेन तयोरपि ब्राह्मण्यापत्तिः दुष्परिहरैव भवित्री.

*ननु "**चत्वारो वर्णाः... तेषां पूर्वः-पूर्वो जन्मतः श्रेयान्... अशूद्राणाम् अदुष्टकर्माणाम् उपनयनं वेदाध्ययनम् अग्न्याधेयं फलवन्ति च कर्माणि... वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यं, गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणं, गर्भैकादशेषु राजन्यं, गर्भद्वादशेषु वैश्यम्**'''' (आप.ध.सू.१।१।४-१९) इति वचनाद् उपनयनात् प्रागपि शूद्रेतरवर्णेषु जन्मतः यथापूर्वं श्रेष्ठत्वस्य उपगमात्, वसन्तादिषु ऋतुषु गर्भाष्टमादिवयस्सु च ब्राह्मणादीन् उद्दिश्य उपनयनादिसंस्काराणां विधानाच्च, जन्मनैव वर्णसिद्धिः* इति चेद् —

अत्र ब्रूमः : नहि वंशतः श्रैष्ठ्यं ब्राह्मणादिमाणवकानां ब्राह्मणादिवर्णसद्भावे मानम् अन्यथा इहैव '**अदुष्टकर्माणाम्**' इति विशेषणं तथाच "**शरीरमेव मातापितरौ जनयतः**" (तत्रैव.१।१।१८) इति वचनेच इतरव्यावर्तकः 'एव'कारोऽपि अपार्थकः स्यात्. नापि *ब्राह्मणादीन् उद्दिश्य उपनयनादिसंस्कारविधानाद् जन्मनैव वर्णसिद्धिः* इति भ्रमितव्यं, यस्माद् योहि "ब्राह्मणम् उपनयीत" इति उक्त्या उपनयनात् प्राग् ब्राह्मण्यं मनुते स कदाचिद् "**उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्**" (मनुस्मृ.३।४) इति वचनोपलम्भेन विवाहात् पूर्वमेव भार्यात्वमपि मन्वीत. यदितु विवाहात् पूर्वमपि भार्यात्वं तत् स्वस्य वा परस्य वा भवेद्? न तावत् स्वस्य, विवाहवैयर्थ्यात्. नापि परस्य, अधर्मापत्तेः. तस्माद् यथा "**प्रजापतिः प्रजाः असृजत**" (तैत्ति.ब्राह्म.२।३।१) इत्यत्र याः सिसृक्षितत्वेन विवक्षिताः ताः खलु प्रजाः भवन्ति. नहि याः प्रजाः पूर्वसिद्धाः ताएव प्रजेतरभावापत्तये अन्यथा सृज्यन्तइति. तथैव इहापि अवगन्तव्यम्. नच *इह श्रूयमाणं भार्यायाः सवर्णात्वम् कथंकारम् उपपद्येत? तस्यास्तु उपनयनादिसंस्काराभावाद्* इति प्रष्टव्यम्, उपनयनाद्यभावेऽपि "**बैजिकं गार्भिकं च एनो द्विजानाम् उपमृज्यते**", "**तूष्णीम् एताः क्रिया स्त्रीणां विवाहस्तु समन्त्रकः**" (मनुस्मृ.२।२७,याज्ञ.स्मृ.१।२।१३) इति ब्राह्मणादिवर्णाधिकारकगर्भाधानादिसंस्कारैः गौणसवर्णात्वसिद्धेः अवश्यंकल्पनीय-त्वात्. सर्वथापितु "**ब्रह्म देवान् अजनयत्. ब्रह्म विश्वम् इदं जगत्. ब्रह्मणः क्षत्रं निर्मितम्. ब्रह्म ब्राह्मणः आत्मना**" (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।८।९) इत्यस्य व्याख्याने यद् सायणमाधवः "**यद् जगत्कारणं ब्रह्म तदेव देवान् इन्द्रादीन् अजनयद्...**

ब्रह्मणः सकाशात् क्षत्रं निर्मितं क्षत्रियजातिः निर्मिता. यत् परं ब्रह्म तद् आत्मना स्वस्वरूपेणैव ब्राह्मणो अभवद्. अस्ति हि ब्राह्मणशरीरे परब्रह्मणः आविर्भावविशेषः'' (तत्रैव) इति आह तत् न विस्मरणीयम्. तस्माद् मनुरपि आह ''लोकानान्तु विवृध्यर्थं मुखबाहूरूपादतः ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्'' (मनुस्मृ.१।३१) इति. नच इह सार्वत्रिकाः सार्वकालिकाः ब्राह्मणादयो ब्रह्माण्डमूर्तेः मुखबाहूरूपादेभ्यो जायमानाः दृश्यन्ते. नापिच एवं जायमानाः ते सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायमानत्वेन तथा-तथा जातिमन्तो भवेयुः. अपिच व्यक्तयो न किन्तु जातयस्तु जायेरन्नेव इति अंगीकारेतु जातीनां नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं बाधितं स्यात्, समवायिधर्मिणां द्रव्याणामेव अभावात् तत्समवेतानां नित्यानां धर्माणामपि सर्जनासम्भवात्. तस्माद् अकामेनापि इत्थंभूतेषु वचनेषु तत्तद्वर्णाधिष्ठातृदेवसृष्टिरेव अंगीकार्या. तस्मात् स्वाश्रयीभूतेभ्यो द्रव्येभ्यो भिन्नाः नित्यानेकसमवेताः इति जात्यभ्युपगतिस्तु श्रुतिविरुद्धैव.

ननु समानाकारबुद्ध्यालम्बनाः हि जातयो भवन्ति. तास्तु प्रत्यक्षसिद्धाः, अथ ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' (छान्दो.उप.६।९।४) इति श्रुतेः इदमास्पदस्य प्रत्यक्षदृष्टस्य सर्वस्यापि जगतो ब्रह्मात्मकत्वे अभ्युपगते कथन्नु जगदन्तर्गते प्रत्यक्षावगते द्रव्यादौ हि नित्यानेकानुगतस्य घटत्व-ब्राह्मणत्वादिरूपस्य धर्मणो अपलापः सम्भवेत्? नहि अनेकानुगताः धर्माः नैव भवन्तीति नापि ते तथाभूताः सन्तो नित्याः नो भवेयुः इति इति चेत् —

सुबुद्धिरसि सुपन्थानम् आरूढोऽसि! नहि ब्रह्मवादे ब्रह्म निर्धर्मकं स्वीक्रियते किन्तु ब्रह्मधर्माः स्वाधारतो नातीव भिन्नाअपि भवन्ति, भेदसहिष्णवभेदस्यैव 'तादात्म्य'पदार्थतया अंगीकाराद् जातिद्रव्ययोः आत्यन्तिकभेदनिराकरणएव अस्माकं भरः. नच *किम् अतः आयातं यदि एतद् एवम्* इति कथनीयं, स्वद्रव्यैः सह अयुतसिद्धाः हि जातयो नित्यधर्मतया तत्समवेताः अनेकनित्यानित्याश्रयानुगताः मन्यन्ते. सजातीयविजातीयस्वरूपगतभेदहीनस्य सद्रूपस्य ब्रह्मणस्तु ऐक्येऽपि ब्राह्मणादिवर्णाभिमानिन्यो अधिष्ठातृदेवताः भगवतो मुखबाहूरूपादेषु समवेताः न

स्वाधारभेदापादिकाः. तद् उक्तं श्रुतिषु —

"सत्त्वेव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय" (छान्दो.उप.६।२।३).

"तद्ध इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत्. तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते" (बृह.उप.१।४।७).

"प्रजापतिः प्रजाः असृजत. ताः सृष्टाः समश्लिष्यन्. ताः रूपेण अनुप्राविशत्. तस्माद् आहुः रूपं वै प्रजापतिः. ताः नाम्ना अनुप्राविशत्. तस्माद् आहुः नाम वै प्रजापतिः" (तैत्ति.ब्राह्म.२।२।७।१).

"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... सर्वाणि रूपाणि... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्" (बृह.उप.१।६।१-३).

"पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्, उत अमृतत्वस्य ईशानो यद् अन्नेन अतिरोहति... ब्राह्मणो अस्य मुखम् आसीद् बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत" (ऋक्संहि.१०।९०।२-१२).

"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादि.

तस्माद् भगवन्नाम-रूप-कर्मात्मकतया सर्वस्यापि जगतः परस्परं तादात्म्यम्. सृष्टौतु यस्मिन् स्वांशभूते द्रव्ये येन नाम्ना, येन रूपेण, येन कर्मणा वा स लीलां कर्तुम् इच्छति तस्मिन् स्वांशभूते द्रव्ये तत्तन्नामरूपकर्मणाम् आविर्भावो अन्येषान्तु तिरोभावः. इत्येवं वस्तुनि जातिव्यक्तिविभागस्य —

"जातिव्यक्तिविभागो अयं यथा वस्तुनि कल्पितः"
(भाग.पुरा.६।१५।८).

(ब्राह्मणत्वादीनां गमागमदर्शनेन जातिव्यक्तिसम्बन्धानुपपत्तेः न जातित्वम्)

तथाहि—ब्राह्मणत्वादिकं यदि जातिः स्याद् व्यक्तिम् अपहाय न अपेयात्.[पा.भे.९] पूर्वं सिद्धायां व्यक्तौ पश्चात् किञ्चित्कालानन्तरं न आगच्छेत् च. एवं निश्चिते गमागमे तत्सम्बन्धस्य अयुतसिद्धत्वाभावात् तत्र समवायलक्षणाभावेन असम्बन्धदोषात् च. ब्राह्मणत्वादौ जातित्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच गमागमयोः मानाभावः शंक्यो, विश्वामित्रस्थले सांकर्यवारणाय[पा.भे.१०] जातिचतुष्टयादिकं स्वीकुर्वता भवतैव क्षत्रियत्व-तद्व्याप्य-विश्वामित्रत्वयोः गमनस्य ब्राह्मणत्व-तद्व्याप्य-विश्वामित्रत्वयोः पश्चाद् आगमनस्य अंगीकारात्. नच *क्षत्रियत्वनिवृत्तौ सा व्यक्तिरपि निवर्तते, ततो ब्राह्मणत्वे व्यक्त्यन्तरमेव उत्पद्यते अतो न गमनागमनदोषः* इति वाच्यं, पूर्वव्यक्त्यारम्भकावयवविघटनं विना तद्व्यक्तिनाशस्य अवयवान्तरागमनं विना व्यक्त्यन्तरोत्पत्तेः च प्रमाणशून्यत्वात्.

> **"न यद् इदम् अग्रे आस, न भविष्यद्, अतो निधनाद् अनुमितम् अन्तरा त्वयि विभाति मृषा एकरसे. अतः उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथैः वितथमनोविलासम् ऋतम् इति अवयन्ति अबुधाः"** (भाग.पुरा.१०।८४।३७).

इति वाक्याभ्यामपि जातिमात्रस्य विकल्पतया निर्देशादपि तस्याः अज्ञानकल्पितत्वसिद्धेः ब्राह्मणत्वादयोऽपि न जातिरूपाः. अतो वर्णाएव श्रुत्यादिशास्त्रोदितवंशसंस्कारकर्मवृत्त्याद्यनुष्ठाननिष्ठे तत्तत्पुरुषे **"गार्भैः होमैः जातकर्मैः चौडमौञ्जिनिबन्धनैः बैजिकं गार्भिकं च एनो द्विजानाम् अपमृज्यते. स्वाध्यायेन व्रतैः होमैः त्रैविद्येन इज्यया सुतैः महायज्ञैः च यज्ञैः च ब्राह्मी इयं क्रियते तनुः"** (मनुस्मृ.२।२७-२८) इति देवतावेशजगुणकर्मस्वभावरूपाः इति श्रौतं मतं प्रतिपादयितुम् आहुः **तथाहि—ब्राह्मणत्वादिकं यदि जातिः स्याद् व्यक्तिम् अपहाय न अपेयाद्** इत्यादिना. न जातु जातिवादिमते विद्यमाने घटे तस्माद् घटत्वजातेः अपगमः शक्यः, पटादेः वा तत्र आगमः इति वक्तुं मन्तुं वा युक्तम्. ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यां जाते पुरुषे जन्मनैव चेत् सिद्धा ब्राह्मणता अलं तदा अन्तर्गड्डुभूतैः गार्भैः होमादिसंस्कारैः तनोः ब्राह्मीकरणेन ?

ब्राह्मणत्वादिवर्णानान्तु क्वचित् संस्काराभावाद्, यथाहि "**आषोडशाद् द्वाविंशात् च चतुर्विंशात् च वत्सराद् ब्रह्मक्षत्रविशां कालः औपनायनिकः परो, अतः ऊर्ध्वं पतन्ति एते सर्वधर्मबहिष्कृताः सावित्रीपतिताः व्रात्याः**" (याज्ञ.स्मृ.१।२।३७-३८) इति अपगमः.

तथा तत्तद्वर्णोचितदेहसंस्कारैः संस्कृतस्यापि स्वकर्मानिर्वाहाद् "**न तिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमां स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः**" (मनुस्मृ.२।१०३) इति वर्णापगमः.

क्वचित् पुनः अस्वकर्मपरतायामपि "**यो अनधीयत्य द्विजो वेदम् अन्यत्र कुरुते श्रमं स जीवन्नेव शूद्रत्वम् आशु गच्छति सान्वयः**" (मनुस्मृ.२।१६८) इति वर्णापगमः प्रतिपादितः.

तथैव संस्कृतस्य नरस्य स्वकर्मपरायणस्यापि कदाचिद् निषिद्धकर्माचरणे "**शूद्रां शयनम् आरोप्य ब्राह्मणो याति अधोगतिं तस्यां तनयम् उत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते**" (मनुस्मृ.३।१७) इति ब्राह्मण्यहानिः द्योतिता.

क्वचित्तु पुनः "**चितिं च चितिकाष्ठं च यूपं चण्डालमेव च स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलम् आविशेद्**" (बृह.नार.पुरा.१।२६।३१) "**नष्टं देवलके दत्तम्**" (मनुस्मृ.३।१८०) इति वचनात् श्रीमदाचार्यकुलजातानां सर्वथा शुद्धानामपीव वित्तलाभाय भगवत्सेवानुष्ठाने महापातित्यकारिदेवलकत्वेन ब्राह्मण्यहान्या अस्पृश्यतैव. यथावा जनतासु वैष्णवयागत्वप्रख्यापनेन अन्नकूटषट्पञ्चाशत्सामग्रीप्रदर्शनोत्सवायोजकानां तदर्थं च अनुपनीतजनेभ्यो द्रव्यप्रतिगृहीतॄणां "**चण्डालो जायते यज्ञकरणात् शूद्रभिक्षिता**" (याज्ञ.स्मृ.१।५।१२६) इति उक्तेः ब्राह्मण्यहान्या चण्डालतैव ध्रुवा.

एवमेव अस्ववृत्त्या आजीविकोपार्जनपराणामपि ब्राह्मण्यादिवर्णहानिः शास्त्रेषु बहुशो निरूपिता तथाहि "**याजयन्ति च ये पूगान्... चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणः तथा विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युः हव्यकव्ययोः**"

नच *तपोबलेनैव विघटनागमनयोः सम्भवः* इति वक्तुं युक्तं, तथा सति ब्राह्मणमैत्रावरुणवाशिष्ठमिश्वामित्रे गोत्रान्तरस्य आपातात्. नच न तद् वक्तुं शक्यं, **''यो रातो देवयजने देवैः गाधिषु तापसो, 'देवरातः' इति ख्यातः शुनःशेफस्तु भार्गवः''** (भाग.पुरा.९।१६।३२) इति ब्राह्मणविश्वामित्रपुत्राणां गाधिगोत्रत्वकथनस्य, **''एवं कौशिकगोत्रं तद् वैश्वामित्रैः पृथक् कृतं प्रवरान्तरम् आपन्नं तद्धि चैवं प्रकल्पितम्''** (भाग.पुरा.९।१६।३७) इति कौशिकगोत्रत्वकथनस्य च विरोधापत्तेः. ब्राह्मणविश्वामित्रस्य गाधिगोत्रत्वादिकं विना तत्पुत्रेषु तद्गोत्रत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. अतः पूर्वव्यक्तिनिवृत्त्यादेः अप्रामाणिकत्वात् क्षत्रियत्वब्राह्मणत्व-योरेव गमागमभावौ अवश्यं वक्तव्यौ.[पा.भे.११] **''ये मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः कुशलं मेनिरे न तद् अशपत् तान् मुनिः क्रुद्धो म्लेच्छाः भवतः दुर्जनाः''** (भाग.पुरा.९।१६।३३) इति पञ्चाशतानां ज्यायसां शापेन म्लेच्छत्वकथनात् च. तस्माद् असंगतैव एषा कल्पना.

(मनुस्मृ.३।१५१-१५२) इति निषिद्धवृत्त्या वर्णापगमः. अतएव श्रीमद्भागवते **''वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् हित्वा स्वभावजं कर्म शनैः निर्गुणताम् इयात्... यस्य यद् लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकं यद् अन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्''** (भाग.पुरा.७।११।३२-३५) इति वचनाद् विशुद्धमातापितृक-ब्राह्मणस्यापि अर्थोपार्जनार्थं अस्ववृत्त्या भगवदाराधने हि देवलकलक्षणाक्रान्तत्वम्. तेनच या चण्डालोपमाशुचिः सा तादृग्बीजहेतुकताविनिर्देशे हेतुः.

नच *एवं बहुभिः हेतुभिः निरूप्यमाणो ब्राह्मणत्वाद्यपगमएव. नच एतावता वर्णबाह्येषु ब्राह्मणत्वादिवर्णागमो वक्तुं युक्तः* इति प्रत्यवस्थातव्यं, **''शूद्रायां ब्राह्मणाद् जातः श्रेयसा चेत् प्रजायते अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छति आसप्तमाद् युगात्. शूद्रो ब्राह्मणताम् एति ब्राह्मणः च एति शूद्रतां... अनार्यायां समुत्पन्नो ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ब्राह्मण्यामपि अनार्यात्तु क्व इति चेद् भवेद्, जातो नार्याम् अनार्यायाम् आर्याद् आर्यो भवेद् गुणैः जातोऽपि अनार्याद् आर्यायाम् अनार्यः इति निश्चयः''** (मनुस्मृ.१०।६४-६७) इति अपगमवद् वर्णागमोऽपि प्रतिपादितएव. तत्र किञ्चिद् आशंक्य निराकुर्वन्ति **नच तपोबलेनैव विघटनागमन...**

इति. यद् इह *धर्मप्रदीपकारैः* —

> "[१]वस्तुतस्तु विश्वामित्रस्यापि ब्रह्मर्षित्वमेव प्राप्तं न ब्राह्मणजातिः... [२]महर्षीणां मन्त्रप्रभावसध्रीचीनसंकल्पविशेषोऽपि जातिपरिवर्तने पर्याप्तएव... [३]नहि वयमपि संस्कारविशेषैः ब्राह्मण्यं जायते इति वदामः किन्तु विद्यमानं ब्राह्मण्यम् अभिव्यज्यते इति. विद्यमानयोग्यताभिव्यञ्जकमेव खलु संस्कारकर्म भवति. अतएव घर्षणादिकम् आदर्शस्य 'संस्कारकर्म' इति व्यपदेशः... अत्र अयं निष्कर्षः : [४]जन्ममात्रेण ब्राह्मण्यं कर्मणातु वर्णत्वम् इति. अस्तु वा [५]क्षत्रियाणाम् अम्बरीषादीनां गर्गादिसंकल्पविशेषेण ब्राह्मण्यम् आसीद् इति. नहि तावता अस्मदादिसंकल्पविशेषेण जातिपरिवर्तनं सम्भवति. एतेन 'यवीयांसः एकाशीतिः जायन्तेयाः पितुः आदेशकराः ब्राह्मणाः बभूवुः" इति ऋषभयोगिपुत्राणां कर्मणा ब्राह्मण्यप्रतिपादकं श्रीमद्भागवतवाक्यमपि व्याख्यातं, भगवदिच्छायाः अपर्यनुयोज्यत्वात्... [६]भ्रष्टाचाराणामपि विप्राणां न जातिपरिवर्तनेन वस्तुगत्या शूद्रत्वं किन्तु पंक्तिदूषकत्वादिकमेव गम्यते. शूद्रसमत्वं च अत्र बोधितम् अमन्त्रककर्माधिकारादिनापि अनुसन्धेयम्" (ध.प्र.जातितत्त्वप्रकाशे पृ.६७-११६).

इति यद् उट्टंकितं तद् न युक्तम्. कुतः? इति चेद् अत्र [१]विश्वामित्रादेः न ब्राह्मणत्वं किन्तु ब्रह्मर्षित्वम् इति यत् कल्प्यते तत् कस्य हेतोः? जन्मना सिद्धस्य विपरीतगुणकर्मभिः विलोपासम्भवाद् इति चेत् तदा "**शनकैस्तु क्रियालोपाद् इमाः क्षत्रियजातयः वृषलत्वं गताः लोके ब्राह्मणादर्शनेन च. पौण्ड्रकाः चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः पारदाः पह्लवाः चीनाः किराताः दरदाः खशाः, मुखबाहूरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः म्लेच्छाः च आर्यवाचः च**" (मनुस्मृ.१०।४३-४५) इति बाहुजातानां वृषलानां पौण्ड्रकादिखशान्तानामपि वर्णाः मा भित्सत. ततो [६]भ्रष्टाचाराणामपि एतेषां क्षत्रियाणां न जातिपरिवर्तनेन वस्तुगत्या

वर्णापसदत्वं किन्तु पंक्तिदूषकत्वादिकमेव भवतु. भवतु च एषामपि केवलं क्षात्रकर्मानधिकारः. इष्टापत्तौतु व्रात्यप्रायश्चित्तेन ''**तेषाम् इच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेद् अथ उपनयनं ततः उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः**'' (आप.ध.सू.१।१।६) इति सूत्रोपदिष्टेन एतासामपि जातीनां पुनःसंग्रहे बाधाभावापत्तिः. नापि इहापि इष्टापत्तिः शक्यकल्पना, यस्माद् एवन्तु कर्मणैव जातिवादः आपद्येतेति घट्टकुट्यां प्रभातः सञ्जायेत.

किञ्च [२] ''महर्षीणां मन्त्रप्रभावसध्रीचीनसंकल्पविशेषोऽपि जातिपरिवर्तने पर्याप्तएव'' हेतुः इति यद् उक्तं तत्रापि इदं विशिष्य अवगन्तव्यं यद् एतेष्वपि कतिचनाः शमदमाद्युपेताः साक्षात्कृतधर्ममन्त्रदेवाः यदि स्युः तदा तेषामपि संकल्पात् तदनुगामिनां पापनिरसनं च कुतो न सम्भवेत्? नहि अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधिपतिः परमेश्वरो वर्णापसदान् स्वीयेशितव्यान् न मनुते. अथ स्वीयेशितव्यत्वेऽपि एतेषां वर्णभ्रंशकरकर्मणो अपराधिनएव मनुते चेत् तदा क्व अपगतं तस्य दयालुत्वम्. सत्यान्तु दयायां भारतदेशप्रभवान् व्रात्यान् यथा प्रायश्चितेन प्रसन्नो भूत्वा उद्धरति तथा एतानपि वृषलान् किमिति नोद्धरेत्? नच * उद्धरणानुद्धरणे हि तत्संकल्पजे! तत्र के वयं वराकाः तादृक्सामर्थ्याभावेऽपि वृषलोद्धारसंकल्पे भ्रमाद् रममाणाः? * इति वाच्यं, नहि तादृक् सर्वोद्धारसामर्थ्यम् अस्मासु केषुचन वर्ततइति अहंकृत्य वर्तितव्यं किमुत ''**अथ कस्माद् उच्यते 'भगवान् महेश्वरः'? यस्माद् भक्तान् ज्ञानेन भजति अनुगृह्णाति च, वाचं संसृजति, विसृजति च सर्वान् भावान्... आत्मज्ञानेन योगेन ऐश्वर्येण महति महीयते. तस्माद् उच्यते 'भगवान् महेश्वरः'**'' (अथर्वशि.उप.४) इति श्रुतिवाक्यात् ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्**'' इति भगवद्गीतावाक्यात् च अस्मादृशैः अल्पमतिभिः परिकल्पितो यः शास्त्राशयः तेन परमेश्वरनिष्ठस्य निरंकुशस्य स्वांशभूतजीवोद्धारसामर्थ्यस्य अपोहनन्तु अन्याय्यमेव.

अपिच [३] संस्कारविशेषैः ब्राह्मण्यं न जायते किन्तु विद्यमानं ब्राह्मण्यम् अभिव्यज्यते इति. विद्यमानयोग्यताभिव्यञ्जकमेव खलु संस्कारकर्म भवति'' इति

यद् उक्तं तदपि न समीचीनं, ''**बैजिकं गार्भिकं च एनो द्विजानाम् उपमृज्यते**'' (मनुस्मृ. २।२७) इति वचनात् गर्भाधानपुंसवनसंस्कारयोः बैजिकगार्भिकयोरपि एनसोः दूरीकरणेनैव शुद्ध्याधायकत्वं न पुनः बीजगर्भयोः विद्यमानायाः शुद्धेरेव अभिव्यञ्जकत्वम्.

यच्चापि उक्तं [४]''जन्ममात्रेण ब्राह्मण्यं कर्मणातु वर्णत्वम्'' इति तत्तु ''**उत्पादक-ब्रह्मदात्रोः गरीयान् ब्रह्मदः पिता. ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य च इह च शाश्वतम्. आचार्यस्तु अस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या सा अजरा अमरा**'' (मनुस्मृ. १।१४६-१४८) इत्येवमादिवचनेषु 'ब्रह्मक्षत्रविट्शूद्र'पदानां 'चतुर्वर्ण'पदस्य चेति उभयोः एकार्थसामानाधिकरण्याद् न बहु आदरणीयं भवति.

यदपि [५]''क्षत्रियाणां नृगाणां ऋष्यादिसंकल्पविशेषेण ब्राह्मण्यम् आसीद् इति. नहि तावता अस्मदादिसंकल्पविशेषेण जातिपरिवर्तनं सम्भवति'' इति उक्तं तत्तु ''**यो अनधीत्य द्विजो वेदम् अन्यत्र कुरुते श्रमं स जीवन्नेव शूद्रत्वम् आशु गच्छति सान्वयः**'' (मनुस्मृ. २।१६८) इति, ''**शूद्रां शयनम् आरोप्य ब्राह्मणो याति अधोगतिं तस्यां तनयम् उत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते**'' (मनुस्मृ. ३।१७) इति च वचनाभ्यां स्वसंकल्पितदुर्वृत्तैः वर्णापगमस्य उक्तत्वेन तत्र यथा न ऋष्यादिशापादेरेव हेतुता तथा वर्णागमेऽपि न तेषां संकल्पादेरेव हेतुता.

तस्मात् मूलग्रन्थोपदर्शितदिशया विश्वामित्राद्युदाहरणे वर्णयोः गमागमौ तपोबलेन स्याताम्. सिद्धानां मुनीनां देवानां वा शापानुग्रहाभ्यां वा तौ भवताम्. अथवा कल्पसूत्रधर्मसूत्रस्मृत्याद्युक्तसंस्कारतदभावैः वा स्वकर्मवृत्तिपरिपालनास्वकर्मवृत्तिभ्यां वा तौ भवताम्. आहोस्विद् इतरैरपि निन्दितानिन्दितवृत्तैः गमागमौ जायेयातां यथाकथञ्चिदपि समानायां व्यक्तौ वर्णानां गमापगमौ सर्वथा उपपन्नावेव तत्र न काचित् शंका. तस्मात् न वर्णः समानरूपप्रसवात्मिका जातिः नापि नित्यानित्यानेकद्रव्यादिवर्तिनी नित्यसामान्यरूपा वा जातिः भवितुं शक्नोति. अतो

*ननु कालकृतस्य नित्यप्रलयस्य पुराणेऽपि अंगीकारेण प्रतिक्षणं व्यक्त्यन्तरस्य प्रमाणसिद्धत्वाद् अत्रापि व्यक्त्यन्तरांगीकारे को दोषः? * वाच्यं (? इति चेत्!) तत्र अवस्थाभेदेन व्यक्त्यन्तरत्वेऽपि अवयवसन्तानकस्य एकजातीयत्वेन 'सोऽयम्' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाः[पा.भे.१२] एकत्वज्ञानस्य च उपपत्त्या दोषाभावात्. प्रकृतेच क्षत्रियत्वविरुद्धब्राह्मणत्वांगीकारेण अवयवसन्तानस्यापि वैजात्ये प्रत्यभिज्ञाभावैकत्वज्ञानाभावयोः आपत्तेरेव दोषत्वात्. यदिच अत्रापि मनुष्यत्वादिना केनचिद् धर्मेण अवयवसन्तानसाजात्यम् अंगीकृत्य प्रत्यभिज्ञादिकम् उपपाद्यते तदातु नित्यप्रलयवद् बाल्याद्यवस्थामात्रं भिद्यते[पा.भे.१३] नतु अन्यदिति सांकर्याभावो दुरुपपादएव इति सूक्ष्मेक्षिकया विभावनीयम्.

नित्यप्रलयहेतुभूतकालकृतया व्यक्त्यन्तरकल्पनयापि ब्राह्मणत्वादीनां जातित्वम् उपपादयितुं न शक्यमिति शंकां निरसयन्तः आहुः **ननु कालकृतस्य** इत्यादिना. नच * विश्वमित्रद्वयासम्भवे द्विविधं ब्राह्मण्यम् अंगीकर्तव्यं : एकम् अदृष्टजन्यतावच्छेदकं सर्वब्राह्मणसाधारणं, तेन ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्याम् अजातानामपि संग्रहः. अपरञ्च ब्राह्मणत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकं अदृष्टविशेषजन्यं निखिलब्राह्मणपितृकब्राह्मणसाधारणम्. एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि ज्ञेयम्. तेन सामान्यविशेषान्यतरादृष्टजन्ये सर्वब्राह्मणानुगतसामान्ये ब्राह्मणत्वे सिद्धे सति ब्राह्मणत्वजातिरेव 'ब्राह्मण'पदप्रवृत्तिनिमित्ततया आश्रीयेत. अन्यथा उपाधीनां बहुत्वाद् 'ब्राह्मण'पदप्रवृत्तिनिमित्ताभावप्रसंगापत्त्या कल्पनागौरवदोषोऽपि * इति आक्षेप्तव्यं, श्रुत्याद्युदितयज्ञादिधर्मावक्लृप्तानां पदार्थानां पारिभाषिकतया शास्त्रीयपरिभाषानुकूलमेव पदप्रवृत्तिनिमित्तम् अन्वेष्टव्यम्. अन्यथा श्रौताग्नि-स्मार्ताग्नि-महानसाग्नि-श्मशानाग्न्युदाहरणेष्वपि लाघवविचाराग्रहेण एकस्मिन्नेव कस्मिंश्चित् पदप्रवृत्तिनिमित्ते कल्प्यमाने गोमयपायसन्यायेन अपदार्थएव अवभायात्. अतएव याज्ञवल्क्योऽपि आह **"ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः वर्णास्तु, आद्याः त्रयो द्विजाः, निषेकादिश्मशानान्ताः तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः"** (याज्ञ.स्मृ.१।२।१०) इति. नच इह ब्रह्मक्षत्रियविषां जातितो निषेकादिश्मशानान्ताः क्रियाः उपदिष्टाः प्रत्युत **"मातुः यद् अग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ब्राह्मणक्षत्रियविशः तस्माद् एते द्विजातयः"** (याज्ञ.स्मृ.१।२।३९) इति परिभाषया उपनयनसंस्कारादिभिः द्विजत्वम् उद्घुष्टम्. एतेन समन्त्रकया हि क्रियया संस्काराधाने द्विजता भवति इति कल्पना युक्ता. अतो द्विजत्वे त्रयाणां पदप्रवृत्तिनिमित्तमपि पारिभाषि-

कमेव परिकल्पनीयम्. नच * समन्त्रकक्रियया संस्काराधानेन जातत्वात् मा भूद् द्विजत्वं जन्मना ब्राह्मणत्वादयस्तु तथैव अंगीकार्याः, चतुर्णामपि तेषां **''चत्वारो वर्णाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः''** (आप.ध.सू.१।१।४) इति सहैव परिगणनाद्, **''एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः''** (पाणि.परि.१७) इति न्यायेन शूद्रत्वस्य जन्मना अभ्युपगततया तेन सह निर्दिष्टानां शिष्टानां ब्राह्मणत्वादीनामपि जन्मनैव अंगीकारो युक्तः* इति मन्तव्यं, **''ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णाः द्विजातयः चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रः''** (मनुस्मृ.१०।४) इति स्मृतिवचने चतुर्षु वर्णेष्वेव द्विजात्येकजात्योः विभज्य वर्णनाद् 'एकनियोगनिर्दिष्ट'न्यायस्य अत्र असञ्चारात्.

किञ्च पशुपक्ष्यादिषु हि अश्वमयूरादीनां याः काश्चन अवान्तरजातयो भवन्ति तत्र स्त्रीपुंसोः समानजातीयता दृष्टा. तथा मनुष्यजात्यवान्तरभूताः चेद् ब्राह्मणत्वादिद्विजजातयः तदा ताभिरपि स्त्रीपुंसोः समानजातीयतया भवितव्यम्. अथ एवमेव ताः भवन्ति चेद् **''अमन्त्रिकातु कार्या इयं स्त्रीणाम् आवृद् अशेषतः संस्कारार्थं शरीरस्य''**, **''नास्ति स्त्रीणां क्रियामन्त्रैः इति धर्मव्यवस्थितिः''** (मनुस्मृ.२।६६, ९।१८) इत्येवमादिवचनेषु शूद्रवद् द्विजकन्यानां संस्कारो अमन्त्रकः कुतः? अथ इयं द्विजत्वजातिः स्त्रिसाधारणा न भवति चेद् **''वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः''** (मनुस्मृ.२।६७) इति वाक्ये विवाहसंस्कारो हि पुनः समन्त्रकः कुतः? तेनैतेन ज्ञायते यद् ब्राह्मणत्वादयो वर्णाः न जातयः. नापि जन्मसिद्धाः किन्तु धर्मशास्त्रोक्तपरिभाषाश्रिताः पारिभाषिकाएव. **''वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः''** (मनुस्मृ.२।६७) इति वचनेन यज्ञादिकर्मसु भर्तृसहभावस्य अधिकारलाभेऽपि ब्राह्मणत्वाभावादेव न ब्रह्महत्यासमो ब्राह्मणीवधइति न तत्र महापातकता. तद् यथा ब्राह्मणवधे **''ब्रह्म हत्या... पातकानि आहुः संयोगं च तैः सह''** (मनुस्मृ.११।४५) इति; अथ एतद्वैपरीत्येन ब्राह्मणीवधेतु **''अकामतः स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणीं वैश्यवत् चरेत्, कामतो द्विगुणं प्रोक्तं, प्रदुष्टायां न किञ्चन''** (प्राय.मयू.पापभेदाः) इति तारतम्योपलम्भादपि न ब्राह्मणत्वादयो जातयः. तद् उच्यते **''चित्रकर्म यथा अनेकैः रंगैः उन्मील्यते शनैः ब्राह्मण्यमपि तद्वद् हि संस्कारैः मन्त्रपूर्वकैः''** (परा.स्मृ.८।२७) इति.

ननु तर्हि मास्तां गमागमौ. तथा सति सांकर्यस्य अबाधकत्वात् सुसिद्धं तेषां जातित्वम् इति चेत्, न, नवमस्कन्धे **''गाधेर् अभूद् महातेजाः समिद्धइव पावकः तपसा क्षात्रम् उत्सृज्य यो लेभे ब्रह्मवर्चसम्''** (भाग.पुरा.९।१६।२८) इत्यत्र तपसा क्षत्रियत्वोत्सर्गस्य ब्राह्मणत्वप्राप्तेः च उक्तत्वेन तद्गमागमयोः प्रामाणिकत्वात्.

समानायां हि व्यक्तौ ब्राह्मणत्वादीनां गमागमाभ्यां सांकर्यस्य जातिबाधकत्वम् गमागमाभावेतु ब्राह्मण्यादीनां जातित्वे न बाधकं किमपि इति आशंक्य परिहरन्ति **ननु तर्हि मास्तां गमागमौ... इति चेत्, न** इत्यादिना. **तर्हि** इति एकस्मिन्नेव विश्वामित्रशरीरे यस्यां खलु शरीरावस्थायां क्षत्रियत्वं न तस्यां ब्राह्मणत्वं यस्यान्तु पुनः ब्राह्मणत्वं न तस्यां क्षत्रियत्वमिति अर्थः. ततश्च न सांकर्यदोषइति तामेताम् आशंकां निराकुर्वन्ति **नवमस्कन्धे** इत्यारभ्य **तपसा क्षत्रियत्वोत्सर्गस्य ब्राह्मणत्वप्राप्तेः च उक्तत्वेन तद्गमागमयोः प्रामाणिकत्वाद्** इत्यन्तं यावत्.

एतेन धर्मप्रदीपकारैः *विश्वामित्रे न क्षत्रियत्वजात्यपगतिः नापि ब्राह्मणत्वागतिः किन्तु ब्रह्मर्षितासम्पत्तिरेव केवला* इति उक्तं तदपि भागवतोक्तक्षात्रोत्सर्गेन च विरुद्धम्. **''विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यम् उत्तमम्''** (वा.रा.बाल.६५।२६) इत्यत्र स्वीकृतब्राह्मण्यलाभेन विरुद्धायां च ब्राह्मणत्वासम्पत्तौ वर्णबाह्यताप्रसक्तेः दुष्परिहरत्वात्. नापि तस्य वर्णबाह्यत्वं सम्भवति, विप्रेष्वपि द्विजत्वाधायकगायत्रीमन्त्रस्य **''तत्सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमही धियो यो नः प्रचोदयात्''** (ऋक्संहि.३।६२।१०) इत्यस्य विश्वामित्रेणैव दृष्टत्वात्. तद् उक्तं शौनकेन **''विश्वामित्रेण ताः प्रोक्ताः''** इति उपक्रम्य **''पौष्णसावित्रसौम्याः च''** (शौन.बृह.देव.४।११८-१२५)इति. तस्माद् यदि तपसा विश्वामित्रे ब्रह्मर्षित्वसम्पत्तिरेव नतु ब्राह्मणत्वसम्पत्तिः तदा **''विश्वामित्रपुत्रस्तु... 'देवरात'नामा अभवत्. ततश्च अन्ये मधुच्छन्दो... तेषाञ्च बहूनि कौशिकगोत्राणि ऋष्यन्तरेषु विवाह्यानि अभवन्''** (विष्णुपुरा.४।७।३७-३९) इति उक्तिः बाधिता स्याद्. केवलब्रह्मर्षित्वसम्पत्तौ ब्राह्मणत्वाभावे हि ब्राह्मणवर्णिषु ऋषिषु तद्गोत्रजानां विवाहे **''सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः''** इति याज्ञवल्क्योक्तिबाधपुरःसरं **''स्त्रीषु अनन्तरजातासु द्विजैः उत्पादितान् सुतान् सदृशानेव तान् आहुः**

''शूद्रां शयनम् आरोप्य ब्राह्मणो याति अधोगतिं तस्यां तनयम् उत्पाद्य ब्राह्मण्यादेव हीयते'' (मनु.स्मृ.३।७०) इति वाक्येऽपि ब्राह्मण्यहानिकथनात् च. नच *तत्र गर्भाधाने वीर्यरूपांशहान्या[पा.भे.१४] रेतःसेक्तुः व्यक्त्यन्तरत्वात् पूर्वव्यक्तिनाशेन तत्समानकालमेव ब्राह्मणत्वापगमाद् न व्यक्तिसद्भावे तदपगमइति तस्य अपगमस्य न जातित्वबाधकत्वम्* इति वाच्यं, तथासति रेतःसेक्तुः प्रत्यहं भिन्नत्वात् प्रत्यहम् उपनयनापत्तेः,[पा.भे.१५] घटघटत्वादिसम्बन्धवत् शरीरब्राह्मणत्वयोः सम्बन्धस्य स्वाभाविकत्वाभावात्. अन्यथा उपनयनस्य वैयर्थ्यापत्तेः, **''दश अस्यां पुत्रान् आधेहि पतिम् एकादशं कृधि''** (ऋक्संहि.१०।८५।४५) इति एकविश्रुतिविरोधेन तादृशोपगम-स्य[पा.भे.१६] अप्रयोजकत्वात् च. *ननु **''इतः ऊर्ध्वं पतन्ति एते सर्वधर्मबहिष्कृताः सावित्रीपतिताः व्रात्याः''** (याज्ञ.स्मृ.२।३८) इत्यादौ ब्राह्मणकर्मानधिकारस्यैव प्रत्ययात् प्रकृतेऽपि ब्राह्मणकर्माधिकाराद् हीयते इत्येव अर्थो नतु ब्राह्मण्यहानिः[पा.भे.१७]* इति चेत्,

---

मातृदोषविगर्हितान्'' (मनुस्मृ.१०।६) इति मनूक्तं ब्राह्मणसादृश्यमेव स्याद् नतु ब्राह्मणत्वम्. किञ्च **''ब्राह्मण्यं समनुप्राप्तं विश्वामित्रादिभिः नृपैः''** (ब्रह्मा.पुरा.२।३।६६।७७) इति ब्राह्मण्यावाप्तिः कण्ठोक्ता श्रूयते. तथैव महाभारतेऽपि **''स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान् विष्टभ्य तेजसा तताप सर्वान् लोकान् च ब्राह्मणत्वम् अवाप ह. अपिबत् च सुतं सोमं इन्द्रेण सह कौशिकः एवंवीर्यस्तु राजर्षिर् विप्रर्षिः संबभूव ह''** (महाभा.१।१७३।८०-८१) इति स्पष्टम् उल्लेखाद् अकामेनापि सान्वयस्य विश्वामित्रस्य ब्राह्मणवर्णो अभ्युपेतव्यः. तथा यास्कोऽपि आह **''विश्वामित्रः ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव''** (निरु.निघ.२।७।२४) इति. पौरोहित्यञ्च **''अध्यापनम् अध्ययनं यजनं याजनं तथा दानं प्रतिग्रहः चैव षट्कर्माणि अग्रजन्मनः... त्रयो धर्माः निवर्तन्ते ब्राह्मणात् क्षत्रियं प्रति अध्यापनं याजनं च तृतीयः प्रतिग्रहः''** (मनुस्मृ.१०।७५-७७) इति ब्राह्मणस्यैव अनुज्ञातम्. तच्च ब्राह्मणपित्रा ब्राह्मण्यां अप्रसूतेन विश्वामित्रेण तपसा ब्राह्मण्यम् समासाद्य अनुष्ठितं चेत् तदपि मुख्ये ब्राह्मण्ये प्रमाणम्. तत्पुनः ब्राह्मणत्वस्य जातित्वे अनुपपन्नः सन् तस्य देवतावेशत्वे प्रमाणम् इति आशयेन आहुः **घटघटत्वादिसम्बन्धवत् शरीरब्राह्मणत्वयोः सम्बन्धस्य**

न , लक्षणापत्तेः.

* ननु "**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च**" (पाणि.सू.५।१।१२४) इति सूत्रेण कर्मण्यपि 'ष्यञ्'विधानाद् न अत्र लक्षणा* इति चेत्, सत्यं, तथापि भावपक्षे रूढेरपि सत्वाद् वृत्तिद्वैगुण्येन बाधकाभावे भावार्थग्रहणस्यैव औचित्यात्. नच * हानिकथनमेव बाधकम् * इति वाच्यं, तस्य जातिबाधकत्वेन भावाबाधकत्वात्. नच जातिरेव भावः इति युक्तम्, आकाशत्वादौ व्यभिचारात्. अतो अत्र तत्कर्माधिकारसम्पादको धर्मएव भावत्वेन ग्राह्यो, जातित्वबाधकानां पूर्वम् उपादितत्वाद् इति.

स्वाभाविकत्वाभावाद् अन्यथा उपनयनस्य वैयर्थ्यापत्तेः. उपपादितो हि पूर्वमेव उत्तरपक्षकारिकोक्तायाः **न जातिः ब्राह्मणत्वादि** इति प्रतिज्ञायाः **व्यक्तिं सन्त्यज्य निर्गमाद् अन्यागमात् च** इति प्रथमो हेतुः. इदानीं द्वितीयस्य **सम्बन्धस्य अशक्यवचनत्वतः** इति हेतोः उपपत्तिम् उपसंहरन्ति **ननु "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च"** इत्यारभ्य **जातित्वबाधकानां पूर्वम् उपादितत्वाद्** इत्यन्तं यावत्.

* ननु 'ब्राह्मणत्व'-'क्षत्रियत्व'-'वैश्यत्वा'दीनां पदानां जातिवाचकत्वम् अनंगीकृत्य देवतावाचकत्वं यद् उपवर्णितं तन्न उपपद्यते, देवतारूपे अर्थे 'त्व'-'तल्'-'ष्यञा'दिप्रत्ययानाम् अविधानाद्* इति चेत् न, "**तस्य भावः त्वतलौ**(सूत्र) **सिद्धन्तु यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः तदभिधाने त्वतलौ**(वार्ति.)" इत्यनयोः भाष्येऽपि व्याख्यातं "**यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः तदभिधाने — तस्मिन् गुणे वक्तव्ये प्रत्ययेन भवितव्यम्**" (पात.म.भा.५।१।११९) इति. तत्र एवं सति 'ब्राह्मण'-'क्षत्रिया'दिपदैः केषां गुणानां पुरुषेषु अभिधित्सायां ते 'ब्राह्मणा'दिपदवाच्याः भवेयुः इति जिज्ञासायां तत्समाधानमपि भाष्ये "**सर्वे एते शब्दाः गुणसमुदायेषु वर्तन्ते — 'ब्राह्मण'-'क्षत्रियो'-'वैश्य'-'शूद्रः' इति... एवं हि आह 'तपः श्रुतं च योनिः च एतद् ब्राह्मणकारणं तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मणएव सः' तथा गौरः शुच्याचारः... इत्येतानपि अभ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति. समुदायेषु च शब्दाः वृत्ताः अवयवेष्वपि वर्तन्ते**" (पात.म.भा.५।१।१५) इति. तस्मात् शब्दप्रकृत्यभिधेयार्थबोधे तत्प्रकारतया भासमानो

हि धर्मो भावो भवति. तद्वाचकाः च 'ब्राह्मणा'दिशब्दाः नतु जात्येकवाचकाः इति स्थितिः. नच *तथापि प्रकृतेः वा प्रत्ययस्य वा देवतावाचकत्वन्तु कुत्रापि नोपदिष्टम्* इति वाच्यं, ''**सहस्रपरमा देवी... सर्वं हरतु मे पापं दूर्वा**'', ''**भूः अग्नये पृथिव्यै स्वाहा भुवो वायवे अन्तरिक्षाय स्वाहा सुवः आदित्याय च दिवे स्वाहा भूर्भुवःसुवः चन्द्रमसे दिग्भ्यः स्वाहा**'' (महाना.उप.४।१, ६।१) इत्यादिमन्त्रेषु यएव शब्दाः 'दूर्वा'-'अग्नि'-'पृथिवी'-'वायु'-'अन्तरिक्षा'दिद्रव्याणां वाचकाः तएव तदधिष्ठातृदेवतावाचकाअपि श्रूयमाणाः न प्रकृत्यन्तरं प्रत्ययान्तरं वा अपेक्षन्ते. तस्माद् 'गंगा'शब्दो यथा नदीवाचको दृष्टः तथा देवीवाचकोऽपि. एतावान् परं विशेषो : यथा शास्त्रैकगम्येषु अग्निबृहस्पतीन्द्रमरुतां देवानां ''**एषवा अग्निः वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः**'', ''**'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' 'क्षत्रं वा इन्द्रो' 'विशो वै मरुतः'** (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।४।५, श.प.ब्रा.३।१।१।१४-१७) इत्येवमादिवचनोदितेषु देववर्गेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णाः न सवर्णमातपितृजातत्वनिर्धारणापेक्षाः तथैव प्रत्यक्षगोचरेषु माणवकेष्वपि ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्व-शूद्रत्वजातयोऽपि तथेति न तत्प्रतिपादकशास्त्रं विना अवगन्तुं शक्याः, आहवनीय-गार्हपत्यादिवत् च. यत्र गार्हपत्याग्निवत् शास्त्रोदितकर्मानुष्ठानेनैव तत्तन्नामाभिधेयता तत्र तज्जातिद्रव्यगुणक्रियाणां प्रत्यक्षागोचरत्वमेवेति ब्राह्मण्यादावपि एवमेव. यत्रतु शास्त्रीयकर्मानुष्ठानसम्पत्तेः अनपेक्षा घटत्वपुरुषत्वयोरिव तत्र प्रत्यक्षगोचरेषु जातिद्रव्यगुणकर्मादिषु व्याकरणकोशादिभ्यएव शब्दाभिधानव्यापारइति. यद् इह तन्त्रवार्तिककृता —

> **''यथैव आलोकेन्द्रियानेकपिण्डानुस्यूति-शब्दस्मरण-व्यक्तिमहत्त्व-संनिकर्षा-ऽऽकारविशेषादयो अन्यजातिग्रहणे कारणं तथैव उत्पादकजातिस्मरणम्. अयञ्च उत्पाद्योत्पादकसम्बन्धो मातुरेव प्रत्यक्षो अन्येषान्तु अनुमानाप्तोपदेशाद्यवगतः कारणं भवति. नच अवश्यंप्रत्यक्षावगतमेव प्रत्यक्षनिमित्तं भवति, चक्षुरादेः अनवगतस्यापि निमित्तत्वदर्शनाद्... नच यत् सहसा सर्वस्य प्रत्यक्षं न भवति तद् निपुणानामपि पश्यतां न प्रत्यक्षम्... नहि यद् अद्रिशृंगम् आरुह्य गृह्येत तद् अप्रत्यक्षम्. नच स्त्रीणां क्वचिद् व्यभिचार-**

दर्शनात् सर्वत्रैव तथा कल्पना युक्ता... तथाच प्रतिकुलं गुणदोषस्मरणात् तदनुरूपाः प्रवृत्तिनिवृत्तयो दृश्यन्ते. नच भर्तृव्यतिरेककृतेन वर्णसंकरो अपराधेन जायते, दृश्यते हि अपराधिनीनामपि स्वभर्तृनिमित्तः प्रसवः''.

(तन्त्रवा.१।२।२) इति.

तदेतत् सर्वेषामपि प्रमाणानां स्वतःप्रामाण्ये श्रद्धातिरेकवतां युक्तमेव तथापि तथापि ब्राह्मणभर्तुः ब्राह्मण्यां भार्यायां जातमात्रस्य शास्त्रेषु ब्राह्मण्यम् अभिमतं चेत् सुसंगतं स्यात्. शास्त्रेषुतु कुलसंस्कारकर्माजीविकाप्रायश्चित्तादिभिः शुद्धाद् ब्राह्मणाद् तथाभूतायां ब्राह्मण्यां जातस्य माणवकस्य षट्कर्माधिकारितारूपं ब्राह्मण्यम् अभ्युपगतम्. तथाच असंस्कारैः वा पातककर्मभिः वा प्रत्यवायिनोः अव्यभिचारिणोः ब्राह्मणवंशजयोरपि स्त्रिपुंसोः सन्तानस्य ब्राह्मण्यानिर्धारएव. नच *इह स्वकुलानुगुणसंस्कारांगीकारेण जात्यंगीकारो अन्ते गलेपतितएव* इति चोद्यं, लोकव्यवहारे तावत् समानाकारप्रसूतिरूपजातेः, अनेकव्यक्तिनिष्ठसामान्यप्रकारतारूप-जातेः वा, स्वीकारे न कश्चन बाधकः. द्रव्येभ्यस्तु अत्यन्तव्यतिरिक्ता ''नित्यत्वे सति जन्मना अनेकसमेवेतत्व''रूपा जातिरेव सिद्धान्ते अनभिमता, सुतरां ब्राह्मणत्वादिजातयः च, अनुपपन्नत्वात्. तद् उक्तं—

''जातिशब्देन हि द्रव्यमपि अभिधीयते जातिरपि... एवं हि कश्चिद् महति गोमण्डले गोपालकम् आसीनं पृच्छति 'अस्ति अत्र कांचिद् गां पश्यसि?' इति. स पश्यति : पश्यति च अयं गाः; पृच्छति च 'कांचिद् अत्र गां पश्यसि?'इति. नूनम् अस्य द्रव्यं विवक्षितम् इति. तद् यदा द्रव्याभिधानं तदा बहुवचनं भविष्यति. यदा सामान्याभिधानं तदा एकवचनं भविष्यति''.

(पा.म.भा.१।२।५८) इति.

तस्मादेव महाभाष्योदाहृतायाः ''तपः श्रुतं च योनिः च एतद् ब्राह्मण...'' इति कारिकायाः '''तपः'इति चान्द्रायणादि. 'श्रुतम्' इति वेदवेदांगादीनाम्.

(नियतव्यञ्जकाभावादपि न ब्राह्मणत्वादयो जातयः)

किञ्च नियतव्यञ्जकाभावादपि न ब्राह्मणत्वादीनां जातित्वम्. नच * पद्मरागादिषु नियतव्यञ्जकाभावेऽपि पद्मरागत्वादेः जातित्वस्वीकाराद् न एवम् * इति वाच्यं, प्रभाविशेषस्य व्यञ्जकस्य तत्रापि नियतत्वात्. नच * अत्रापि अक्रोधतेजःप्रभृतीनां व्यञ्जकत्वम् * इति वाच्यं, दुर्वासःप्रभृतिषु व्यभिचारात्. नच * "ब्राह्मणो जातः" इति प्रत्युदाहरणलिंगाद् जातित्वं वक्तुं * शक्यं "**मातुर् अग्रे अधिजायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनाद्**" (याज्ञ.स्मृ.२।३९) इति स्मार्तजननम् आदाय 'जननं=जातिः' इति व्युत्पत्त्या देवतानिवेशेनापि तत्संगतेः.

(ब्राह्मणत्वादयः सखण्डोपाधयः इति कल्पनया देवतात्वकल्पे प्रत्यवस्थानं तन्निरसनं च)

* ननु सखण्डोपाधिरेव अस्तु! उपाधिरेव च ब्राह्मणत्वादिव्यञ्जको भविष्यति * इति चेत्, न तथासति [१] "ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाद् जनितत्वं" वा, [२] "सवर्णायाम् ऊढायां सवर्णजनितत्वं" वा, [३] "विशुद्धमातापितृकत्वं" वा, [४] "स्वादृष्टाकृष्टभूतभेदसमारब्धत्वं" वा तल्लक्षणं भविष्यति? न आद्यौ, चतुर्मुखे तत्पुत्रेषु मानसेषु च अव्याप्तेः. ऋषभपुत्रेषु "**एकाशीतिः... ब्राह्मणाः बभूवुः**" (भाग.पुरा.५।२।१३) इति वाक्यात् तेष्वपि अव्याप्तेः.

'योनिः' इति ब्राह्मणाद् ब्राह्मण्यां जन्म... 'ब्राह्मण'व्यपदेशस्य निमित्तम् एतद् इति अर्थः. 'तपःश्रुताभ्याम्...' इति नासौ परिपूर्णो ब्राह्मणः. जातिलक्षणैकदेशाश्रयस्तु 'ब्राह्मण'शब्दप्रयोगः" (तत्रैव) इति प्रदीपव्याख्यायामपि एतदेव आलोचनीयं यत् तपआदेः त्रिकं चेद् ब्राह्मण्यकारणं, तत्त्रयाभावे हि जातिलक्षणैकदेशाश्रयोऽपि पुरुषो भवितुं नार्हति. अथ योनिरेव चेद् ब्राह्मण्यकारणं तदा तज्जाततयैव तपःश्रुताभ्यां हीने ब्राह्मणे न अपरिपूर्णता नाम काचित् मन्तुं शक्या. अथ इदानीं तृतीयं **नियतव्यञ्जकाभावाद्** इति हेतुम् उपपादयितुम् उपक्रमन्ते **किञ्च** इत्यादिना. निगदव्याख्यातम्.

ब्राह्मणत्वादेः जातिताभावेतु सखण्डोपाधित्वम् अस्तु इति आशंक्य निराकुर्वन्ति **ननु सखण्डोपाधिरेव अस्तु** इत्यादिना. तस्मिन्नेतस्मिन् उपाधिकल्पे सम्भावितानि

न तृतीयो विशुद्धपदार्थस्य अनिर्वाच्यत्वात्. तथाहि—न तावत् षट्कर्मनिरतत्वं ज्ञानित्वं योगित्वं वा तत्, तत्तदितरेषु अव्याप्तेः. नापि तदन्यतमत्वं, जनकादिषु अतिव्याप्तेः. नापि चोदनागोचरषट्कर्माधिकारित्वं तत्, ब्राह्मणपत्नीषु अव्याप्तेः. नच *तासु स्त्रीत्वरूपस्य अधिकारप्रतिबन्धकस्य सत्त्वात् ताः न लक्ष्याः* इति वाच्यं, 'ब्राह्मणी'पदप्रयोगबाधापत्तेः. नच *तासु ब्राह्मणपुत्रीत्वमेव पदप्रवृत्तिनिमित्तम्* इति वाच्यं, तज्जन्यासु अन्यास्वपि तत्प्रयोगापत्तेः. नापि तत्पत्नीत्वं तथा असवर्णपत्नीष्वपि तत्प्रयोगापत्तेः. यदि तत्र इष्टम् आपाद्यते तदापि न तस्य स्त्रीपुंसाधारणत्वमिति न तेन इष्टसिद्धिः. अथ विभज्य उभयं तद् इति विभाव्यते, तदापि व्रात्ये तदभावाद् न तावता इष्टसिद्धिः. नच *उक्ताधिकारस्वरूपयोग्यत्वमेव तद्* इति युक्तं, ब्राह्मणजन्यत्वादिकं विना तस्यैव दुर्ज्ञेयत्वात्. तेषाञ्च तज्ज्ञानसाधनतायाः प्रागेव निरस्तत्वात्. नापि चतुर्थाश्रमाधिकारित्वं तद्, अविरक्ते ब्राह्मणे अव्याप्तेः. पौण्ड्रसुह्मविदुरादिषु अतिव्याप्तेः. महापथप्रवृत्तयुधिष्ठिरे अतिव्याप्तेः च. नच अत्र प्रमाणाभावो ''**अथवा एको अहम्... एकैकस्मिन् वनस्पतौ चरन् भैक्ष्यं मुनिः मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्**'' (महाभा.१२।९।१२) इत्यारभ्य ''**देहं संन्यासयिष्यामि निर्भयं मार्गम् आस्थितः**'' (महाभा.१२।९।२७)

लक्षणानि आलोच्य निरसन्ति **तथासति ''ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाद् जनितत्वम्''** इत्यादिलक्षणेषु दोषोद्भावनेन. इदम् अत्र अवधेयं भवति : सामान्यं हि तावद् जातिरूपम् उपाधिरूपं च भवति. उपाधिरपि अखण्डसखण्डभेदेन द्विधा. तत्र बहुपदार्थघटितत्वेऽपि यत्र नित्यत्वे सति अनेकसमेवततारूपा जातिः अंगीकर्तुम् न शक्या तत्र त्वतलादिप्रत्ययबोधितधर्माणाम् उपाधिरूपता मता. यथा शिष्टत्व-चक्षुरादीन्द्रियविषयत्वरूपाः धर्माः हि उपाधयः. तत्र सखण्डोपाधयस्तु लक्षणप्रमाणावक्लृप्तपदार्थेष्वेव अन्तर्भूताः अखण्डोपाधयस्तु लक्षणानर्हाः प्रमाणसिद्धाः अगतिकतया अंगीक्रियन्ते. तस्माद् सखण्डोपाधिरूपाः चेद् ब्राह्मणत्वादिधर्माः तेषां लक्षणानि अवश्यंवक्तव्यानीति तानि पुरस्कृत्य निराकरणीयानि. तत्र आद्ययोः लक्षणयोः अव्याप्तिदोषोद्घाटनेन अनंगीकरणीयता. तृतीयलक्षणं परीक्षितुम् उपक्रमन्ते **न तृतीयो विशुद्धपदार्थस्य अनिर्वाच्यत्वात्** इत्यादिना **व्यञ्जकत्वनियमाद्** इत्यन्तं यावत्.

इत्यन्तं राजधर्मे युधिष्ठिरेण स्वसंकल्पकथनात् श्रीभागवते तथा कृतिकथनात् च. एतेनैव ''विशुद्धमातृकत्वं''-''ब्राह्मण्यां जातत्वं'' च निरस्तं वेद्यं, चाण्डालादौ अतिव्याप्तेः. तथैव पितृपक्षेऽपि दूषणं ज्ञेयं, पुण्ड्रसुह्मविदुरादिषु अतिव्याप्तेः. नच *एवं सति तुरीयमेव लक्षणम् आदर्तव्यम्* इति वाच्यं, व्रात्यादिषु अतिव्याप्तेः. एतेनैव तेषां व्यञ्जकाभिव्यंग्यजातिरपि[पा.भे.१८] दूरनिरस्ता वेदितव्या.[पा.भे.१९] गोत्वादेः सास्नादिमत्त्वादिवद् असाधारणधर्मस्यैव व्यञ्जकत्व-नियमात्.

एवञ्च अदृष्टविशेषजन्यतावच्छेदकं सर्वब्राह्मणासाधारणम् एकं ब्राह्मणत्वम्, अदृष्टविशेषजन्याद्यब्राह्मणव्यावृत्तं ब्राह्मणजन्यतावच्छेदकं ब्राह्मण-जन्यसर्वब्राह्मणसाधारणं च अपरम् इति ब्राह्मणत्वद्वैविध्यांगीकारोऽपि फल्गुरेव. तत्तदसाधारणधर्मात्मकव्यञ्जकभेदाभावे ब्राह्मणत्वभेदस्य प्रमातुम् अशक्यत्वात्. नच *'अदृष्टविशेषवत्त्वस्य' 'विशुद्धमातापितृजन्यत्वस्य' च यथायथं व्यञ्जकत्वम्* इति युक्तम्, आद्ये अदृष्टविशेषवत्त्वज्ञानस्य ब्राह्मणत्वज्ञानाधीन-त्वेन ब्राह्मणत्वज्ञानस्य च व्यञ्जकादृष्टविशेषत्वज्ञानाधीनत्वेन ज्ञप्तौ अन्योन्याश्रयात्. द्वितीयेच मात्रपराधस्य सम्भावितत्वेन विशुद्धत्वज्ञानदौर्घट्ये व्यञ्जकज्ञानस्यैव अभावात्. अतएव जैमिनिनापि सूत्रितं **''(स्त्र्य)ऽपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम्''** (जै.पू.मी.सू.१।२।१३) इति. महाभारतेऽपि उपनीतस्य पित्राज्ञया च अध्ययनार्थं गच्छतो मतंगस्य मध्ये देवगर्दभीवचनात् स्वमातरि व्यभिचारिणीत्वज्ञाने स्वस्य चाण्डालत्वज्ञानम्. ततो मातापितरौ त्यक्त्वा तपोर्थं गमनं, बहुकालं तपःकरणेन प्रसन्नाद् इन्द्राद् ब्राह्मणत्वप्राप्तिः इति उक्तम्. तस्माद् व्यञ्जकाभावेन प्रसिद्धिमात्राद् जायमानं लौकिकं 'ब्राह्मण' इति ज्ञानं प्रायशः प्रमाभासएव. क्वचिदेवतु प्रमा इति निश्चयः. तथा ब्राह्मणत्वादिकं न जातिः इत्यपि. विश्वामित्रत्वन्तु गाधिना द्वादशे अहनि नामकरणे तदुत्तरं सृज्यमानत्वाद् उपाधिरेव. अतो नियतव्यञ्जकाभावाद् ब्राह्मणत्वादिकं न जातिः किन्तु देवतैव.

एवं नियतव्यञ्जकाभावं हेतुं सविस्तरम् उपपाद्य जात्यभावे उपाध्यभावे च समुपपादिते ब्राह्मणत्वादेः देवतापक्षं प्रसाधयितुं निर्गलितार्थं निरूपयन्ति **ब्राह्मणत्वादिकं न जातिः किन्तु देवतैव** इति.

(बहूनां शास्त्रवचनानां विरोधादपि न ब्राह्मणत्वादयो जातयः)

यथा आहुः आचार्याः —

ननु सर्वेषु ब्राह्मणशरीरेषु ब्राह्मण्याधिष्ठात्रीः देवता एकैव अनेकाः वा? तत्र न तावद् अनेकाः कल्पनागौरवग्रासात्. अथ एका चेत् तदा सर्वेष्वपि कुतो न तुल्यः तदनुभावः? नच अंशभेदैः अतुल्यानुभावः उपपादनीयः, सांशत्वस्य विनाशित्वव्याप्यतया देवतानाशापत्तेः. निरंशायास्तु एकत्र समागमने अन्यत्र अभावाप्रसंगात्. ततो देवताकल्पनापेक्षया जातिकल्पना लघीयसी निर्दुष्टा च इति चेत् न, यथा नभसि एकस्यापि भानोः उदयेऽपि न सर्वत्र तुल्यः तापः प्रकाशो वेति तथा समानदेवतावेशेऽपि न सर्वत्र समानगुणकर्मस्वभावोपलब्धिः. एतेन एकस्याएव निरंशायाः देवतायाः एकत्र आगमने आवेशे वा अन्यत्र तदनुपस्थितिरपि निवारिता, यज्ञादिकर्मणि, देवालयेऽपि वा, क्वचिद् देवोपस्थितौ अन्यत्र तदनुपस्थितेः आपादयितुम् अशक्यत्वात्. सांशायाअपि **''पूर्णस्य पूर्णम् आदाय पूर्णमेव अवशिष्यते'', ''कत्येव देवाः?... एकः!... कतमे ते? त्रयः त्री च शता त्रयः च त्री च सहस्रा!... महिमानएव एषाम्...''** (बृह.उप.मंग., ३।९।१) इति श्रुतेः न किञ्चिद् एतद् शब्दप्रामाण्यवादिनां कृते. तस्माद्—

एकस्य ब्रह्मणोऽनेकनामरूपादिभेदतः।
देवत्वपक्षे ये दोषास्ते देवैरेव वारिताः॥

तमेतं ब्राह्मणत्वादिदेवतापक्षं निजाचार्यवचनैः प्रमापयन्ति **यथाच आहुः** इत्यादिना.

तदेतत् श्रीशंकराचार्याणामपि अभिमतमेव. यथाहि तैः उच्यते—

''एवं स प्रजापतिः जगद् इदं मिथुनात्मकं सृष्ट्वा ब्राह्मणादिवर्णनियन्त्रीः देवताः सिसृक्षुः... स मुखं हस्ताभ्यां मथित्वा मुखात् च योनेः हस्ताभ्यां च योनिभ्याम् अग्निं ब्राह्मणजातेः अनुग्रहकर्तारम् असृजत्... तस्माद् एकयोनित्वाद् ज्येष्ठेनैव अनुजो

अनुगृह्यते अग्निना ब्राह्मणः. तस्माद् ब्राह्मणो अग्निदेवत्यो मुखवीर्यः चेति श्रुतिस्मृतिसिद्धम्. तथा बलाश्रयाभ्यां बाहुभ्यां बलभिदादिकं क्षत्रियजातिनियन्तारं क्षत्रियं च. तस्माद् ऐन्द्रं क्षत्रं बाहुवीर्यं च इति श्रुतौ स्मृतौ च अवगतम्. तथा ऊरुतः ईहाश्रयाद् वस्वादिलक्षणं विशो नियन्तारं विशं च. तस्मात् कृष्यादिपरो वस्वादिदेवत्यः च वैश्यः. तथा पूषणं पृथ्वीदेवतां शूद्रं च पद्भ्यां परिचरणक्षमम् असृजत इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेः... यथा इयं श्रुतिः व्यवस्थिता तथा प्रजापतिरेव सर्वे देवाः इति निश्चितो अर्थः. स्रष्टुः अनन्यत्वात् सृष्टानाम्''.

(बृह.उप.शां.भा.१।४।६) इति.

सति चैवं 'जातिनियन्तारम्' इत्यस्य तत्तद्वर्णसमूहनियन्तारम् इति अर्थपरत्वेतु सर्वथैव शांकरवेदान्तप्रस्थानेन वाल्लभवेदान्तप्रस्थानस्य मतैक्यम्. अन्यथातु तत्तद्वर्णनियन्त्रीणां देवतानामेव सर्वोपपत्तेः किम् अजागलस्तनप्रायया ब्राह्मणत्वादि-जात्या इति वाल्लभवेदान्ताभिप्रायसंक्षेपः.

* ननु व्यक्तिसद्भावेऽपि वर्णच्युतिदर्शनेन यदि वर्णानां जातित्वम् अनभिप्रेतं चेद् भवतु नाम. तथापि "**सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः**" (याज्ञ.स्मृ.१।४।८९) इति वाक्यानुरोधेन सवर्णेभ्यः सवर्णासु जातानां सजातीयत्वांगीकारेण ताभ्यां जातत्वं वा एतादृक्साजात्यं वापि नहि निन्दितवृत्तेः निवर्तमानं प्रत्यक्षेण गृहीतुं शक्यम्. नच * ऋष्यादिभिः शापानुग्रहाभ्यां तदपि निरसितुं शक्यमेव * इति वाच्यं, तेहि स्वतपोयोगादिबलेन साक्षात्कृतधर्माणो हि भवन्तीति तेषां वाचः अर्थाअपि अनुधावेयुः. नच एतावता अस्मासु अकस्मात् तादृक्सामर्थ्यकल्पना युक्ता * इति चेत् तद् असाम्प्रतं. यस्मात् नहि तपोयोगादिबलेनैव किमुत निषिद्धाचरणैरपि "**दक्षिणार्थं यो विप्रो शूद्रस्य जुहुयाद् हविः ब्राह्मणस्तु भवेत् शूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवेत्**" (परा.स्मृ.१२।३५) इति जन्मजातधर्मापहाराद्. नच * प्रत्यक्षविरोधात् नैतादृशानि वाक्यानि स्वस्वकुलानुवंशिकगुणधर्मवारकानि किमुत

"ब्राह्मण्यं काचिद् देवता सा यस्मिन् देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणाः' इति उच्यन्ते. अतएव शापादिना शूद्रत्वं चण्डालत्वम्, अनुग्रहेण ब्रह्मत्वम्. साच उपनयनेन देहे समायाति. तदा बहूनि वाक्यानि संगच्छन्ते. एवं क्षत्रम्. अतएव परशुरामे उभयनिवेशः."

(सुबो.२।१।३७) इति

तद् उक्तम् उद्योगपर्वणि भीष्मेण रामं प्रति **"ये ते वेदाः शरीरस्थाः, ब्राह्मण्यं यच्च ते महत्, तपश्च सुमहत् तप्तं, न तेभ्यः प्रहरामि अहम्. प्रहारः क्षत्रधर्मस्य यं त्वं, राम!, समास्थितः, ब्राह्मणाः क्षत्रियत्वं हि यान्ति शस्त्रसमुद्यमाद्"** (महाभा.५।१८०।२४) इति. अत्र 'उपनयन...'इति उपलक्षणं, वाल्मीकिप्रभृतिषु अनुग्रहेण नामोञ्चारणेन, मतंगादिषु तपसा च, तदुक्तेः. बहूनि वाक्यानितु **"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् 'द्विज' उच्यते वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रो ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः"** (. ।) इत्यादीनि ज्ञेयानि.

ब्राह्मणत्वेन शूद्रस्य प्रशंसापराणि, ब्राह्मणस्यतु पुनः शूद्रत्वेन निन्दापराण्येव* इति वाच्यं, अस्मिन् वाक्ये ईदृगर्थकल्पनायाः शक्यत्वेऽपि **"ब्राह्मणः स्वेन देहेन शूद्रत्वं कथम् आप्नुयात् ब्रह्म वा नश्यति कथं?... स तेनैव शरीरेण शूद्रत्वं याति... शूद्रग्रामे तथापि एको वसेद् वा दशवार्षिकं ग्रहोक्तमपि कुर्वाणो शूद्रत्वं याति वै द्विजः... मद्यपस्त्रीमुखं मोहाद् आस्वादयति यो द्विजः तस्य कायगतं ब्रह्म सद्यएव विनश्यति... यः सोमलतिकां विप्रः केवलं भक्षयेद् वृथा तस्य कायगतं ब्रह्म सद्यएव विनश्यति... जातिभ्रंशकरं कर्म न कुर्यात् सदृशो द्विजः"** (वृद्धगौत.स्मृ.१९।३३-४१) इत्येवमादिवचनेषु जन्मना अधिगतस्यापि साजात्यस्य अकामेनापि अपहारो अंगीकार्यएव. तदेतद् हृदिकृत्य आचार्यैः उक्तं **शापादिना शूद्रत्वं चण्डालत्वम्, अनुग्रहेण ब्रह्मत्वम्... तदा बहूनि वाक्यानि संगच्छन्ते. एवं क्षत्रम्**...इति. तदेतद् आचार्योक्तं श्रीपुरुषोत्तमाः महाभारतवचनेन प्रमापयितुम् आहुः **तद् उक्तम् उद्योगपर्वणि** इत्यादिना. अयम् अभिप्रायः : द्विजवर्णाभिमानिन्यः खलु देवताः द्विजोत्पन्नेषु माणवकशरीरेषु उत्सर्गतस्तु उपनयनसंस्कारेणैव

ननु सगर्भदहने तत्तद्वर्णजं वधपातकम् इति गर्भेऽपि तत्तद्वर्णत्वस्मरणात् तदानीम् उपनयनाद्यभावेन देवतासमागतेः अशक्यवचनत्वात् तद् जातिरूपमेव मन्तव्यम् इति चेद्, न, **''अंगाद् अंगात् सम्भवसि''** (बृह.उप.४।८।९) इति श्रुत्या गर्भस्थपित्रंशत्वेन तद्वर्णत्वस्य सिद्धत्वात्. नच *उपनयनवैयर्थ्यापत्तिः, 'शूद्रत्वा'ख्यदेवताशाबल्यनिवारकत्वेन आवश्यकत्वात्. अतएव **''सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयो अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्द्धनाः''** (याज्ञ.स्मृ.४।८९) इति याज्ञवल्क्यादिभिः उक्तत्वेऽपि **''ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाद् जातः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेद् एवं क्षत्रियविट्शूद्राः ज्ञेयाः स्वेभ्यः स्वयोनिजाः''** (देव.स्मृ.   ) इति देवलेन 'संस्कृतत्व'विशेषणम् उक्तम्. एवञ्च उपनयनस्य यथासम्भवं क्वचित् शाबल्यनिवृतौ क्वचित् समागमे हेतुत्वमिति न काचिद् अनुपपत्तिः. साच देवता बृहदारण्यकीयपुरुषविधब्राह्मणे **''ब्रह्म वा इदम् अग्र आसीद्''** (बृह.उप.१।४।११) इत्यारभ्य **''वैश्येन वैश्यः शूद्रेन शूद्रः''** (बृह.उप.१।४।१५) इत्यन्तग्रन्थे. तैत्तिरीयके च **''ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभते क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं मरुतो वै देवानां विशः''** (तैत्ति.ब्राह्म.३।४।१।१) इत्यादिषु स्फुटाः.

समायान्ति तथापि तदेतद् उपनयनन्तु अन्येषामपि देवताधायकहेतूनां हि उपलक्षणं किल वेदितव्यम्. उपपादितं हि तदेतद् अनेकैः वचनैः अपवादरूपेण शापानुग्रहाभ्यां तास्ताः देवताः समानायामपि व्यक्तौ समाने च मातापितृजातदेहे यान्ति-आयान्ति चेति.

*ननु यदि **''अंगाद् अंगात् सम्भवसि''** (बृह.उप.४।८।९) इति श्रुत्या गर्भस्थपित्रंशत्वेन तद्वर्णसिद्धिः भवति चेत् तदा नाम्न्येव कलहो नतु जातौ वा जन्मना वा ब्राह्मणत्वादिधर्मेषु वेति व्यर्थो अयं ब्राह्मणत्वादिदेवतासाधनप्रयासः* इति चेत् न, 'वर्ण'पदाभिप्रायानवगमात्. उत्सर्गतो हि विशुद्धमातापितृकयोः स्वस्वकर्मपरयोः सन्तानेषु गर्भाधानपुंसवनजातकर्मादिसंस्कारैः तत्तद्वर्णोचितसंस्कारहेतुभिः ब्राह्मण्यादिदेवतावेशानुकूला स्वरूपयोग्यतासम्पत्तिः अभिलषिता. औत्सर्गिकेन उपनयनसंस्कारेण तु फलमुखयोग्यता तत्तद्देवताधानस्य. नच एतावता उपनयनसंस्कारवैयर्थ्यापत्तिः शक्यशंका इति व्युत्पादयन्ति **नच उपनयनवैयर्थ्यापत्तिः**

इत्यादिना **स्फुटम्** इत्यन्तेन. तस्माद् वर्णाभिमानिन्यो देवताः श्रुतिप्रामाण्यवादिभिः अपलपितुम् अशक्याएव. नच *नापलपामो देवताः नाप्यपलामो जातीनपि. नहि अग्नेः अधिष्ठात्र्याः देवतायाः अंगीकारे वा अनेकाग्निद्रव्येषु अग्नित्वजात्यंगीकारे वा लौकिको अग्निः न दहेत्. तस्माद् जात्यपलापं कुर्वाणैरैव श्रुतिः न अन्यथा व्याख्येया* इति वक्तुं युक्तं, नहि श्रुतिषु ब्राह्मणादिवर्णानां समानाकारप्रसवरूपाः जातयः प्रतिपाद्यन्ते नवा सर्वेषु ब्राह्मणादिषु नित्याः अनेकानुगताः ब्राह्मणादिव्यतिरिक्ताः जातयः. देवतास्तु तास्ताः श्रुतिस्मृत्यादिषु प्रसिद्धाइति नाप्रसिद्धकल्पना नापि श्रुत्याद्यसिद्धेति न कल्पनागौरवप्रसक्तिः इति सन्तोष्टव्यम्.

किञ्च वर्णित्वं द्विजत्वं ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं चण्डालत्वम् इति एते धर्माः मनुष्यत्ववत् किं सर्वेऽपि पृथक्पृथग्जातयो उत परापरभावव्यवस्थिताः वर्णित्वब्राह्मणत्वादयः? तत्र यदि सर्वेऽपि एते धर्माः पृथक्पृथग्जातिरूपाः चेत् तदा वर्णित्वाभावेऽपि द्विजत्वं सम्भवति नवा? तथैव द्विजत्वाभावेऽपि ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं वा सम्भवति नवा? तत्र सम्भवतीति कल्पे वर्णापसदानां **''वर्णास्तु आद्याः त्रयो द्विजाः निषेकाद्याः श्मशानान्ताः तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः** (याज्ञ.स्मृ.१।२।१०) इति निरूपणवैपरीत्येन म्लेच्छादीनामपि वर्णित्वप्रसक्तिः. तथा **''मातुः यद् अग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ब्राह्मणक्षत्रियविशः तस्माद् एते द्विजातयः''** (याज्ञ.स्मृ.१।२।३९) इति निरूपणवैपरीत्येन अद्विजानां शूद्राणामपि ब्राह्मण्ये बाधाभावः! अथ वर्णित्वं परं सामान्यं, द्विजत्वं परापररूपं सामान्यं, ब्राह्मणत्वादयस्तु अपरसामान्यं चेत् तदा वर्णित्वाभावे यथा द्विजत्वाभावः तथा द्विजत्वाभावे ब्राह्मणत्वाद्यभावैरपि भवितव्यमेव. तत्र द्विजत्वन्तु संस्कारेण भवति चेत् तदा कथं जातमात्राणां ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्वम् अभ्युपगन्तुं शक्यं स्यात्? तदेतत् शंखसंहितायामपि **''ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः त्रयो वर्णाः द्विजातयः तेषां जन्म द्वितीयन्तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम्. आचार्यस्तु पिता प्रोक्तः सावित्री जननी तथा''** (शंखसंहि.१।६-७) इति उक्त्या उपोद्बलितम्.

*ननु **''देवो मुनिः द्विजो राजा वैश्यः शूद्रो निषादकः पशुः म्लेच्छो**

एवञ्च ब्राह्मणीत्वमपि **"विवाहस्तु समन्त्रकः"** (याज्ञ.स्मृ.२।१३) इति वाक्याद् विवाहानन्तरमेव. पूर्वन्तु ब्राह्मणकन्यात्वमेव. तत्र व्यभिचारादावपि पापप्रायश्चित्तयोः तारतम्यं ज्ञेयम्. अतएव तादृङ्मरणे आशौचतारतम्यमपि युज्येतेति सुष्ठूक्तं **"बहूनि वाक्यानि"** (सुबो.२।१।३७) इति. 'क्षत्रम्' इति उपलक्षणं शूद्रत्वादेरपि **"वेदाक्षरविचारेण ब्राह्मणीगमनेन च कपिलाक्षीरपानेन शूद्रः चाण्डालतां व्रजेद्"** (द्रष्ट.पराश.स्मृ.१।७५) इत्यादिलिंगेन नियतव्यञ्जकाभावेन च अजातित्वात्. नच *'शूद्रा'पदे टाबभावापत्तिः, जननमेव आदाय तत्रापि निर्वाहात्.

अपि चाण्डालो विप्राः दशविधाः स्मृताः. सन्ध्यां स्नानं जपं होमं देवतानित्यपूजनं, अतिथिं वैश्वदेवं च 'देवब्राह्मण' उच्यते... वेदान्तं पठते नित्यं सर्वसंगं परित्यजेत् सांख्ययोगविचारस्थः स विप्रो 'द्विजः' उच्यते... चौरश्च तस्करश्चैव सूचको दंशकः तथा मत्स्यमांसे सदा लुब्धो विप्रो 'निषादः' उच्यते... ब्रह्मतत्त्वं न जानाति ब्रह्मसूत्रेण गर्वितः तेनैव सच पापेन विप्रः 'पशुः' उदाहृतः... क्रियाहीनः च मूर्खः च सर्वधर्मविवर्जितः निर्दयः सर्वभूतेषु विप्रः 'चाण्डालः' उच्यते" (अत्रिसंहि.३६७-४७८) इति वाक्ये विप्राणां दशविधप्रकारे शूद्र-निषाद-म्लेच्छ-चाण्डालप्रकाराणामपि परिगणितत्वेन वर्णापसदानां दुर्वृत्तेऽपि विप्रतया उल्लेखात् न जात्यपगमः* इति चेत् न, विप्रत्व-ब्राह्मणत्वे उभे खलु जाती न भवितुम् अर्हतइति. अथच महापातकैः दुष्कर्मभिरपि विप्राणां ब्राह्मण्यं नापगच्छति चेत्, सर्वेषामपि वर्णानाम् आद्यो वर्णो ब्राह्मणः तस्माद् भ्रष्टानामेव क्षत्रियत्वं ततोऽपि भ्रष्टानां वैश्यत्वं ततोऽपि शूद्रत्वं ततोऽपि चाण्डालत्वं ततोऽपि अपकृष्टापकृष्टतरापकृष्टतमत्वम् इति बृहदारण्यकश्रुतो भ्रंशो अनुपपन्नः स्यात्.

तत्र प्रसक्तानुप्रसक्तं चिन्तयन्तः ब्राह्मण्याअपि विवाहसंस्काराभावे न ब्राह्मणवर्णिता इति उपपादयन्ति **एवञ्च ब्राह्मणीत्वमपि** इत्यारभ्य **संस्कारवृत्ताभ्यां ब्राह्मण्यम् उक्तम्** इत्यन्तेन.

स्यादेतद् *ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्णामपि देवतावेशादेव वर्णित्वे ब्राह्मण्यादीनामपि देव्यो भवन्तु* इति, यदि ताः श्रुतिस्मृत्यादिषु वर्णिताः स्युः. वाचनिके शास्त्रे वाचनिक्येव व्यवस्थेति न शुष्कतर्कैः उपहसनीया!

एवञ्च यद् वनपर्वणि आजगरे **"ब्राह्मणः को भवेत्? राजन्!"** (महाभा. ३।४७७।१५). इति प्रश्ने कृते **"सत्यं दानं क्षमा शीलम् आनृशंस्यं तपो घृणा दृश्यन्ते यत्र, नागेन्द्र!, स 'ब्राह्मण' इति स्मृतः"** (महाभा. ३।१७७।१६) इति युधिष्ठिरेण लक्षितम्. ततः चातुर्वर्ण्ये प्रमाणं च **"सत्यं ब्रह्म चैव हि शूद्रेष्वपि च सत्यं च"** (महाभा. ३।१७७।१८) इत्यादिना सर्पेण लक्षणे अतिव्याप्तौ अव्याप्तौ च दर्शितायां, **"शूद्रेतु यद् भवेद् लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते नवै शूद्रो भवेत् शूद्रो, ब्राह्मणो नच ब्राह्मणः. यत्र एतद् लक्ष्यते सर्प स 'ब्राह्मण' इति स्मृतः. यत्र एतद् न भवेत्, सर्प!, तं 'शूद्रम्' इति निर्दिशेद्"** (महाभा. ३।१७७।२०) इत्यनेन तेषां लक्ष्यकुक्षिनिक्षेप-लक्ष्यबहिश्काराभ्याम्[पा.भे.२०] अव्याप्त्यतिव्याप्तौ च निवारितायां प्रमाणसमर्थने च लक्षणादेव कृते **"यदि ते वृत्ततो, राजन्!, ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः वृथा जातिः तदा, आयुष्मन्!, कृतिः यावद् न विद्यते"** (महाभा. ३।१७७।२५) इत्यनेन अनियतव्यंग्यायां जातौ स्वीकृतायां **"जातिः अत्र महासर्प! मनुष्यत्वे महामते! संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्या इति मे मतिः. सर्वे सर्वासु अपत्यानि जनयन्ति सदा नराः"** (महाभा. ३।१७७।२६) इत्यनेन सांकर्यं दूषणं जातौ उक्त्वा दुष्परीक्ष्या इत्यनेन अनियतव्यंग्या न जातिः किन्तु नियतव्यंग्यैव जातिः इति सूचयित्वा, **"इदम् आर्षे प्रमाणं च"** (महाभा. ३।१७७।२८) इत्यारभ्य **"यत्र इदानीं महासर्प! संस्कृतं वृत्तम् इष्यते तं ब्राह्मणम् अहं पूर्वम् उक्तवान् भुजगोत्तम!"** (महाभा. ३।१७७।२८) इत्यनेन संस्कारवृत्ताभ्यां ब्राह्मण्यम् उक्तम्. तदपि एतदविरोधि इति ज्ञेयम्.

एवं ब्राह्मणत्वादिचतुर्णामपि वर्णानां जातित्वाभावम् उपपादितम्. तमेतम् अर्थम् महाभारतवचनैरपि उपबृंहयितुम् आहुः **एवञ्च यद् वनपर्वणि** इत्यारभ्य **संस्कारवृत्ताभ्यां ब्राह्मण्यम्** इत्यन्तं यावत्. यथाहि प्राणप्रतिष्ठासंस्कारेण मूर्तौ देवतावेशेऽपि शास्त्रोक्तपूजनमर्यादादीनां विलोपाद् तत्र देवता तिरोहिता भवति एवं स्ववर्णोचितसंस्कारवृत्तवृत्त्याद्यभावे वर्णदेवतानामपि तिरोधानम् अंगीकार्यम्. एवं संस्कारवृत्ताभ्यां ब्राह्मण्यादिकं निर्धार्य तन्नियामिकाः तास्ताः देवताइति सिद्धम्. तदेतद् उपबृंहितं ब्रह्मवैवर्तेऽपि **"कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते,**

तेनापि तस्य देवतात्वमेव स्फुटीक्रियते इति. यत्र उभयं तत्र पूर्णो निवेशो यत्र अन्यतरत् तत्र न्यूनः इति सिद्ध्यतीति.

सुखं दुःखं भयं शोकं कर्मणैव प्रपद्यते... कर्मणा ब्राह्मणत्वं च मुक्तत्वं च स्वकर्मणा... कर्मणा क्षत्रियत्वं च वैश्यत्वं च स्वकर्मणा, कर्मणा चैव शूद्रत्वम् अन्त्यजत्वं स्वकर्मणा च म्लेच्छत्वं लभते नात्र संशयः'' (ब्र.वै.पु.२।२४।१७-२३) इति यम-सावित्रीसंवादे. नच * सर्वम् एतत् न तस्मिन्नेव जन्मनि तस्मिन्नेव शरीरे वा शक्यं मन्तुं किमुत कर्मविपाकावाप्ते आगमिनि जन्मन्येव. यस्मात् अनुपदमेव ''**स्वकर्मणा जंगमत्वं स्थावरत्वं स्वकर्मणा स्वकर्मणा च शैलत्वं वृक्षत्वं च स्वकर्मणा**'' (तत्रैव.२४।२३-२४) इत्यपि उपलम्भाद् * इति आशंकनीयं, म्लेच्छत्वादेः निजकर्मनिमित्तत्वाभावे जन्मपरम्परैकमूलत्वे वा सृष्ट्यादावपि म्लेच्छमातापित्रोः अंगीकारावश्यकत्वेन सर्वेषां मनुष्याणां मनु-कश्यपादिवंशजाभावापत्तिः दुर्वारैव स्यात्. * ननु कर्मैकमूलत्वे देवतावेशकल्पनापि मुधा * इति चेत् न, बैजिकादिसंस्काराणां तत्तद्वर्णाधिकारकत्वेन तथा संस्कृतानां तत्तद्वर्णाश्रमानुरूपधर्माजीविकाप्रायश्चित्तेषु अधिकारांगीकारेण तेनैव च देवतावेशनिर्वाहात् न काचिद् अनुपपत्तिः. किञ्च अन्यत्रापि ''...**शौनको ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राः... एतस्य वंशे सम्भूताः विचित्रैः कर्मभिः**'' (ब्रह्मा.पुरा.२।३।६७।४-५) इत्यादि वचनेष्वपि अस्मदुक्तस्य उपबृंहणात् एवं सिद्धेः.

तस्माद् ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्व-शूद्रत्वानि तत्तद्देवतावेशजातानि. अतो यस्मिन् शरीरे या-या देवता निविशते स तादृक्तादृक्शरीरवान् 'ब्राह्मणा'दिपदैः वाच्यो यत्र संस्कारवृत्ते उभे दृश्येते तत्र देवतायाः पूर्णो निवेशो यत्रतु अन्यतरत् तत्र देवतावेशो न्यूनः इति व्यवस्थां निर्दिशन्ति **तेन** इत्यादिना. तद् अभ्युपगतं ''**'अब्राह्मणास्तु षट् प्रोक्ताः इति शातातपो अब्रवीद् आद्यस्तु राजभृत्यः स्याद् द्वितीयः क्रयविक्रयी तृतीयो बहुयाज्याख्यः चतुर्थो अश्रौतयाजकः पञ्चमो ग्रामयाजी च षष्ठो ब्रह्मबन्धुः स्मृतः' यद्यपि याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः ब्राह्मणस्य जीवनहेतुत्वेन विहितत्वाद् अनिषिद्धाः तथापि यावता याजनेन जीवनं निष्पद्यते तावदेव यजनं शास्त्रेण अंगीकृतम्. यस्तु सत्यपि जीवने धनाधिक्यवाञ्छया याजनशीलः सो अत्र बहुयाजी... ग्रामे नगरे च योग्यायोग्याः यावन्तः सन्ति धनाभिलाषेण तावतां सर्वेषां याजको ग्रामनगरयाजी**'' (ऐत.ब्रा.भा.३।५।) इति सायणेन. ततो

एवं किन्नर-किम्पुरुषादिष्वपि तादृशाकृतिव्यंग्यं जात्यन्तरमेव नतु संकरः. श्रीनृसिंहत्वन्तु न जातिः, व्यक्त्यभेदात्. स्वेच्छया तदा-तदा तस्यैव आविर्भावात्. अन्यथा उपासकदर्शनगोचरस्यापि अन्यत्वापत्तेः, कादाचित्कत्वस्य तुल्यत्वात्. पट्टकार्पाससूत्रनिर्मितपटे पटत्वमेव जातिः नतु पाट्टत्वादिकम्. पट्टादिनिर्मितत्वस्य तत्र उपाधित्वात्. तस्मात् संकरस्यापि बाधकत्वेन ब्राह्मणत्वादिकं न जातिः. नच * अनुगताकारप्रतीतिबाधः *, संस्कारवृत्ताद्युपाधिना तत्सिद्धेः. तदभावेऽपि या प्रतीतिः सातु सादृश्यनिबन्धना भ्रान्तिरेव इति निश्चयः. तस्माद् ब्राह्मणत्वादिकं देवतैव इति दिक्.

पुरुषोत्तमदासेन श्रीपीताम्बरसूनुना।।
सुबोधिन्युक्तरीत्यैवं ब्राह्मणत्वं विचारितम्।।४।।

इति श्रीवल्लभाचार्यमतवर्ति-श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणदासदासेन पुरुषोत्तमेन कृतो ब्राह्मणत्वादिदेवतावादो[पा.भे.२२] दशमः सम्पूर्णताम् अगात्

ब्राह्मण्यविरुद्धाचरणैः नापरजन्मन्येव तदपगतिः प्रत्युत बहुयाजन-ग्रामयाजनादिदुष्कर्मैः तस्मिन्नेव जन्मनि ब्राह्मणत्वापगमः. अतः केवलेन जन्मना ब्राह्मण्यादिवर्णाभ्युपगमेतु देहान्तरेष्वेव वर्णभ्रंशजं पातित्यं स्यात् न पातककर्मसमानकालिकशरीरे वर्णभ्रंशो नाम शंकितुमपि शक्यः. दर्शितानि शास्त्रवचांसि भूयांसीति न जन्मना वर्णवादः शास्त्राभिप्रेतः इति. तस्माद् "**ब्राह्मण्यं काचिद् देवता सा यस्मिन् देहे अभिव्यक्ता भवति ते ब्राह्मणाः इति उच्यन्ते. अतएव शापादिना शूद्रत्वं चण्डालत्वम्, अनुग्रहेण ब्रह्मत्वम्. साच उपनयनेन देहे समायाति. तदा बहूनि वाक्यानि संगच्छन्ते. एवं क्षत्रम्**"(सुबो.२।१।३७) इति आचार्योक्तौ न अनुपन्नं नाम किञ्चित्.

* ननु सांकर्यदोषस्य ब्राह्मणत्वादीनां जातित्वबाधके सति किम्पुरुषादीनामपि जातित्वं मास्तु. यदि तत्र जातिव्यञ्जकाकृतिसांकर्येऽपि न जातिसांकर्यं तदा त्यज्यतां दुरवग्रहो सांकर्यदोषस्य जातिबाधकत्वे इति आशंक्य समाधानम् आहुः **किन्नरम्पुरुषादि...** इति. तत्रापि पुनः अपवादम् आहुः **श्रीनृसिंहत्वन्तु**

इति. *ननु किम् ''**पटत्वमेव जातिः नतु पाट्टत्वम्**'' इति वदद्भिः ग्रन्थकृद्भिः अन्ते जातेः अंगीकारेण तस्याः विकल्परूपतापक्षः परित्यक्तः? न इति ब्रूमः. अनेकद्रव्येषु अनुगतप्रतीतिजनकधर्मस्य अंगीकारेऽपि तस्य स्वाधारद्रव्याराद् आत्यन्तिको भेदः तन्नाशेऽपि नित्यतया अविनाशितायाएव अनंगीकारे हार्दत्वात्. एतेन वैखानसगृह्यसूत्रोक्तं ''**निषेकाद् आजातकात् संस्कृतायां ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाद् जातमात्रः पुत्रमात्रः. उपनीतः सावित्र्यध्ययनाद् ब्राह्मणः...**'' (वैखा.गृ.सू.१।१) इति सर्वथा अनुगुणं भवति. शेषम् अतिरोहितार्थम्.

ग्रन्थेऽस्फुटाशयाश्चास्मिन् बहुलाः ह्युपपत्तयः।
इति त्यक्तमुपक्रान्तं तातपादैस्तु पाठनम्॥
कृष्णमाधव झा श्रीमान् तदा पाठितवानिमम्।
तस्मै नमोऽध्यापकाय वादव्याख्यानहेतवे॥
अधीत्यैवमहं वादं तातपादांस्तु पृष्टवान्।
''दुरूहं नु किमत्रास्ति कृपया कथयन्तु माम्''॥
तैरादिष्टं ''लिखित्वा हि दर्शय त्वं त्वदाशयम्''।
अहं मितमतिः किञ्चिद् लिखितुं नाशकं तदा॥
गुरुवाक्श्रद्धयेदानीं व्याख्या त्वक्षिप्रकारिणा।
मयायुक्ताथ युक्ता वा कृता तेभ्यः समर्पिता॥
श्रीवल्लभमताभ्यासे कृपया येन दीक्षितः।
दीक्षितं तमहं नौमि श्रीतातचरणं सदा॥

इति श्रीपुरुषोत्तमचरणानुग्रहलब्धमतिना गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण कृता ब्राह्मणत्वादिदेवतावादे चातुर्वर्ण्याधिदेवताप्रकाशिका व्याख्या सम्पूर्णा

पाठभेदतालिका

१.बाधकाभावेन तेषां जातित्वोपगमाद् इति **ग** पाठे. २.जातिबाधकः इति **मु.ख ङ.** ३.समावेशः इति **मु.** ४.नच विश्वामित्रे सांकर्याद् नैवम्

इति वाच्यं, ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वव्याप्यद्वयांगीकारे विश्वामित्रत्वव्याप्यब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वयोः वा अंगीकारे बाधकाभावाद्. अन्यथा घटत्वपृथिवीत्वादीनामपि मृद्घटादौ निवेशेनैव सांकर्यप्रसंगे जातिः दत्ततिलाञ्जलिरेव स्याद् इति **ग** (सोऽयं **ग** पाठः ग्रन्थकृता पूर्वं लिखितः पश्चात् संशोधनपरिवर्धनाभ्यां परिवर्तितः इति प्रतिभाति). ५.नातिकल्पनाधिक्यप्रसंगाद् इति **मु ङ** पाठो अशुद्धएव. ६.पट्ट इति **ग** . ७.व्यक्तित्यागेन इति **ग** तन्त्यज्य इति **ख ङ** सन्त्यज्य इति **घ** पाठम् अनुसृत्य. ८. न जातिः ब्राह्मणत्वादि व्यक्तित्यागेननिर्गमात् नियतव्यञ्जकाभावाद् वाक्यानां च विरोधनाद् इति एकैव कारिका **ग** पाठे. ९.नच न अपेति इति वाच्यं, विश्वामित्रस्थले सांकर्यवारणाय इति **ग** पाठे ''पूर्वसिद्धायां व्यक्तौ'' इत्यारभ्य ''मानाभावः शंक्यः'' इत्यन्तं यावती पंक्तिः नास्ति. १०.जातिचतुष्टयं तत्त्रयं वा वा स्वीकुर्वता त्वयैव यथायथं क्षत्रियत्वव्याप्यविश्वामित्रविश्वामित्वव्याप्यक्षत्रियत्वयोः अपयानस्य अंगीकारात्. अन्यथा सांकर्यदोषस्यैव आपातात्. नापि ''ब्राह्मणो याति अधोगतिं... ब्राह्मण्यादेव हीयते'' इति वाक्ये तदुक्तेः'' इति **ग** एतदन्तराले अन्यपाठेषु उपलभ्यमानाः पंक्तयो नोपलभ्यन्ते. ११.मन्तव्यः इति **ख ग घ ङ. १२.प्रत्यभिज्ञायाः इति मु ङ** प्रत्यभिज्ञया इति **ख घ. १३.भेत्स्यते इति ख घ ङ.** १४.तस्य व्यक्त्यन्तरत्वात् पूर्वव्यक्त्यभावेन ततो अपयानं न जातिबाधकम् इति वाच्यम् इति **ग.** १५.घटत्वादिसम्बन्धवद् ब्राह्मणत्वसम्बन्धस्य स्वतोभवनाभाद् भग्नघटछिन्नावयवपुरुषयोः व्यक्त्यन्तरत्वानुभावस्य अभावे न तदुत्पादकस्य दृष्टस्य निमित्तस्य अभावे नच तादृशो अपगमस्य अप्रयोजकत्वात् च न किञ्चिद् एतद् इति **ग** . १६.योगस्य इति **मु** पाठो अशुद्धः. १७.ब्राह्मण्यहानिः इति **मु** . १८.व्यञ्जकतापि इति **मु** . व्यञ्जकाभिव्यंग्यजातिरपि इति **ख घ.** १९. तस्मात् शास्त्रे बहुवाक्यविरोधाद् ब्राह्मण्यं काचिद् देवतैव. एवं क्षत्रियत्वादिकमपि. विश्वामित्रत्वन्तु उपाधिरेव. द्वादशे अहनि गाधिना नामकरणेन तत्संसर्गाद् देवत्वादिवद् **ग** २०.बहिष्काराभ्यां **ख ग घ** . २१.लक्षणादौ वर्तते इति **मु** २२.ब्राह्मणत्वजातिखण्डनवादः इति **ग.**

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

एकादशो

।। जीवव्यापकत्वखण्डनवादः ।।

(मंगलाचरणेन उपक्रमः)

आत्मा नित्यश्चित्स्वरूपोऽणुरेवं
यन्मायाक्तः स्वस्वरूपं न वेत्ति।
सा तीर्णा स्याद् यत्प्रपत्त्यैव देवं
तं श्रीकृष्णं भक्तियुक्तः प्रपद्ये।।१।।

(जीवात्मनाम् अस्तित्वमेव न सम्भवति इति पूर्वपक्षः)

(नाणुरात्मा शरीरे स्याद् अपरैर्वादिभिस्त्विह।।
अन्यथैवाभ्युपगमाद् गमको नेह कश्चन।।२।।
अथवा तार्किकोक्तं हि व्यापकत्वं कुतो नहि।।
लोकप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् अणुता नैव सिद्ध्यति।।३।।)

*ननु व्यर्थो अयम् आडम्बरः, शरीरातिरिक्तानाम्[पा.भे.१] आत्मनामेव अभावाद्, आत्मग्राहिकया 'अहं' वित्त्या शरीरस्यैव वेद्यत्वात्. नच सुखदुःखजनक-पूर्वजन्मीय-धर्माधर्माधारतया तस्य शरीरातिरिक्तत्वसिद्धिः, मयूरचित्रादिवत् तयोरपि स्वाभाविकतया, तज्जनकधर्माधर्मासिद्धौ तदाधारस्य आत्मनोऽपि असिद्धेः. अथ *'मदीयं-शरीरम्' इति तद्विरुद्धया भेदबुद्ध्या न देहस्य आत्मत्वम्* इति उच्यते, तर्हि तदारम्भकपरमाणुपुञ्जएव आत्मा अस्तु. नच चेतनापलापप्रसंगः तस्याः मदशक्तिवत् पुञ्जधर्मत्वात्. यथाहि केवलैः चूर्णखदिर-ताम्बूलपर्ण-पूगीफलैः न मदः समुदितैश्च मदः तथा

केवलैः परमाणुभिः न चेतना समुदितैस्तु चेतनेति चेतनायाः सिद्धौ शरीर-तदारम्भक-पुञ्जातिरिक्तात्म-स्वीकारस्य अपार्थत्वाद् * इति[पा.भे.२] प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः **लोकायतिकाः** आहुः.

(तन्निरसने विविधानि मतानि)

तद्[पा.भे.३] अन्ये न क्षमन्ते : सुखदुःखयोः कादाचित्कत्वेन स्वाभाविकत्वायोगात्. तदुक्त-दृष्टान्तीय-चित्रत्वादिनामपि सार्वदिकत्वेन कादाचित्कत्वाभावात. किञ्च "**प्रत्यक्षमात्रस्यैव प्रमाणत्वम्**" इत्यपि असंगतं धूमं दृष्ट्वा अग्निम् आदातुं धावता त्वयापि (अन्येषां प्रमाणानाम्) अंगीकरणीयत्वात्. अतः कादाचित्क-सुखादि-जनकादृष्ट-सिद्धौ तदाधारस्य देहातिरिक्तस्य आत्मनः सिद्धिः अप्रत्यूहा.

नापि शरीरारम्भक-परमाणुपुञ्जस्य आत्मत्वं विकल्पासहत्वात्. तथाहि किं [१] बाह्यः पुञ्जः चेतनाधर्मा [२] उत आन्तरः ?

[१] न आद्यः. तथाहि— "बाह्यः पुञ्जः चेतनाधर्मा ज्ञानप्रयत्नाधारत्वाद् यन्नैवं तन्नैवं घटादिवद्" इति अनुमानेन शरीरत्वावच्छिन्नस्य बाह्यपुञ्जस्य चेतनाधर्मत्वसाधने, "अनात्मा तदनाधारत्वाद् मृतशरीरवद्" इति प्रत्यनुमानेन हेतोः सत्प्रतिपक्षत्वात्. अतः शरीरादिकं जीवत्वेन विशेषणीयं, तत्रच जीवत्वं किम् इति अपेक्षायाम् अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् प्राणधारणप्रयत्नवत्त्वमेव जीवत्वेन अवधारणीयम्. ततः तद्धारणप्रयत्नवत्त्वं कस्य इति जिज्ञासायां बाह्यपुञ्जस्य वक्तव्यम्. तत्र "बाह्यपुञ्जो न प्राणधारणप्रयत्नवान् बाह्यत्वाद् मृतशरीरवद्" इति अनुमानेन बाह्यपुञ्जस्य तथात्वे निरस्ते तस्मिन् पुञ्जे जीवत्वाभावेन पक्षतायाएव अभावात्.

[२] न द्वितीयः, आन्तरपुञ्जे चेतनाधर्मकत्वस्य प्रत्यक्षतो अनवगमेन तस्याअपि तथात्वम् आन्तरत्वनैव हेतुना वक्तव्यं, तत्रापि "आन्तरपुञ्जो न तद्धर्मा आन्तरत्वात् मृतपश्वान्तरपिण्डवद्" इति साधनेन हेतोः साधारणत्वाद्

इति अन्यत्र विस्तरः.

(इह क्षपणकादीनां मतानि)

क्षपणकास्तु[पा.भे.४] * युक्तिबाधितत्वात् पूर्वोक्तम् अनंगीकुर्वन्तः सूक्ष्मत्वे सकल-शरीर-गत-चैतन्यानुपलम्भ-प्रसक्त्या देहपरिमाणकमेव आत्मानम् * **आहुः.**

अन्येतु * एकस्य नानायोनिप्रवेशात् सकोञ्च-विकास-शालि-परिमाणकम् आत्मानम् * **आहुः**

अपरेतु नानापरिमाणकम् आहुः.

(नैयायिकैः कृतं तत्प्रत्याख्यानम्)

अत्र **नैयायिकादयः** * शरीरपरिमाणकत्वे मध्यम-परिमाणस्य अनित्यत्व-व्याप्तत्वाद् आत्मनाम् अनित्यताप्रसक्तिः.[पा.भे.५] नच * आस्ताम् अनित्यत्वम् * इति वाच्यं, जातमात्रस्य बालस्य क्षुधास्तनपानादौ प्रवृत्तिदर्शनात्, तस्याः च पूर्वानुभूत-क्षुन्निवृत्ति-कारण-विषयकानुभव-जन्य-स्मृतिम् अन्तरेण अनुपपत्त्या तस्य आत्मनः पूर्वापरजन्मीय-शरीरावच्छिन्नस्य ऐक्यसिद्धेः. तेनच अनादित्वे, अनादिभावत्वेन च ध्वंसाप्रतियोगित्वेच तन्नित्यत्वस्य सिद्धत्वात्. एवमेव प्रेतादिभिः स्वपूर्वजन्मकथनादपि[पा.भे.६] तथात्वस्य सिद्धेः. सिद्धेच एवं नित्यत्वे शरीराणां नानात्वात्[पा.भे.७] तेषु सर्वेषु पर्यायेण आत्मप्रवेशे सकोञ्च-विकास-शालि-परिमाणवत्तापि न साधीयसी उक्तदोषापादकत्वात्. नापि नानापरिमाणवत्ता एकस्य नानापरिमाणवत्तायाः लोके अदर्शनात्. शरीरवद् अंगीकारे सावयवत्वापत्तेः अनिवार्यत्वात्[पा.भे.८] तद्वदेव अनित्यतायाअपि आपत्तेश्च.

(नैयायिकाभिमतात्मस्वरूपम्)

तस्माद् व्यापकाएव आत्मनः. नच अत्र युक्त्यभावः. तथाहि[पा.भे.९] : या-

गादि-जन्य-स्वर्गादि-सिद्धौ व्यापारत्वेन सिध्यद् अदृष्टं सर्वोत्पत्तिमन्निमित्त-कारणत्वेन अनेकमेव सिध्यति. अन्यथा प्रत्यात्मनियतभोगानुपपत्तेः.

तद् इदं कुसुमाञ्जलौ साधितं —

सापेक्षत्वाद् अनादित्वाद् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः।।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेर् अस्ति हेतुर् अलौकिकः।।२।।

(कुसुमा. १।४) इत्यनेन.

अर्थस्तु : **सापेक्षत्वं** कादाचित्कत्वं, तथाच ''कार्यमात्रं सहेतुकं कादाचित्कत्वाद् भोजनजन्यतृप्तिवद्'' इति सामान्यतः कार्यमात्रस्य सहेतुकत्वसिद्धौ तत्तत्कारणवस्तूनामपि कार्यत्वात् तत्तत्कारणान्तरापेक्षायाम् अनवस्थापत्तौ बीजांकुरवद् अनादेः प्रामाणिक्याः अनवस्थायाः अदुष्टत्वम् आह **अनादित्वाद्** इति. ननु ब्रह्म वा प्रकृतिः वा कारणम् अस्तु तथा सति अनवस्थायाः न प्रामाणिकत्वम् इत्यतः आह **वैचित्र्याद्** इति, ''विमतं कार्यं विचित्रकारणवद् विचित्रकार्यत्वाद् यन्नैवं तन्नैवं एकाविचित्रकार्यवद्'' इति. तर्हि विचित्रकारणं यागदानादिकं दृष्टमेव अस्तु इत्यतः आह **विश्ववृत्तितः** इति, **वृत्तिः** प्रवृत्तिः, **विश्वेषां** परलोकार्थिनां यागादौ **प्रवृत्तितः**. यागादिर्हि कर्मत्वात् नश्वरः, व्यापारं विना, कालान्तरभाविनं परलोकं, स्थिरव्यापारम् अन्तरेण न साधयितुं शक्नोतीति चिरकालस्थायी. दृष्टश्च न तादृशः कोऽपि अस्तीति तादृशादृष्टसिद्धिः. नच दृष्टं भोगसमानाधिकरणं भोगजनकं किंवा भोग्यनिष्ठं तथा इत्यतः आह **प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेः** इति, **भुक्तेः** भोगस्य प्रत्यात्मनियतत्वाद् आत्मनिष्ठमेव तत्. व्यधिकरणादृष्टस्य भोगजनकत्वे अतिप्रसंगाद् इति बोध्यः. एवं सति देशान्तरे यद् द्रव्यम् अस्मद्भोगाय उत्पद्यते तत्र अस्मददृष्टं कारणत्वेन वक्तव्यम्. तत् चेत् तस्मिन् देशे न स्यात् तदा तत्कार्यं तत्र न उत्पद्येत, कार्यमात्रस्य निमित्त-कारण-समान-देशोत्पत्तिकत्व-नियमात्. तच्च गुणत्वात् न गुणिनम् अन्तरेण तिष्ठतीति अदृष्टवदात्मा तत्र सिध्यतीति एवं तत्तद्देशीय-तत्तद्-द्रव्यभोगस्य तेषु-तेषु दर्शनात् सर्वेषाम् आत्मनां व्यापकत्वसिद्धिः.

(विभुत्वसाधकानि अनुमानान्तराणि)

केचित्तु * स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धेन अदृष्टस्य कार्यत्वावच्छिन्नं प्रति न हेतुत्वं, विभ्वोः संयोगानंगीकारेण गगनवृत्ति-शब्दरूप-भोग्यं प्रति अदृष्टकारणतायां व्यभिचारप्रसंगात्. तेन स्वाश्रयसम्बद्ध-संयोगसम्बन्धेन सर्वत्र अदृष्टस्य हेतुत्वं वक्तव्यम्. तच्च जीवात्मनाम् अणुत्वेऽपि तुल्यम्. अण्वात्म-सम्बद्धाकाश-संयोगसम्बन्धेन अदृष्टसत्त्वस्य सर्वत्र वक्तुं शक्यत्वात्. स्वरूपसम्बन्धवत् संयोगस्यापि सम्बन्धत्वाविशेषात्. अतो न प्राचां युक्तिः साधीयसी.

कथं तर्हि आत्मनां विभुत्वसिद्धिः ? इति चेद्, वक्ष्यमाणानुमानैरेव सिद्धिः.

तथाहि—

"जीवात्मा न अणुः लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वाद्, लौकिकप्रत्यक्षविषय-गुणाश्रयत्वाद् वा पटवद्".

तथा——

"जीवात्मा मध्यमपरिमाणाभाववान् नित्यत्वाद् आकाशवद्".

एवं त्रिभिः परिमाणान्तरे बाधिते परिशेषादपि व्यापकत्वसिद्धिः.

किञ्च "जीवात्मा विभुः स्पर्शरहितत्वे सति विशेषगुणाश्रयत्वात्, मनोभिन्नत्वे सति स्पर्शरहितत्वाद् वा" इति अनुमानाभ्यां तत्सिद्धिः.

अतः पञ्चानुमान्येव शरणीकरणीया इति साम्प्रदायिकमतम् अवधीय.

अपरेतु * आत्मनो अणुत्वे अणुना मनसा सह संयोगाद् द्रव्यान्तरारम्भप्रसंगः इन्द्रियमनः-संयोगदशायाम् आत्मनः-संयोगविघटनेन ज्ञानानुत्पत्तिप्रसंगश्च इत्यपि * **आहुः**.

(पूर्वपक्षोपसंहारः)

तस्माद् व्यापकाएव जीवात्मानः, चिद्धर्मकाः च नतु चिद्रूपाः, प्रत्यग्वित्तौ तथा अननुभवेन प्रत्यक्षतएव तन्निरासात्, 'चित्' पदस्य ज्ञानपर्यायत्वेन तदात्मकत्वे गुणत्वापत्त्या द्रव्यत्वहानिप्रसंगात् च.

(जीवाणुत्वसाधनाय उत्तरपक्षः)

अत्र उच्यते —

प्रत्यात्म-भोग-नियमानुपपत्त्यादि-दूषणैः ।।
ग्रस्ता व्यापकता तेषां यत्नादपि न सिध्यति ।।४।।

तथाहि यद् उक्तं ''पञ्चानुमान्येव शरणीकरणीया'' इति तद् असंगतम्, अणुत्वाभाव-साधकानुमानयोः सत्प्रतिपक्षत्वात्. ''अणुः आकाशकालादिभिन्न-नित्यद्रव्यत्वात्, शब्दभिन्नविशेषगुणाश्रयत्वे सति नित्यत्वात् च परमाणुवद्'' इति प्रत्यनुमानयोः सत्त्वात्. ''जीवात्मा न लौकिकप्रत्यक्षविषयो नित्यद्रव्यत्वाद् विभुत्वात् च आकाशादिवत्. 'अहम्' इति साक्षात्कारो न आत्मग्राहको लौकिकसाक्षात्कारत्वात् पटादिसाक्षात्कारवद्'' इति साधनैः सिद्धे लौकिकप्रत्य-क्षाविषयत्वे आद्यहेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्. तथा ''ज्ञानसुखादयो न जीवात्मसमवेताः जीवात्मनि लौकिकप्रत्यक्षेण प्रतीयमानत्वात् गौरत्वादिवत्, ''एते ज्ञानादयः करणसमवेताः स्पर्शशून्येन्द्रिय-ग्राह्यगुणत्वात् शब्दवद्'' इति साधनाभ्यां द्वितीयहेतोरपि स्वरूपासिद्धत्वात् च. मध्यम-परिमाणाभाव-साधकं तृतीयानुमानन्तु क्षपणकमत-मात्र-दूषकं नतु व्यापकत्वसाधकं नित्यत्वस्य हेतोः आकाशइव मनस्यपि सत्त्वेन साधारणत्वात्. अतः परिशेषात् न व्यापकत्वसिद्धिः.

यत् पुनः विभुत्वसाधकम् अनुमानद्वयं ''स्पर्शरहितत्वे सति विशेषगुणाश्रयत्वात् मनोभिन्नत्वे सति स्पर्शरहितत्वाद्'' इति तदपि दुष्टं, ''जीवात्मा न विभुः शब्दभिन्नविशेषगुणाश्रयत्वात्, परिच्छिन्नदेशवृत्तित्वेन प्रमीयमानत्वात् पटादिवत्. परिच्छिन्नदेशवर्ती योग्यत्वे सति स्वकार्यानुकूल-

देशातिरिक्त-देशान्तरेषु अप्रमीयमाणत्वात् पटादिवद्'' इत्यादिभिः सत्प्रतिपक्ष-त्वात्. जीवात्मनां लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वम् उपगच्छता परिच्छिन्नदेशवर्तित्वादि-ज्ञाने भ्रमत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. एवञ्च ''जीवात्मा विभुः अणु-मध्यम-परिमाणशून्य-द्रव्यत्वाद्'' इति षष्ठमपि अणुत्वाबाधात् स्वरूपासि-द्धमेवेति प्राचीनमतानादरो वैयात्यादेव. नच तन्मते व्यभिचारः शंक्यः कार्यकारण-भावस्य द्रव्यगर्भत्वेन उपन्यासाद् इति. अतः सुदृढत्वात् तन्मतमेव विचार्यते.

तत्र यद् उक्तं—''भोगनियमाद् व्यापकत्वं जीवात्मनाम्'' इति तद् असंगतम्. तथाहि : सर्वेषां विभुत्वे सकल-मूर्तद्रव्य-संयोगितया सकलेन्द्रिय-मनः-शरीरादि-संयोगः सर्वेषाम् अवश्यं वाच्यः, तथा सति सर्वेषामेव सर्वभोगे बाधकाभावात् प्रत्यात्मनियत-भोगानुपपत्तिः.

नच *विभुविशेषगुणानाम् असमवायि-कारण-प्रादेशिकत्व-नियमाद् यद्देशावच्छेदेन आत्ममनःसंयोगः तद्देशावच्छेदेनैव भोगइति व्यापकत्वेऽपि न भोगनियमानुपपत्तिः* इति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्. नच *असमवायिकारण-प्रादेशिकत्वं नाम तदवच्छेदकदेशावच्छेद्यत्वं, तच्च वीचीतरंगादि-न्यायक-शब्दोत्पत्ति-स्थले व्यभिचरतीति, नियमएव अयम् अप्रयोजकः* इति वाच्यं, प्रत्यक्षविरोधेन नानाशब्द-तदुत्पत्तिनाशादि-कल्पनायाएव कदर्यत्वात्. उक्तनिय-मानंगीकारे ज्ञानेच्छादीनामपि वैयधिकरण्यापत्तेश्च. तथा सति एकेन आम्रफलभक्षणे मुखावच्छेदेन 'आम्रं भक्षयामि'' इतिवद् देवदत्तशरीरावच्छेदेन ''अहं भुञ्जे'' इति प्रत्येकं सर्वेषाम् अनुभवापत्तेः अनिवार्यत्वात् च, ''पादे मे सुखं शिरसि मे वेदना'' इतिवद् ''देवदत्तशरीरे मे सुखं यज्ञदत्तशरीरे मे दुःखम्'' इति ज्ञानापत्तेश्च, एकस्यापि आत्मनः सर्वत्र सत्त्वेन तत्तन्मनःसंयोगादि-देशे जातानां ज्ञानानाम् एतत्समवेतत्वात् तेन-तेन मनसा तत्तदनुव्यवसाये बाधकाभावात् सर्वेषामेव सर्वज्ञतापत्तेश्च. नच इष्टापत्तिः, मानाभावाद् अननुभवाद् एकात्मवादप्रसञ्जकत्वेन सिद्धान्तहानिप्रसंगात् च. यदिच किञ्चिद् अदृष्टादिक-प्रतिबन्धकत्वेन कल्पयित्वा स्वशरीरमात्रावच्छेदेन

भोगो अंगीक्रियते तदा देहपरिमाणात्मापत्तेः दुर्वारत्वात् व्यापकतानित्यते दत्ततिलाञ्जली स्याताम्. अतः तयोः निर्वाहाय शरीरान्तरावच्छिन्नोऽपि भोगो अवश्यम् अंगीकार्यः. तथाच सति प्रत्यक्षविरोधः, सर्वेषां सर्वज्ञतापत्तिः त्रैलोक्यसंकरप्रसंगः च स्यादिति उभयतःपाशारज्जुः.

किञ्च देवदत्तशरीरावच्छेदेन आम्रे भक्षिते यज्ञदत्त-शरीरावच्छिन्नस्य तस्य "अहम् आम्रं भक्षितवान्" इति स्मरणापत्तिः सुतरां दुवरैव. अनुभवस्मरणयोः एक-प्रदेशावच्छेद्यत्व-नियमाभावात्. "नेत्राभ्याम् अद्राक्षं कराभ्याम् अस्पृशम्" इत्यादिस्मरणानां स्वजनकानुभवरूपदेशं नेत्रादिरूपम् अनादृत्यैव हृदये जायमानत्वात्, "यम् अद्राक्षं तम् अन्तः स्मरामि" इति अनुव्यवसायात्. नापि अनुभवस्मरणयोः एक-शरीरावच्छेद्यत्व-नियमः तस्यापि असाम्प्रतत्वात्. पूर्व-जन्मीयानुभव-जन्यस्य स्मरणस्य पूर्व-शरीरम् अनादृत्यैव शरीरान्तरेऽपि एकात्मवृत्तिमात्रेणैव अंगीकारात्.

अथ *तत्र आतिवाहिकस्य एकत्वात् नास्ति नियमभंगः* इति चेत्, न, प्रयागे मृतस्य इन्द्रप्रस्थादौ जातस्य जातिस्मरस्य अन्यत्र मृतस्यतु प्रेतभावेन वसतश्च प्राग्जन्म-सम्बन्धि-मित्रकलत्रादि-दर्शनादिना यत् प्राग्जन्म-स्मरणं तदनुपपत्तेः. आतिवाहिकावच्छिन्नस्य तस्य आत्मप्रदेशस्य इन्द्रप्रस्थेतु प्रेताभावात्. आत्मनः तं प्रदेशम् अनादृत्य आतिवाहिकावच्छिन्ने यस्मिन् कस्मिंश्चित् प्रदेशे स्मरणांगीकारे स्मरणस्य आतिवाहिक-समवेतत्वापत्तिः, आत्मसमवेततागमकस्य बलीयसो अनुपपद्यमानत्वात्. किञ्च अदृष्टस्यापि आतिवाहिक-समवेतत्वापत्तिः, अन्यथा भूमौ कृतेन यज्ञादिना सर्वस्मिन् आत्मनि अदृष्टोत्पत्तौ आतिवाहिकान्तरेण स्वर्गादिभोगो निराबाधो जीवतामपि स्यात्. नच आतिवाहिकदौर्लभ्यं, मुक्तजीवातिवाहिकानां बहूनां विद्यमानत्वात्. द्विधा-त्रिधा-छिन्न-गोधा-शरीर-चाञ्चल्यादौ प्रयत्नवदात्म-संयोगस्य आवश्य-कत्वेन, तत्रच गोधा-शरीर-निष्ठ-मनः-संयोगस्य तज्जनकस्य अशक्यवचनत्वेन, मुक्त-जीव-मनः-संयोग-कल्पनवद्, अत्रापि आतिवाहिकान्तर-सम्बन्धस्य शक्यवचनत्वात्. नच *आतिवाहिकस्य अनित्यत्वाद् अस्ति दौर्लभ्यम्*

इति वाच्यं, तथापि देवाद्यातिवाहिकेन अदृष्टाकृष्टातिवाहिकान्तरेण वा भोगापत्तेः अनिवार्यत्वात्.

एतनैव ''या क्रिया यदीय-व्यधिकरण-गुणाजन्या सा तदीयात्म-मनः-शरीरादि-संयोगा-समवायि-कारणिका'' इत्येवं व्याप्तेः चैत्रीयभोजन-क्रियायाः तदधिकरण-यत्नाजन्यत्वेन चैत्रीयात्म-मनः-शरीर-संयोगासमवायि-कारणकत्वात् चैत्रस्यैव भोगइति न तन्नियमानुपपत्तिः इत्यपि निरस्तं, यत्न-जनकेच्छा-ज्ञान-हेतुभूत-मनः-संयोगस्य सर्वात्मसाधारणत्वात्. तेन एकत्रैव यत्नाद्युत्पत्तेरेव अशक्यवचनत्वात्. नच अदृष्टविशेषाद् उपपत्तिः, अदृष्टनियमस्यापि अनुपपत्तेः. अदृष्टस्य कर्मनियम्यत्वेन, कर्मणः च प्रयत्ननियम्यत्वेन, प्रयत्नस्य च आत्म-मनः-संयोग-नियम्यत्वेन, संयोगस्य च सर्वेषाम् आत्मनां सर्वेषु मनस्सु सत्त्वात्. तयैव प्रणाड्या सर्वेष्वेव सर्वादृष्टानां सुवचत्वात्. नच *विलक्षणमनःसंयोगादिना दोषः परिहर्तुं* शक्यः, कारणवैलक्षण्यम् अन्तरेण मनःसंयोग-वैलक्षण्यस्य अशक्यवचनत्वात्.

अथ *कार्यैकोन्नेयं तद्वैलक्षण्यम्* इति चेद् , अस्तु तथा, तथापि न आकस्मिकमिति कारणन्तु वाच्यमेव. तत्र अन्यस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् ईश्वरेच्छैव चेद् वैलक्षण्यहेतुत्वेन आद्रियते, तदा ''एषएव भुङ्क्तां न अन्ये, अनेन कर्मणा अस्यैव अदृष्टम् उत्पद्यतां न अन्यस्य'' इत्येवम् ईश्वरेच्छयैव व्यापकात्मनां भोगनियमवद् , ''देशान्तरस्थम् (फलम्!) अयम् अनेन प्रकारेण भुङ्क्ताम्'' इत्येवम् अण्वात्मवादेऽपि निर्वाहसिद्धौ देशान्तरे अदृष्टवदात्म-संयोगांगीकारेण व्यापकत्वसाधनं जघन्यमेव.

यत्तु *''आत्मशरीरसंयोगस्य ज्ञानकारणतैव नास्ति प्रयोजनविरहेण तस्याः तत्र अनंगीकारात्, विदेहमुक्तात्मनि ज्ञानाद्युदयवारणाय ज्ञानादिकं प्रति अवच्छदेकतया शरीरस्यैव हेतुत्वावधारणात् च. अतः परशरीर-कारणाभावादेव भोगाद्यभावइति न तत्र तदापादनम् उचितम्* इति उक्तं, तदपि फलाज्ञानादिकं प्रति शरीरस्य शरीरत्वेन हेतुत्वे त्वद्रीत्यापि कारणाभावस्य

वक्तुम् अशक्यत्वात्, आत्मनां विभुत्वस्य असिद्धत्वे तत्तच्छरीरत्वेन कारणतायाः अप्रामाणिकगौरवग्रस्तत्वात् च. अतः कारणतानंगीकारेण भोगानियमसमाधानन्तु मज्जतः फेनावलम्बनमेव इति दिक्.

किञ्च व्यापकत्वे जीवानाम् ईश्वरनियम्यत्वं न स्यात्, महत्त्वेन नित्यत्वेन च अभिमानसम्भवात्, चेतनत्वादिना तौल्यप्रतिसन्धानेन भगवति सर्वोत्कृष्टत्वाद्यनंगीकारस्यापि सम्भवात् च. अतः तन्निर्वाहायापि अणुत्वमेव जीवस्य अंगीकार्यम्. इदमेव श्रीभागवते वेदस्तुतौ उक्तम् ''**अपरिमिताः ध्रुवाः तनुभृतो यदि सर्वगताः तर्हि न शास्यतेति नियमः**'' (भाग.पुरा.१०।८७।-३०) इत्यनेन.

नच सकल-शरीर-व्यापि-चैतन्योपलम्भानुपपत्तिः, चैतन्यस्य विसर्पिगुण-त्वांगीकारादपि उपपत्तेः. नच *त्रिसर्पिगुणत्वमेव असिद्धम्* इति वाच्यं, तस्य चम्पकगन्धादिषु सिद्धत्वात्. चम्पकादेः एकदेशस्थायित्वेऽपि तद्गन्धस्य बहुदेशव्यापित्वानुभवेन विसारित्वनिश्चयात्, विसारित्वस्यैव च विसर्पित्वाद् इति.

नच *गुणसत्त्वे द्रव्यसत्त्वस्य च नियामकतायाः दृष्टत्वात्, तेषु देशेषु वायूपनीत-चम्पकादि-सूक्ष्मावयव-सत्तैव अभ्युपेया. एवञ्च ''**उपलभ्य अप्सु चेद् गन्धं केचिद् ब्रूयुः अनैपुणाः पृथिव्यामेव तं विद्याद् अपोवायुं च संश्रितम्**'' (महाभा.१२।२२४।४०) इति व्यासवचनमपि संगतं भवति. तथा बहुकालोत्तरं तत्र गुरुत्वापायोऽपि युज्यतइति विसर्पित्वं न शक्यवचनम्* इति वाच्यं, निर्वाते गृहादौ उपनायकस्य वायोः अभावेऽपि केतकी-हिंगु-लशुनादि-गन्धव्याप्ति-दर्शनात्, गुरुत्वापायस्य अदर्शनात् च अवयवनिर्गमस्य अशक्यवचनत्वेन तत्र तदवयवसत्तायाः अभ्युपगन्तुम् अशक्यत्वात्.

नच *उक्तवाक्यविरोधो गन्धस्य भूमिगुणत्वेन तत्सूक्ष्मरूपत्वेन च गन्धस्य पृथिव्यनतिरेकएव तत्तात्पर्यात्. अन्यथा ''**व्यतिरेको गन्धवद्**''

(ब्र.सू. २।३।२६) इति व्याससूत्र-विरोधापत्तेः. तत्र द्रव्याधिकदेशवृत्तित्वस्यैव स्थापितत्वात्. *ननु एतस्य सूत्रस्य पूर्वपक्षकोटिस्थत्वम् अंगीकृत्य उक्तस्थलेऽपि सूक्ष्मवायुसत्त्वमेव अंगीकार्यम्, अन्यथा तत्र बहुकालोत्तरं गुरुत्व-व्यपायानुभव-विरोधापत्तेः* इति चेत् न, तादृशस्थले वाय्वाद्यंगीकारस्य अनुभवविरुद्धत्वात्. गुरुत्वाभावस्य उष्णात्मकतेजसा कालेन वा सम्भवात् च. नच *तेजसइव तत्र वायोरपि सूक्ष्मेक्षिकायाम् अनुभवइति गन्धस्य विसर्पित्वं न युक्तम्* इति वाच्यम्, उग्रगन्धस्य कस्यचित् कुसुमस्य लशुनादेः वा स्पर्शमात्रेण लग्नानाम् अवयवानाम् अपनयनार्थं जलेन करादिक्षालने तदवयवापगमेऽपि तद्गन्धस्य मुहुः मृत्स्नया क्षालनेऽपि अनपायदर्शनात्. तत्र स्पर्शमात्र-लग्न-तदवयवानां सकृत् प्रोञ्छनेऽपि असहिष्णूनां सकृत् क्षालने स्थित्यसम्भवे मुहुः तथाकरणे तत्स्थितेः सर्वथैव अशक्यवचनत्वात्.

ननु एवं गुणसत्त्वे द्रव्यसत्त्वस्य नियमभंगः इति चेत्, न नियमस्य अप्रयोजकत्वात्. विनश्यदवस्थगुणानां द्रव्यं विनैव सत्त्वस्य त्वयैव अंगीकारात्, 'विनश्यदवस्थातिरिक्ते' तिवद् 'उत्कटातिरिक्ते' ति गुणविशेषणे सामञ्जस्यात् च.

ननु गुणगुणिनोः समवायः सम्बन्धः, सच अयुतसिद्धयोः, अयुतसिद्धौ च तौ ययोः द्वयोः एकम् अनश्यद् अपराश्रितमेव अवतिष्ठते, इति अयुतसिद्धलक्षणे 'अविनश्यत्त्व'स्य उक्तत्वेन तथा विशेषणं युक्तं, नतु 'उत्कटातिरिक्ते' ति स्थितिदशायां द्रव्यासम्बद्धस्य तस्य स्थातुम् अयुक्तत्वाद् इति चेत्, न, तल्लक्षणेऽपि 'अनुत्कटे' ति विशेषणे बाधकाभावात्. तादात्म्यसम्बन्धेन सम्बद्धस्य शक्यवचनत्वात्. वेदान्तनये समवायस्य तादात्म्यविशेषत्वेनैव अंगीकारात्. नच *गुणिनं विना गुणोक्तौ गुणत्वहानिः* इति वाच्यं, "**सामान्यवान् अगुणो गुणः**" इति गुणलक्षणस्य अनपायात्. अतो अवश्यं गन्धस्य विसर्पित्वं मन्तव्यम्. एवं मणिप्रभादावपि. तद् इदं मया प्रस्थानरत्नाकरे व्युत्पादितमिति न अत्र प्रपञ्च्यते.

एवं सिद्धे उत्कटगुणस्य विसर्पित्वे चैतन्यस्यापि तथात्वांगीकारः

उपपन्नतमइति तेनैव सकल-शरीर-व्याप्ति-सिद्धौ जीवात्मनाम् अणुत्वं निर्बाधम्.

यत्तु ''चैतन्यस्य सर्वशरीरव्यापित्वे जीवो न अणुः स्यात् चैतन्यमात्रस्वरूपत्वादेव तस्य'' इति कश्चित् तत् फल्गुः, **''प्रज्ञया शरीरं समारुह्य''** (कौषी.उप.३।६) इति श्रुतौ जीवेन शरीरसमारोहणे प्रज्ञायाः करणतया निर्देशात् तस्यच कर्तुः सकाशाद् भेदएव युक्तत्वात्. **''बुद्धिर्मनीषाधिषणाधीः प्रज्ञा''** (अम.को.१।५।१) इति कोशवाक्ये प्रज्ञाचेतनयोः पर्यायतायाएव उक्तत्वात्. अतएव **''तद् एषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय''** (बृह.उप.२।१।१७) इति श्रुत्यन्तरे विज्ञानं कर्मत्वेन निर्दिष्टं नतु कर्तृत्वेन. अतः शरीरव्यापकं चैतन्यं गुणएव इत्येव युक्तम्. एवञ्च समारोहकर्तृत्वादपि व्यापकत्वबाधो बोध्यः.

ननु आत्मनाम् अणुत्वे सुखाद्यप्रत्यक्षापत्तिः गुणप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति महत्त्वसामानाधिकरण्यस्य तन्त्रत्वात्. अन्यथा परमाणुरूपादेरपि प्रत्यक्षः स्याद् इति चेद् न, अत्र योग्यतायाएव तन्त्रत्वाद् अन्यथा व्यापकात्मवादेऽपि अदृष्टादिप्रत्यक्षापत्तिः दुर्वारैव स्यात्, महत्त्वसामानाधिकरण्यस्य सत्त्वात्. वस्तुतस्तु जन्यज्ञानसुखादीनां न आत्मधर्मत्वं **''कामः संकल्पः विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव''** (बृह.उप.१।५।३)इति श्रुतेः. 'इति' शब्देन सर्वेषां तादृशां सङ्ग्रहात्. अतो अत्र योग्यतायाएव तन्त्रत्वम् इति निश्चयः. एतनैव अणुगुणानाम् अतीन्द्रियत्वनियमोऽपि अपास्तएव.

नच आत्मनाम् अणुत्वे 'अहम्' इति प्रत्यक्षानुपपत्तिः, तस्य देहादिसंवलितविषयत्वात्. स्थूलत्वादि-सामान्याधिकरण्यभानेन तस्य तथात्वनिश्चयात्. अन्यथा अणुत्ववद् विभुत्वस्यापि लौकिक-प्रत्यक्ष-विषयत्व-बोधकतायाः पूर्वं साधितत्वाद् 'अहम्' इति प्रत्यक्षम् अपलप्येतैव. अतः उभयसामञ्जस्यार्थं तस्य संवलितविषयत्वमेव निश्चेयम्. **''आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयम् अस्मि इति पूरुषः किम् इच्छन् कस्य वा हेतोः शरीरम् अनुसञ्ज्वरेद्''** (बृह.उप. ४।४।१२) इति श्रुति-सिद्धानुकूल-तर्कलाभात्

श्रुतेः च.

नच देहगत-नाड्यादि-प्रत्यक्षापत्तिः शंक्या, अन्तर्विषयकज्ञाने मनसः स्वातन्त्र्येण दूषणपरिहारयोः तवापि तौल्यात्.

नच एवं सति आलोकस्य परमाणूनां तप्तवारिस्थतेजसो वा प्रत्यक्षापत्तिः, जालार्क-रश्म्यवगत-त्रसरेणूनाम् अन्यत्रैव तत्र तेषां तेजसः च अयोग्यत्वात्. अतो योगिनां योगजधर्मप्रत्यासत्या अलौकिकप्रत्यक्षस्य अतीन्द्रियविषयत्वेन अणुत्वाबाधकत्वात् तेषामेव ते योग्याः, **''अनागतम् अतीतं च वर्तमानम् अतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः''** (भाग.पुरा.१०।६१।-२१) इति भागवतवाक्यात्.

नापि अण्वोः आत्ममनसोः संयोगे द्रव्यान्तरारम्भ-प्रसंगः, अणुद्वयसंयोगेन द्रव्यारम्भपक्षस्य श्रुतिविरुद्धत्वेन अनादरणीयत्वात्, निस्पर्शत्वस्य बाधकत्वात् च. नच * सिद्धान्ते संयोगस्य स्पर्शविशेषत्वेन अंगीकारात् संयोगसत्त्वे कथं निस्पर्शत्वम् * इति शंक्यं, तत्संयोगस्यापि अनंगीकारात्.

नच एवं सति ज्ञानानुत्पत्तिप्रसंगः, **''आत्मा मनसा संयुज्यते''** इत्यस्याः प्रक्रियायाः अनंगीकारात् किन्तु **''अधिष्ठानं तथा कर्ता''** (भग.गीता.१८।१४) इति वाक्याद् दैवेन अन्तर्यामिणा च मनोधिष्ठातृसहायेन तत्तत्कार्ये मनः प्रेर्यते, तेनच इन्द्रियं प्रेर्यते, तदिन्द्रियदेवताच तत्र अनुकूलीभवति, तदा बहिर्विषयसंनिकर्षाद् ज्ञानोत्पत्तिरिति एवम् अन्यथा-प्रक्रियया सुखेन तदुत्पत्तिसम्भवात्.

नच अणुत्वे मानाभावः **''अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः बुद्धेः गुणेन आत्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः''** (श्वेता.उप.५।८) इति श्वेताश्वतरश्रुतौ, **''सर्वे जीवाः सर्वमयाः तथापि**

अल्पाः'' (नृसिंहो.उप.९) इति नृसिंहतापनीयश्रुतौ च तदुक्तेः. अणुत्वबोधकश्रुतीनां दुर्ज्ञेयताभिप्रायकत्वन्तु ''**बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः सच आनन्त्याय कल्पते**'' (श्वेता.उप. ५।९) इत्यादिश्वेताश्वतरश्रुतौ विशेषनिर्देशादेव निरस्तम्. अन्यथा ''**एषो अणुः आत्मा चेतसा वेदितव्यः**'' (मुण्ड.उप.३।१।९) इतिवद् अणुत्वमात्रं वदेत् नतु साम्यं प्रदर्शयेत्. उत्क्रान्तिचरणविरोधादपि तथा. नच * लिंगशरीरक्रियाम् आदाय आत्मनि क्रिया उपचर्यते * इति वाच्यम् , इन्द्रियादीनां लिंगान्तःपातित्वात् ''**तम् उत्क्रामन्तम् प्राणो अनूत्क्रामति**'' (बृह.उप.४।४।२) इत्यादिश्रुतौ जीवोत्क्रमणोत्तरं प्राणचक्षुराद्युत्क्रम-कथनविरोधस्य दुष्परिहरत्वात्. एतेन प्रश्नोपनिषदि ''**कस्मिन् अहम् उत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिंश्च प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि**'' (प्रश्नोप.६।३) इति ईक्षया प्राणसृष्टिश्रावणात् तदुत्क्रान्त्यैव उत्क्रान्त्यादिव्यपदेशः इति शंकापि निरस्ता. नच एतद्विरोधो, व्यापकस्य सर्वत्र विधमानत्वेऽपि प्राणप्रतिष्ठया स्वप्रतिष्ठायाः परबोधनार्थत्वे तात्पर्यं यथा तथा तदुत्क्रान्त्या स्वोत्क्रान्तेरपि परबोधनार्थत्वमात्रएव तात्पर्येण अविरोधात्. अन्यथा उक्तश्रुतिविरोधस्य दुष्परिहरत्वाद् इति. उत्क्रान्ति-चरणोक्त-दूषणानि च भाष्यविद्वन्मण्डनयोः सम्यक् प्रपञ्चितानीति न अत्र अनूद्यन्ते. तस्माद् अणवः जीवात्मानः.

नच * ''**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु**'' (बृह.उप.४।४।२४) ''**आकाशवत् सर्वगतं नित्यं (?सुसूक्ष्मं)**'' (शाण्डि.उप.२।२।१) इत्यादि श्रुतिविरोधः शंक्यो, ब्रह्मप्रकरणपठितत्वात्. ''**न अणुः अतच्छ्रुतेः न इतराधिकाराद्**'' (ब्र.सू.२।३।२१) इति तत्त्वसूत्रेण तथा निश्चयात्.

नच ''**नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलो अयं सनातनः**'' (भग.गीता.२।२४) इति गीतावाक्ये 'अयम' इति पुरोवर्तिनिर्देशात् तथात्वं शंक्यम् , अर्जुनविषादनिवृत्त्यर्थं ब्रह्मभूत-जीवस्वरूपम् आदाय भगवता तथाबोधनात्. ब्रह्मभावे आनन्दांशाविर्भावाद् व्यापकत्वादि-ब्रह्मधर्माणामपि

प्रादुर्भावात् "**पुंस्त्वादिवत् तस्य सतो अभिव्यक्तियोगात्**" (ब्र.सू. २।३।३१) इति सूत्रेण, साम्योपायन(द्रष्ट.मुण्ड.उप. ३।१।३)श्रुत्या च तथा निर्णयाद्. अन्यथा 'निरञ्जने'ति श्रौतविशेषणव्याकोपात्. एवञ्च यथा अयोगोलकस्य दाहकत्वेऽपि न तेन रूपेण दाहकत्वं किन्तु वह्नित्वेन तथा आत्मनां तदानीमपि ब्रह्मरूपेणैव व्यापकत्वं न स्वेन रूपेण. इत्यनेनापि न अणुत्वबाधः. तस्माद् अणुत्वं निर्बाधमेव.

तेच चित्स्वरूपाएव. नच उक्तदोषापत्तिः —

सुष्वापस्मरणात्, श्रुत्या, चिदात्मत्वे विनिश्चते।।
नोक्तदोषाः प्रसज्यन्ते भ्रान्तैर्दत्ताअपि स्फुटम्।।५।।

यथा वसनाद्यावृतस्य स्वरूपं न सम्यग् अवगन्तुं शक्यते तथा शरीरद्वयावृतं जीवस्वरूपमपि. अन्यथा कृशत्वादिवैशिष्ट्यं न अभिमन्येत. अतः प्रत्यग्वित्तेः संवलितविषयत्वेन केवलस्वरूपानवगाहित्वात्, न अनया प्रत्यवस्थानम् उचितं, दर्शनोपायानुशासन-वैयर्थ्यापत्तेः च. नच गुणत्वाद्यापत्तिः, निर्विषयज्ञानस्य तथात्वाभावात्. नच तादृशज्ञानाभावे मानाभावो, अनुमानेन सिद्धेः. तथाहि सुषुप्तौ द्विविधेऽपि करणे लीने, ततः कुतोऽपि हेतोः उत्थितस्य पुंसः "सुखम् अहम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम्" इति "आत्मानमपि अबुद्ध्वा शयितो अस्मि" इत्यादिस्मरणात् सुषुप्तौ अनुभवो अस्ति इति अनुमीयते, अनुभवं विना स्मरणायोगाद्, अनुभवत्वेन स्मरणत्वेन कार्यकारणभावात्. सच न सविषयकः तथा सति तदानीं विषयमपि प्रकाशयेत्. नापि साक्षात् परम्परया वा विषयजन्यः तथा सति सविषयकः स्यात्, सविषयकस्य विषयजन्यत्वनियमात्, प्रत्यक्षं परोक्षं वा विषयप्रकाशनप्रसंगात् च. अतो विषयाजन्यो निर्विषयकएव विलक्षणः कश्चिद् अनुभवो अस्ति इति निश्चीयते. एवं सति विषयकालभेदेन भिन्नेष्वपि स्मरणेषु यो अहन्ताम् अभिमन्यमानो नित्यदा अनुस्यूतः सएव तदानीमपि मुक्ताहन्तो अविषयः केवलानुभवस्वरूपः. इदानीं स्वाज्ञानमाननात् तदानीम् अस्पष्टप्रकाशः स्वयमेव स्वरूपेण प्रकाशतइति

स्वयम्प्रकाशं तत्स्वरूपं मन्तव्यम्.

किञ्च निद्रायां परस्पर्शादौ ''मां स्पृशति'' इत्यादिज्ञानाभावात् न देहाध्यासः. 'पश्यामि'-'संकल्पयामि'-'श्वसिमि'-इत्याद्यनुव्यवसायाभावात् न इन्द्रिय-मनः-प्राणाध्यासाः. अतः परम् अहंकाराध्यासो अवशिष्यते. सोऽपि चेत् ''न अहम् आसम्'' इति स्मरणे अभावप्रतियोगित्वेन भातः तदा सुषुप्तौ केवलो द्रष्टैव विनिद्रो अवशिष्यते इति निश्चीयते.

प्रयोगस्तुः : ''सुषुप्त्युत्तरकालीनं 'न किञ्चिद् अवेदिषम्' इत्यादिरूपं स्मरणम् अनुभवजन्यं स्मरणत्वाद्, यदेवं तदेवं यन्नैवं तन्नैवम्'', ''उक्तस्मरणजनको अनुभवः आत्मभिन्नो अविषयत्वाद् यन्नैवं तन्नैवम्'' इति.

नच स्मरणानुरोधात् तदानीम् अहमध्यासापत्तिः, स्मरणस्य विशेषप्रत्यय-त्वेन विशेषानुग्रहजन्यत्वात् तदननुरोधात्, ''सोऽयं देवदत्तः कुण्डली'' इति प्रत्ययवत्.

यत्तु पार्थसारथिमिश्राः *सुषुप्तौ सुखम् आत्मा वा न प्रकाशते अभासमानस्य च व्यवहारमात्रेण प्रकाशनं न वक्तुं शक्यम्. किञ्च सुष्वापाद् उत्थिताः कामुकाः आश्लिष्टां कामिनीम् अबुद्ध्वा निर्विद्यन्ते ''मया मृतवद् शयितं कामिनीं विना, वृथैव यामिनी गता'' इत्यादि. यदि सुषुप्तौ स्वल्पोऽपि परमानन्दो अनुभूतः स्यात् निर्वेदो न अवकल्प्येत. सुखविस्मरणाद् निर्वेदः चेत् ''सुखम् अस्वाप्सम्'' इति व्यवहारो न युज्येत. अतः सुषुप्त्युत्थितस्य सुषुप्तौ अवगतं किञ्चिदपि दुःखम् अस्मरतः स्मरणानुत्पत्त्यैव ''सुषुप्तावस्थायां न मे दुःखम् आसीद्'' इति अवगम्य तत्रैव दुःखाभावे गुणवृत्त्या सुखव्यवहारः, ''आत्मानमपि अबुद्ध्वा शयितो अस्मिं इति व्यवहारात् च न आत्मापि स्वप्रकाशः''* इति आहुः तद् अविचारचारु. तथाहि ''सुखम् अहम् अस्वाप्सम्'' इति स्मरणे स्वप्नक्रियाविशेषणत्वेन स्मर्यमाणस्य सुखस्य सुषुप्तिसमानकालीनत्वमेव गोचरीक्रियते.

तच्च सुखं ''**सत्सम्पत्त्या**'' (द्रष्ट.छान्दो.उप.६।८।१) इति श्रुत्या अवसीयते. अतो न अयं गौण्या वृत्त्या व्यवहारः. कामुकनिर्वेदस्तु बाह्यसुखाभावादेव अवकल्प्यमानो न तत्रत्यसुखबाधकः इति. आत्माबोधज्ञानन्तु न तत्रत्यसुखबाधकविषयत्वेन आत्मबोधाभावविषयकमिति न स्वप्रकाशतां बाधते. अन्यथा सुखात्मानावपि न स्मर्येयाताम्. अनुभवम् अन्तरेण स्मरणायोगाद् इति उक्तम्[पा.टि.].

यत्तु[शो.प.] नैयायिकाः *''सुखम् अहम् अस्वाप्सम्''इति ज्ञानं न स्मरणं पुरितन्मनःसंयोगस्य ज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन सुषुप्तौ च तत्संयोगेन तदानीं ज्ञानमात्राभावाद् बाधिते अनुभवे कारणाभावेन ''सुखम् अहम् अस्वाप्सम्''इति ज्ञानस्य स्मरणरूपतायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच *अतीतविषयकज्ञानत्वेन तस्य स्मरणत्वम्* इति युक्तं, नष्टेऽपि घटे तद्विशिष्टघटानुभवदर्शनाद्. नच तत्स्मरणमेव इति वाच्यं, ''नष्टं घटं पश्यामि'' इति अनुभवस्य सर्वजनीनत्वात्. किञ्च तस्य स्मरणत्वे तत्र उद्बोधककल्पनागौरवम्. तस्मात् तादृशं ज्ञानम् अनुभवएव* इति आहुः, तद् असंगतं, पुरीतन्मनःसंयोगस्य जन्यज्ञानएव प्रबिन्धकतया आत्मरूपाजन्यज्ञानाबाधकत्वात्. कारणसद्भावे सिद्धे तस्य स्मरणरूपतायाः सुखेन वक्तुं शक्यत्वात्. नच *'अनुभवामि'इति अनुव्यवसायात् न तथा इति वाच्यं, तादृशानुव्यवसाये मानाभावात्. 'जानामि'इति अनुव्यवसायस्य च स्मृत्यनुभवसाधारण्येन तत्स्वरूपानिर्णायकत्वात्. अतीतविषयकज्ञानस्यापि अनुभवत्वे ''मृतः पिता'' इति कालान्तरेऽपि ज्ञानस्य अनुभवत्वापत्तेः, ''मृतं पितरम् अनुभवामि'' इति तदानीं अनुव्यवसायापत्तेः च. अतो नष्टघटस्थले ध्वंसव्यञ्जककपालदर्शनादेव जातायां घटध्वंस-बुद्धौ विद्यमानस्य ध्वंसस्य विशेषणताप्रत्यासत्त्या दर्शनगोचरत्वे एकसम्बन्धिनो अपरसम्बन्धिस्मारकत्वात् स्मरणोपनीतस्य घटस्यापि उपनीतभानमेव नतु लौकिकानुभवविषयत्वम्. उपनायकञ्च स्मरणमेवेति तदनुव्यवसायोऽपि

पा.टि. : ''चतुर्दशपत्रे अनंकपुटीयषष्ठपंक्तौ शोधपत्रद्वयं वर्तते'' इति ग्रन्थकृद्हस्ताक्षरालेखितायां **ख** मातृकायां उपलभ्यमानापि टिप्पणी न कस्यामपि दृष्टिगोचरा ऋते जूनागढस्थग्रन्थागारीयां **छ** मातृकाम्. अतः तत्र यथा उपलभ्यते तथेह योज्यते (गो.श्या.म.).

स्मरणमूलकएव स्मरणाभिमानप्रमोषमात्रं परम्. एवं प्रकृतेऽपि सुषुप्तोत्थितानां निरालस्याद्यवस्थास्मृत्युपनीतमेव सुखस्वापज्ञानम् अंगीकार्यम्. तथा सति किम् अन्तर्गड्डुना अनुभवेन इति.

यत्तु गौरीकान्तीये * ज्ञानमात्रं प्रति आत्ममनःसंयोगस्येव त्वङ्मनःसंयोगस्यापि कारणत्वात् सुषुप्तिकाले च मनसः त्वचं विहाय पुरितत्प्रवेशात् तदानीं न किमपि ज्ञानम्. नच * ''सुखम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम्'' इत्यादि बोधः कथं जायते? दुःखाभावरूपस्य सुखस्य ज्ञानाभावस्य च तदानीम् अननुभूतत्वेन स्मरणासम्भवाद् * इति वाच्यम्, एतस्य अनुमित्यादिरूपोपनायकबलाद् जाग्रद्दशायां जायमानस्य उपनीतभानत्वेन सुषुप्तिकालानुभूतस्मरणरूपत्वाभावाद् * इति उक्तं तदपि मन्दं, सामग्र्यभावेन अनुमित्यादेः वक्तुम् अशक्यत्वात्. तथाहि अनुमितेः उपनायकत्वं वदता हि जाग्रद्दशायां निरालस्यत्वादिना पूर्वं सौषुप्तिकौ दुःखाभाव-ज्ञानाभावौ अनुमेयौ. तत्र किम् अवस्थापक्षकम् अनुमानं किंवा स्वात्मपक्षकम्? यदि ''सुषुप्त्यवस्था-यावद्दुःखाभावे ज्ञानाभाववती जाग्रत्स्वप्नविलक्षणावस्थात्वाद् यद् एवं मोहावस्थावत्, यन्न एवं जाग्रदादिवद्'' इति, तदा अन्वयव्याप्तौ दृष्टान्तस्य साध्यशून्यत्वम्. तत्र पूरीतन्मनःसंयोगस्य अनंगीकारेण ज्ञानशून्यत्वस्य भवता वक्तुम् अशक्यत्वात्. तादृशसंयोगांगीकारे च तस्यापि सुषुप्तिविशेषत्वात् पक्षएव अन्तर्भावेन हेतोः सपक्षव्यावृत्तत्वं, सुषुप्तित्वेन सुषुप्तिज्ञानस्य पूर्वम् अभावात् आश्रयासिद्धत्वम्, इतः पूर्वावस्थात्वेन ज्ञानेतु तस्याः विलक्षणावस्थात्वं ज्ञानाभावानुमेयं सच विलक्षणावस्थात्वानुमेयइति अन्योन्याश्रयाद् हेतुहेतुमद्भाव-विरोधः चेति दोषत्रयम्. इदञ्च दोषत्रयं व्यतिरेकव्यप्तावपि समानम्. यत्र-यत्र दुःखं ज्ञानवत्त्वं तत्र-तत्र जाग्रदादिविलक्षणावस्थात्वाभावः इति तस्याम् आकारात्. तथा ''सुषुप्तिः न ज्ञानशून्या जीवावस्थात्वाद् जाग्रदादिवत्'', ''पुरीतति मनःसंयोगावच्छिन्नः आत्मप्रदेशो न ज्ञानादिशून्यो दैहिकमनःसंयोगावच्छिन्नत्वात् त्वङ्मनःसंयोगावच्छिन्नप्रदेशवद्'' इति प्रत्यनुमानग्रासः च इति. यदितु स्वात्मपक्षकम् ''अहम् एतदव्यहितपूर्वकाले दुःखाभावज्ञानाभावसुषुप्तिमान् विलक्षणमनःसंयोगवत्त्वात्, यदा नैवं तदा नैवं यथा इदानीम्'' इति प्रयुज्यते,

तदापि हेतोः साध्यसमत्वम्, मनसो अतीन्द्रियत्वेन विलक्षणमनःसंयोगस्य अप्रत्यक्षत्वात्. पूर्वकालिकेन ज्ञानाद्यभावेन अनुमेयत्वेतु ज्ञप्तौ परस्पराश्रयापत्त्या हेतुहेतुमद्भावविरोधः. इदञ्च दूषणद्वयं व्यतिरेकव्याप्तावपि स्थिरम्. ''यत्र-यत्र सुखाभावो ज्ञानाभावः सुषुप्त्यभावः तत्र-तत्र विलक्षणात्ममनःसंयोगाभवः'' इति तदाकारे प्रविष्टस्य सुषुप्त्यभावात्मकस्य व्याप्यस्य आत्मसदृशमनःसंयोगाभा-वत्मकस्य व्यापकस्य च अतीन्द्रियप्रतियोगिकाभवात्वेन अप्रत्यक्षतया ग्रहणाशक्यत्वं च. अतएव त्वङ्मनोविरहकाले ''यदि अहं तत्कालीन-सुखाभाव-ज्ञानाभाव-सुषुप्त्यभाववान् भवेयं तदा विलक्षणमनःसंयोगवान् भवेयम्'' इति अनुकूलतर्कानुसन्धानम् अभिमानमात्रमेव इति ध्येयम्. अथ अस्तु यत्किञ्चिद् अन्यद् अनुमानं तत्रापि पूर्वं व्याप्तिः क्वचिद् ग्राह्या. ततो हेतुदर्शनेन स्मर्तव्या. ततो व्याप्यत्वेन लिंगे परामृष्टे तस्य अनुमानत्वं वक्तव्यम्. तदा विप्रतिपद्यमाने ज्ञाने विलम्बस्तु भवत्येव. सच न दृश्यते अतो विलम्बाभावदर्शनात्मकस्य व्याप्तिज्ञानविधुराणामपि तादृशज्ञानदर्शनात्मकस्य च बाधकतर्कद्वयस्य विद्यमानत्वात् तेन पराहतं सत् न कथमपि स्वकार्ये प्रभवति इति अनुमितेः उपनायकत्वे मूलएव कुठारपातः.

एवम् उपमितेरपि, अतिदेश्यस्य अभावेन आतिदेशिकवाक्यस्य अशक्यवचनतया तस्याअपि उत्पत्त्ययोगात्. नापि शाब्दस्य, परात्मादिधर्मस्य परेण अज्ञानाद् आप्तस्यैव अभावात्. नापि श्रुतिपुराणयोः तादृशवाक्यम् उपलभ्यते यज्जन्येन ज्ञानेन सौषुप्तिको विषयो उपनीयेत. विवादास्पदीभूतज्ञानस्य स्मृतिबोधकन्तु वाक्यम् उपलभ्यते एकादशस्कन्धे हंसगीतायां **''यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणो अर्थान् भुंक्ते समस्तकरणैः हृदि तत्सदृक्षान् स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः स्मृत्यन्वयात् त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः''** (भाग.पुरा. ११।१३।-३२) इति. तस्मात् सुषुप्तिविषयकस्मरणस्य उपनीतभावत्वांगीकरणं मज्जतः फेनावलम्बनमेव.

*ननु भवतु शब्दाद् एवं तथापि युक्त्यातु विरुद्ध्यते[शो.प.] तथाहि स्मरणस्य स्वसमानविषय-जन्यत्वनियमानुरोधात् तदानीं विषयत्वनैव एषां भानम्

अंगीकार्यम्. तच्च अर्थान्तरतापादकं प्रत्यक्षविरोधि च, निर्विषयन्तु ज्ञानं न क्वापि सिद्धम्. अतः इदं न युक्तम्* इति चेत्, न, तत्तायाइव इदानीं सविषयत्वस्य स्फूर्तावपि तदानीं निर्विषयत्वस्य अबाधात् उक्तनियमस्य अप्रयोजकत्वात्. अन्यथा तत्तायाः अतीतत्वस्य च अस्फुरणापत्तेः, निर्विषयत्वस्यच जन्यज्ञानएव बाधकत्वेन आत्मरूपाजन्यज्ञानाबाधकत्वात्. अतएव श्रुतिरपि "**अत्र आत्मा(?पुरुषः) स्वयञ्ज्योतिः भवति**" (बृह.उप.४।३।९) इति आह; तथा, "**हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः**" (बृह.उप.१।३।७) इति, "**प्राणो अहं(?अस्मि) प्रज्ञानात्मा**" (कौषि.उप.३-।२) इति च. अतो न चोद्यावसरः. एवं सिद्धे चित्स्वरूपत्वे 'प्रकाशाश्रय'(द्रष्ट.ब्र.सू.३।२।१८)न्यायेन चिद्धर्मकत्वमपि अस्तु. "**प्रज्ञया शरीरं समारुह्य**" (कौषि.उप.३।६) इत्यत्र करणत्वेनापि निर्देशात् सापि न जन्यज्ञानरूपा "**ह्रीः धीः भीः इति एतत् सर्वं मनएव**" (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुत्या तस्याः मनोधर्मत्वकथनात्; किन्तु, या सकलदेहव्यापिनी चेतना व्यवहारहेतुः सर्वानुभवसिद्धा सैव श्रुतौ विवक्षिता.

तस्याश्च व्यापकत्वम् एकादशस्कन्धे भगवतापि उक्तम् :

तमसा ग्रस्यते पुंसः चेतना व्यापिनी द्रुतम्।
तया च रहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते॥
ततो अस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च।
(भाग.पुरा.११।२१।२१)

'ग्रस्यते' इति अभिभूयते, 'तया रहित' इति व्यापिन्या शून्यः. अतो न कोऽपि शंकालेशः. तस्मात् सैव सकलशरीरव्यापिनी जीवस्तु अणुरेव इति निश्चयः.

एवं सुबोधिनीरीतिम् अनुसृत्यात्मनामिह॥
संसारिणां व्यापकत्वं युक्तिभिः शकलीकृतम्॥६॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यमतानुवर्ति- श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणनलिनरजोरञ्जितोत्तमांग-

श्रीपीताम्बरतनुज-पुरुषोत्तमकृतायाम् अवतारवादावल्याम्
एकादशो जीवव्यापकत्वखण्डनवादः
सम्पूर्णः

पाठभेदतालिका

१.'शरीरातिरिक्तानाम्' इत्यारभ्य 'आत्मास्तु' इत्यन्ता पंक्तिः **च ग** मातृकयोः नोपलभ्यते. २.बाह्याः आहुः इति **च ग**. ३.इतः आरभ्य 'तथाहि किम्' इत्यन्तं यावत् **च ग** पाठयोः नास्ति एतत्स्थाने ''तएवं प्रष्टव्याः किं बाह्यः उत आन्तरः ? आद्यः चेत् मृतशरीरेऽपि ज्ञानापत्तिः. न द्वितीयः तस्यापि केशोण्डुकन्यायेन कदाचिद् दृश्यत्वापत्तिः. नच इष्टापत्तिः प्रकाश्यत्वापत्तेः दृश्यत्वस्य प्रकाशत्वव्याप्यत्वात्. नच एतच्छक्यवचनं तत्प्रकाशकस्य अनिर्वाच्यत्वात्. सत्यपि सूर्यादौ स्वापे तदप्रकाशात्. असत्यपि तस्मिन् अन्धकारेऽपि जागरणे प्रत्यग्वित्त्या प्रकाशाद् इति अन्यत्र विस्तरः इति पंक्त्यन्तरोपलब्धिः (एतत् प्रथमालेखनं पश्चात्तने आलेखने संशोधनपरिवर्धनयोः उपलम्भाद् अनुमीयते). ४.इतआरभ्य बीजांकुरवद् अनादित्वाद् इति **च ग** पाठयोः आन्तरालिकी पंक्तिः नोपलभ्यते ५. अनित्यत्वापत्तेः. नच इष्टापतिः जातमात्रस्य बालस्य क्षुधास्तनपानादौ प्रवृत्तिदर्शनात्. तस्याश्च पूर्वानुभूतानुभवजन्यस्मृतिम् अन्तरेण इति **च** ६.तत्सिद्धेः **च** ७.तत्र सर्वत्रापि पर्यायेण आत्मप्रवेशात् **च** ८.तथाच सति **च** ९.सर्वोत्पत्तिनिमित्तकारणत्वं यादृक्... सिद्धं तच्च नैकं प्रत्यात्मनि भोगस्य नियतफलात् **च** . १०छ मातृकायां प्रतिलिपिकर्तुः —

''रसगुणवसुचन्द्रसम्मितेऽब्दे विकृतिचणे मधुचैत्रमासिशुक्ले।
प्रतिपदि भृगुवासरेऽलिखच्छ्रीपतिरिदमादरतो गृहीति काश्याम्॥

समाधावाधाय द्रुहिणभवसाधारणतराः
मनोगाधाबाधारहितममराधाम्नि सुखिनः।
निराधारस्याधावनुपतत आधारधरणी
ममाद्या सा राधा सततमपराधान् दलयतात्॥

कृष्णकृपालो! पाहि माम्!''

इति अधिकम् उपलभ्यते.

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

द्वादशो

।। जीवप्रतिबिम्बादिरूपताखण्डनवादः ।।

(मंगलाचरणेन उपक्रमः)

यच्चिदंशेषु जीवेषु प्रतिबिम्बादिरूपताम्।।
वदन्ति मतभेदैस्तं श्रीकृष्णं सर्वदाश्रये।।१।।

(प्रतिबिम्बवादेन आक्षेपः)

(श्रुतिसूत्रविरुद्धत्वाद् जीवो नांशोऽभ्युपेयते।।
गीतोक्तन्तु तदंशत्वं प्रतिबिम्बादिरूपतः।।२।।)

*ननु जीवानाम् अंशत्वकथनम् अयुक्तम् श्रुत्यादिविरोधात्. तथाहि "**एकएव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्**" (ब्र.बि.उप.१२) इति ब्रह्मबिन्दुपनिषदि जलचन्द्रदृष्टान्तेन एकस्य भूतात्मनो बहुधा दर्शनकथनात्. "**यथाहि अयं ज्योतिः आत्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधा एको अनुगच्छन् उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेषु एवम् अजो अयम् आत्मा**" (द्रष्टव्य : ब्र.सू.शां.भा.३।२।१८) इति स्मृतौ च उपाधिना भेदे रूपकरणकथनात्[पा.भे.१]. व्यासपादैरपि "**अतएव च उपमा सूर्यकादिवद्**" (ब्र.सू.३।२।१८) इति सूत्रेण तदर्थबोधनात् च ब्रह्मप्रतिबिम्बत्वस्यैव निश्चयात्. नच "**ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**" (भग.गीता. १५।७) इति गीतावाक्याद् "**अंशो नानाव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.२।३।४३) इति सूत्रात् च अंशत्वं सम्भावनीयं गौण्यापि उपपत्तेः. अन्यथा जीवस्वरूपविचारे भगवान् बादरायणः "**आभासएव च**" (ब्र.सू.२।३।५०) इति न सूत्रयेत्. तस्मात् प्रतिबिम्बः आभासो वा जीवः.

(तत्र षट्पक्षाः)

नच भूतानां क्षेत्राणां च अस्वच्छत्वाद् उपाधेः अनिर्वायित्वेन असाम्प्रतत्वं शंकनीयं, मायादीनामेव उपाधित्वात्. तथाहि अत्र षट् पक्षाः.

(१)तत्र अनादिः अनिर्वाच्या भूतप्रकृतिः चिन्मात्रसम्बन्धिनी माया, तस्यां चित्प्रतिबिम्बः ईश्वरः, तस्याएव मायायाः परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेषु 'आवरणविक्षेप-शक्तिमदविद्या'भिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीवः इति एकः पक्षः.

(२)त्रिगुणात्मिकायाः मूलप्रकृतेः "**माया च अविद्या च स्वयमेव भवति**" (नृसिं.उत्त.ता.उप.९।३) इति श्रुतिसिद्धं रूपद्वयम्. तत्र रजस्तमोनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तस्यां चित्प्रतिबिम्बः ईश्वरः. तदभिभूतमलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या तस्यां चित्प्रतिबिम्बो जीवः इति अपरः.

(३)विक्षेपशक्तिप्राधान्येन 'माया'शब्दितायां मूलप्रकृतावेव [पा.भे.२]. चित्प्रतिबिम्बः ईश्वरः. आवरणशक्तिप्राधान्येन 'अविद्या'दिशब्दितायां तस्यामेव चित्प्रतिबिम्बो जीवः इति तृतीयः.

(४)अविद्यायां चित्प्रतिबिम्बः ईश्वरो अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बो जीवः इति तुरीयः.

(५)घटाकाश-जलाकाश-महाकाश-मेघाकाशवत् कूटस्थ-जीव-ब्रह्मे-श्वरभेदेन चैतन्य-चातुर्विध्य-वादिनां मते ब्रह्माश्रितमायातमसि स्थितासु सर्वप्राणिनां धीवासनासु प्रतिबिम्बितं चैतन्यम् ईश्वरः. स्थूलसूक्ष्म-देहावच्छिन्न-चैतन्य-स्थिते मायाकल्पिते अन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः इति च पञ्चमः.

एवं प्रतिबिम्बेश्वरवादिनां पञ्च पक्षाः.

(६)बिम्बेश्वरवादिमतेतु जीवोपाधिना अन्तःकरणादिना अवच्छिन्नं

चैतन्यम् ईश्वरो बिम्बभूतो, अज्ञाने तत्प्रतिबिम्बो जीवः. तत्रापि अज्ञानपरिणामभूतम् अन्तःकरणं जीवस्य विशेषाभिव्यक्तिस्थानम् इति षष्ठः.

एवं नानापक्षैः उपाधेः निरुक्तत्वाद् ईश्वररूपेण एकधा जीवरूपेण च बहुधा दर्शनोपपत्तेः प्रतिबिम्बपक्षएव साधीयान्.

(अवच्छेदवादेन पूर्वपक्षः)

अथवा, "**घटसंवृतम् आकाशं नीयमाने घटे यथा घटो नीयेत नाकाशं तद्वद् जीवो नभोपमः**" (ब्र.बि.उप.५।१३) इति श्रुतौ अवच्छिन्नवादस्यापि उक्तत्वाद् अविद्यावच्छिन्नं ब्रह्मैव वा जीवो अस्तु. नतु अंशः * इति प्राप्ते उच्यते—

(उत्तरपक्षः)

युक्तिबाध्या न युक्तेयं प्रतिबिम्बादिरूपता॥
श्रुतेः सम्यग्विचारे च तस्याअपि विरोधतः॥३॥

(उक्तानां षण्णां कल्पानां निरसनम्)

तथाहि, ये अत्र आयुष्मता षट्पक्षाः उक्ताः तेषु [१] येन आवरणविक्षेपशक्तिरहितायाम् 'ईश्वरा'ख्यः प्रतिबिम्बः स्वीकृतः तन्मते ईश्वरासिद्धिः, अतिस्वच्छायां प्रतिबिम्बासम्भवात्. स्फटिकादौ तथा निश्चयात्. नच * किञ्चिद् दूरतो मलिनशक्तिसम्बन्धेन वक्रितोपनेत्रादाविव उपपद्यते * इति वाच्यं, सृष्टेः पूर्वम् आकाशादेः अनुत्पन्नत्वात् कारणेऽपि अन्तस्सत्त्वेन बहिः अवकाशासत्त्वाद् दूरभावस्य अशक्यवचनत्वेन दोषतादवस्थ्यात्. नच * बहिरपि अवकाशो अभ्युपगम्यते * इति वाच्यम्, ईश्वरस्य चितः च प्रादेशिकत्वापत्तेः व्यापकत्वहानेः आकाशसम्भवश्रुति(तैत्ति.उप.२।१।१)विरोधात् च तदंगीकारस्य जघन्यत्वात्. योऽपि आवरणादिशक्तिमत्सु तत्प्रदेशेषु जीवाख्यः प्रतिबिम्बः, सोऽपि दुरुपपादः. तस्मिन् मते आवरणशक्तेः आन्तरालिकत्वेन व्यवधानात्. अनान्तरालिकत्वे च तदसंसर्गे जीवस्य अज्ञत्वानुभवो दुरुपपादो

अवकाशाभावादिदूषणग्रासः च. अतो न भूतप्रकृतेः तत्प्रदेशानां वा उपाधित्वं साधीयः. [२] अतएव न द्वितीयपक्षीयमायाविद्ययोरपि. किञ्च उभयोः मायाविद्ययोः व्यापकत्वे रजस्तमोनभिभूतत्वाभिभूतत्वयोः सार्वत्रिकत्वेन मायाविद्याविवेकासम्भवात् प्रतिबिम्बयोरपि अविवेकेन जीवेश्वरविभागस्य दुरुपपादत्वम्. अव्यापकत्वे जीवेश्वरयोः व्यापकताहानिप्रसंगः च. अथ मायायाः व्यापकत्वं बहिः सर्वतः स्वच्छत्वम् अविद्यायाः च तदन्तःस्थायाः मलिनस्वच्छत्वम् उपगम्यते तदापि व्यापके प्रतिबिम्बादर्शनाद् ईश्वरो दुरुपपादो, मायायाः त्रिगुणत्वाद् बहिष्ठायाः चितो मायांश-रजस्तमोभ्याम् अविद्याव्यवधाने तत्प्रतिबिम्बासम्भवाद् जीवोऽपि तथा. निकटचितस्तु नैकट्याादेव तदसम्भवः इति तथा. किञ्चिद्दूरत्वावकाशादिकल्पनेतु पूर्वोक्तदूषणापत्तिः. तस्माद् द्वितीयोऽपि न साधीयान्.

[३] तथैव तृतीयोऽपि, पूर्वोक्तानामेव दोषाणाम् अत्रापि सञ्चारात्. [५] पञ्चमेतु पक्षे आकाशदृष्टान्तेन यद्यपि चैतन्यस्य द्विगुणीकृत्य वृत्तिः उक्ता, तथापि दृष्टान्तानुरोधाद् उपाध्यसंसृष्टस्यैव प्रतिबिम्बो अंगीकार्यः. तथा सति आन्तरालिकमायातमसो घनावयवादिमत्त्वेन धीवासनाव्यवधायकत्वाद् ईश्वरासम्भवः. विरलावयवादिरूपतांगीकारे च हेतोः अनिर्वाच्यत्वम्. तादृक्स्वभावतांगीकारे च स्वभाववादापत्तिः. प्रतिबिम्बसिद्धौ तादृक्स्वभावसिद्धिः तत्सिद्धौ च प्रतिबिम्बसिद्धिः इति अन्योन्याश्रयः च. एवम् अन्तःकरणस्यापि मायाव्यतिरेकेण अस्थितेः पूर्वोक्तएव दोषाः.

येच मायायां चित्प्रतिबिम्बम् ईश्वरं परिकल्प्य अविद्यायां मलिनसत्त्वायां तादृशे अन्तःकरणे वा ईश्वरप्रतिबिम्बं जीवं कल्पयन्ति, तेषामपि मते मायायाः व्यवधायकत्वाद् ईश्वरद्वारकः प्रतिबिम्बो दुरुपपादः पूर्वोक्तदोषप्रसंगात्. यदिच मायाया बहिः सर्वतः स्वच्छत्वं, तदापि अस्वच्छांशस्य तदन्तःस्थत्वाद् अन्तःकरणाविद्ययोः च तद्व्याप्यत्वात् सएव दोषः. यदिच माया शुद्धसत्त्वान्तरशुद्धसत्त्वम् अविद्यादि अंगीकृत्य रजस्तमः च तदन्तो अंगीक्रियते, तदातु अतिस्वच्छायाम् इत्यादिना उक्ताः पूर्वोक्ताएव दोषाः.

[६] एवं षष्ठे बिम्बेश्वरवादेऽपि जीवोपाध्यवच्छिन्नस्य ईश्वरस्य उपाधिसंसृष्टत्वाद् अन्तरालाभावेनैव प्रतिबिम्बासम्भवाद् ईश्वरस्य बिम्बत्वासम्भवः च. अन्तरालकल्पने च व्यापकत्वहानिः इति अयमपि तथा. अथ [४] तुरीयो अवशिष्यते, सोऽपि पूर्वोक्तयुक्तिभिरेव निरस्तो भवति इति न युक्तिक्षमः. किञ्च बिम्बस्वरूपविचारेणापि एते पक्षाः न संगताः, सर्वत्र चक्षुर्योग्यस्यैव बिम्बत्वदर्शनात् , चितश्च चक्षुरयोग्यत्वेन बिम्बत्वासम्भवात्.

(अचाक्षुषशब्दप्रतिबिम्बोदाहरणोपपत्तिनिरसनम्)

ननु सर्वदा चक्षुरयोग्यस्य शब्दस्य कूपादौ प्रतिध्वनिदर्शनात् तस्यच शब्दप्रतिरूपत्वात् न सार्वत्रिकः चक्षुरयोग्यस्य प्रतिबिम्बाभावनियमो, अतो न दोषः इति चेत्

अत्र केचित् *प्रतिध्वनिः न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः, पञ्चीकरणप्रक्रियया पटहादिशब्दानां क्षितिसलिलादिशब्दत्वेन प्रतिध्वनेरेव आकाशीयशब्दतया तस्य अन्यशब्दप्रतिबिम्बत्वायोगात्. नापि वर्णरूपः प्रतिशब्दः तथा वर्णाभिव्यञ्जक-ध्वनि-निमित्तक-प्रतिध्वनेः प्रथमध्वनिवदेव वर्णाभिव्यञ्जकत्वोपपत्तेः. पूर्ववर्णप्रतिबिम्बत्वकल्पनायोगाद्* इति आहुः.

वस्तुतस्तु प्रतिध्वनेः शब्दप्रतिबिम्बत्वं मानाभावग्रस्तमेव. नच साजात्यानुभवएव मानम् इति वाच्यं, तस्य शब्दान्तरेऽपि तुल्यत्वात्. बिम्बस्थित्यधीनस्थितिकत्वस्य प्रतिबिम्बताविनिगमकस्य अत्र असत्त्वात्. नच बिम्बरूपपूर्वशब्दस्थितिः शक्यवचना, शब्दस्य त्रिक्षणावस्थायित्वेन तदानीं नाशाद् , आभासतायाअपि अतएव अशक्यवचनत्वात्. चिरकालस्थायित्वपक्षाभ्युपगमेन इष्टसाधने कूपस्थवायुना प्रतिध्वनिवद् ध्वन्यानयनस्यापि असम्भवदुक्तिकत्वाद् ध्वनिद्वयश्रवणापत्तेः. ध्वन्यनानयने नियामकाभावाद् अनानीते च ध्वनौ प्रतिबिम्बतानिश्चयस्य अशक्यत्वात्. नच *"**छाया प्रत्याह्वयाभासाः असन्तोऽपि अर्थकारिणः**" (भाग.पुरा. ११।२८।५) इति भगवद्वाक्ये प्रतिध्वनेः असत्त्वस्य उक्तत्वात् सादृश्यस्य च उपलभ्यमानत्वात्

प्रतिबिम्बत्वं कल्प्यते * इति वाच्यं, नटकल्पित-पारावतादि-रुतवद् उक्तहेतुभ्यां मायाजन्यशब्दान्तरत्वस्यापि शक्यवचनत्वात्. नापि वर्णरूपप्रतिशब्दस्य पूर्ववर्णप्रतिबिम्बत्वं व्यञ्जनाक्षराश्रवणात्. नच स्वराक्षरस्यैव प्रतिबिम्बः इति वाच्यं, नियाकमस्य अशक्यवचनत्वात्. युगपद् उभयस्वरग्रहणाभावेन पूर्वध्वनिवद् द्वितीयस्य प्रतिध्वनेरपि पूर्ववर्णव्यञ्जकतायाः शक्यवचनत्वेन सन्देहानपायात्. नापि ध्वनेः वर्णप्रतिबिम्बत्वं मानाभावात्, व्यञ्जकतया सन्निधिमात्रेण स्वधर्माणाम् उदात्तादीनां वर्णेषु आरोपस्य शक्यत्वाद् ऐक्यवदेव ग्रहणात् च.

यत्तु * आकाशांशस्य शब्दसमवायिनः कूपादौ सत्त्वेन अस्मदादिजन्य - शब्दपरम्पराजनितः तथ्यः शब्दविशेषएव प्रतिध्वनिः * इति केचिद् आहुः, तत् न, अश्रवणापत्तेः. वीचीतरंगादिन्यायेन तत्र उत्पन्नस्य ध्वनेः पुनः वैपरीत्येन ततः उत्पादकस्य अशक्यवचनत्वात्. कूपादिप्रतिबद्धस्य वायोः तथात्वकल्पनेऽपि तत्तथ्यतागमकस्य अभावात्. समाचारोपलम्भयोः व्यभिचारित्वात्. अतो मायिकमेव प्रतिबिम्बातिरिक्तं शब्दान्तरं तद् इति निश्चयः.

(आकाशप्रतिबिम्बोदाहरणोपपत्तिनिरसनम्)

नापि आकाशदृष्टान्तेन सिद्धिः तत्प्रतिबिम्बे मानाभावात्. नच * विभक्तांगुलिद्वय-माध्यमिकावकाश-प्रतिबिम्बदर्शनात् न एवम् * इति वाच्यं, तत्र व्याप्तस्य प्रभामण्डलस्यैव प्रतिबिम्बात्. तद्बाहुल्यादेव अवकाशबाहुल्यप्रतीतेरपि निर्वाहात्. अन्यथा वायोरपि प्रतिबिम्बापत्तेः. नच * तत्र अदृष्टं प्रतिबन्धकम् * इति वाच्यं, तस्यापि दृष्टसामग्रीसापेक्षतया तत्त्वेनापि अयोग्यत्वस्य आवश्यकत्वात्. तेनैव सिद्धौ अदृष्टकल्पनस्य गुरुत्वाद् अप्रामाणिकत्वात् च. नच आकाशनीलिम्नः आदर्शे दर्शनाद् अयोग्योऽपि प्रतिबिम्बते इति वाच्यं, नैल्यप्रतीतिवत् तत्प्रतीतेरपि भ्रमत्वात्. प्रमात्वपक्षेच योग्यतायाएव इष्टत्वेन भवदभिमतासिद्धेः.

(वृत्तिस्वरूपविचारेणापि प्रतिबिम्बवादनिरूपणम्)

किञ्च वृत्तेः स्वरूपविचारेऽपि एते पक्षाः न संगताः. तथाहि यो

यत्र व्याप्य वर्तते सः तत्र न प्रतिबिम्बते. तथाच चितः सर्वगतत्वेन मायायाः अविद्यायाः च सर्वगतत्वेन कथं बिम्बः स्यात्? तथाच ईश्वरासिद्धिः. तदसिद्धौच चित्प्रतिबिम्बरूपजीवस्यापि असिद्धिः. धीवासनासु प्रतिबिम्बपक्षे अनेकेश्वरापत्तिः च. आश्रयनानात्वस्य प्रतिबिम्ब-नानात्व-नियामकत्वात्. किञ्च प्रतिबिम्बस्वरूपविचारेऽपि तथा, प्रतिबिम्बस्य बिम्बवैयधिकरण्यनियमात्, बिम्बस्थिति-सजातीय-स्थितिकत्व-नियमात् च. बिम्बसामानाधिकरण्यं बिम्ब-स्थिति-विजातीयस्थितिकत्वं च बाधितम्. तद् उभयं **''द्वा सुपर्णा'** **(मुण्ड.उप.३।१।१)**, **''ऋतं पिबन्तौ'** (कठोप.३।१) इत्यत्र च श्राव्यत-इति तदनुरोधोऽपि तथा. अन्यथा तद्विरोधापत्तेः. तस्मात् प्रतिबिम्बपक्षो न युक्तिक्षमः.

(श्रुत्यर्थविचारः)

नच * उक्तपक्षानभ्युपगमे जलचन्द्रादि-दृष्टान्तबोधक-श्रुत्यादिविरोधः * शंकनीयः, तत्र एकस्य ब्रह्मणो नानात्वएव दृष्टान्तपर्यवसानात्. तथाहि अत्र पूर्वं **''मनोहि द्विविधं प्रोक्तम्''** (ब्र.बि.उप.१) इति उपक्रम्य शुद्धमनसः स्वरूपं, शुद्धे मनसि ब्रह्मसम्पत्तिरूपं फलं च उक्त्वा तादृशमनःसिद्ध्यर्थं स्वस्य ब्रह्मात्मभावनारूपं साधनम् उपदिशन्ती श्रुतिः **''स्वरेण सन्धयेद् योगम्''** (ब्र.बि.उप.७) इत्यादिमन्त्रत्रयेण ज्ञेयब्रह्मस्वरूपम् उक्त्वा तद्विरुद्धधर्मवतो ज्ञातुः कथम् उक्तरूपब्रह्मणा सह अभेदो भावयितुं शक्यः इति आकांक्षायां **''न निरोधो न चोत्पत्तिः''** (ब्र.बि.उप.१०) इति मन्त्रेण ज्ञातुः विरुद्धधर्माध्यासं निवार्यत्वाय उक्त्वा **''एकएव आत्मा मन्तव्यः''** (ब्र.बि.उप.११) इति मन्त्रेण ज्ञातुः स्वरूपं जन्माद्यभावाय उक्त्वा अविरुद्धधर्माभावे अस्तु साजात्यं नतु अभेदः इति अभेदभावना न युक्ताइति शंकायां जीवस्य तदभिन्नत्वाय ब्रह्मस्वरूपं वदति **''एकएव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्''** (ब्र.बि.उप.१२) इति. अर्थस्तु : एकएवहि भूतात्मा परमेश्वरो भूते-भूते प्रतिशरीरं व्यवस्थितो, विशेषाकारेण अंशेन अवस्थितः सन् एकधा बहुधा चैव दृश्यते. एकस्य अनेकधा अवस्थाने दर्शने च दृष्टान्तम् आह 'जलचन्द्रवद्' इति. यथा जले चन्द्रमा अंशुरूपेण अंशेन स्थितः एकधा चन्द्ररूपेण, बहुधा अनेकसंख्यः

कम्पादिविशिष्टरूपेण, च दृश्यते तथा इति. तथाच नानात्वदर्शनेऽपि अंशांशिनोः अभेदात् साजात्यात् च ब्रह्माभेदभावना जीवस्य युक्ता इति अर्थः. एवं सति अत्र एकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थः सिध्यति. किञ्च एतन्मन्त्रोत्तरमन्त्रे जीवस्य नभोपमत्वम् उक्तं तदपि प्रतिबिम्बरूपतायां न संगच्छेत तस्य अलीकत्वात्. नच *अवच्छिन्नवादस्य तन्मन्त्रे सिद्धेः अंशत्वकथनमपि असंगतम्* इति वाच्यं, तस्मिन् मन्त्रे जीवस्य स्थानत्रयातीततायां ब्रह्मभावापन्नता-मात्रपरामर्शात्. पूर्वमन्त्रेण तथा निश्चयात्. अन्यथा विरोधापातात्. प्रदेशत्वादरणे श्रुत्यन्तर-विरोधात्. ''**प्रदेशादिति चेद् न अन्तर्भावाद्**'' (ब्र.सू.२।३।५३) इति सूत्रकारेणैव प्रदेशपक्षानंगीकरणात्, कृतहान्यादिदूषणग्रासात् च, उत्क्रान्त्यादिसूत्रोक्तदूषणापत्तेः च, 'जीवः' इति नामान्तरनिर्देशात् च. प्रतिबिम्बपक्षेऽपि इदं दूषणं ज्ञेयम्, अवच्छेद्यस्य प्रतिबिम्बस्य च क्वापि नामान्तरादर्शनात्. अतो अत्र ब्रह्मणः एकस्य नानात्वमेव दृष्टान्तार्थः इति निश्चयः. एवम् अग्रेऽपि द्रष्टव्यम्. *ननु अस्तु अंशप्रवेशः तथापि तत्र मण्डलकलंकादेः अप्रवेशात् प्रातीतिकानां तेषान्तु अलीकतैवेति सैव दृष्टान्तार्थो अस्तु* इति चेत् सुबुद्धिः असि! तावतापि इदानीम् आयुष्मता युक्त्या व्यवस्थाप्यमानानां व्यापकत्वादीनां केषाञ्चिद् धर्माणामेव तथात्वं सेत्स्यति, नतु जीवस्वरूपस्यापि इति अनुसन्धत्स्व इति दिक्.

एतेनैव ''**यथाहि अयं ज्योतिः आत्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधा एको अनुगच्छन्**'' (द्रष्टव्यः ब्र.सू.शां.भा.३।२।१८) इति स्मृतिः ''**अतएव च उपमा सूर्यकादिवद्**'' (ब्र.सू.३।२।१८) इति सूत्रं च व्याख्यातं ज्ञेयम्. *ननु इदम् असंगतं श्रीभागवते ''**नैव आत्मनः प्रभुः अयं निजलाभपूर्णो मानं जनाद् अविदुषः करुणो वृणीते यद्-यद् जनो भगवते विदधीत मानं तत् च आत्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः**'' (भाग.पुरा.७।९।११) इति मुखदृष्टान्तस्यापि उक्तत्वात्. पुराणस्य श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वेन तदनुसृत्यैव श्रुतितात्पर्यकथनस्य औचित्याद्* इति चेत् न, अत्रापि मुखश्रियः प्रतिमुखश्रीप्रयोजकत्वमात्रम् उच्यतइति, न जीवस्य प्रतिबिम्बत्वम् अत्रापि

अर्थः, पूर्वपादत्रयेण तथा अर्थनिश्चयात्. "**आभासएव च**" (ब्र.सू.२।३।५०) इति सूत्रन्तु यथा ब्राह्मणब्रुवे 'ब्राह्मणाभास' प्रयोगः निखिलतद्धर्माभावतः तथा अखिलब्रह्मधर्माभावात् चित्त्वेन साजात्यात् च ब्रह्माभासः इतिपरम्. अतः श्रुत्यर्थविचारेऽपि प्रतिबिम्बपक्षो अवच्छिन्नपक्षः च इति द्वावपि असंगतौ.

(राधासूनुपक्षनिरसनम्)

तर्हि अस्तु कौन्तेयस्य राधेयत्ववद् अविकृतस्य ब्रह्मणएव स्वाविद्यया जीवभावः. तथाच स्वाविद्यया भ्रान्तं संसरद् ब्रह्मैव जीवः. इदं च सूत्रकारस्यापि सम्मतम्, "**अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः**" (ब्र.सू.१।४।२२) इति सूत्रे तथा निर्णीतत्वात्. एवं सति "**तत्त्वमसि**" (छान्दो.उप..६।८।७) "**अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**" (बृह.उप.४।४।५) इत्यादि वाक्यान्यपि संगमिष्यन्ति इति चेद् —

असंगतम् एतदपि, अविद्यायाः अनादित्वोपगमाद् ब्रह्मणः सर्वस्य अविकृतस्य जीवभावे ब्रह्मापलापापत्तेः. अतो अवस्थान्तरम् अंगीकुर्वाणेनापि प्रदेशभेदेनैव अंगीकार्यं, तथा सति पूर्वोक्तदूषणापत्तेः. *अथ अवास्तवत्वाद् जीवभावस्य उपदेशेन तन्निवृत्तौ न ब्रह्मापलापः* इति चेत् न, उपदेशेन जीवभावनिवृत्तेरेव दुर्लभत्वात्. स्वाविद्यया जीवभावम् आपन्नस्यैव सर्वप्रपञ्चकल्पकत्वेन उपदेशवाक्यस्यापि, तत्कल्पितत्वे तेन तदज्ञाननिवृत्तिदौर्लभ्यात्. स्वाज्ञानकल्पितरजतादेः स्ववाक्येन निवृत्त्यदर्शनात्. तदनिवृत्तौ च जीवभावानिवृत्तेः. वाक्यस्य उक्तरूपत्वात् तदुक्तब्रह्मस्वरूपेऽपि अनाश्वासप्रसंगेन सर्वविप्लवापत्तेः च.

(पारमार्थिकांशत्वे आक्षेपपरिहारौ)

*ननु अंशत्ववादोऽपि असाधुः 'अंश'पदार्थस्य विचारे तेनापि अनिर्वाहात्. 'अंशो' नाम [१] कारणम् [२] अवयवो वा [३] भागो वा [४] कार्यं वा ? [१] न आद्यः, पटांशस्य तन्तोः पटकारणत्ववद् जीवस्यापि ब्रह्मकारणतापत्तेः. [२] न द्वितीयः, शरीरवद् ब्रह्मणः सावयत्वापत्तेः. [३] न तृतीयः, पारिशेष्याद् द्रव्यैकदेशस्य

अत्र भागरूपत्वे ब्रह्मणोऽपि नश्वरत्वापत्तेः. [४] न तुरीयो जीवस्य अनित्यत्वापत्तेः. अतो मुख्यार्थग्रहणस्य अशक्यत्वात् **''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''** (भग.गीता.१५।७) इत्यादौ औपचारिकएव 'अंश'पदार्थो ग्राह्यः. सच सजायतीयत्वेन गृह्यते चेद् 'अद्वितीय'(छान्दो.उप.६।२।१)श्रुतिः कोपयेद्. अतः पूर्वोक्तरीतिकएव कश्चिद् अर्थो ग्राह्यः [पा.भे.३]. तथा सति घट्टकुट्यामेव प्रभास्यति इति चेत्, न प्रभास्यति, अवयवरूपार्थस्य ग्रहणात्. **''पादो अस्य विश्वा भूतानि''** (पुरु.सू.३) इति श्रुतौ अवयववाचि-पदोपादानेन तथा निर्णयात्. नच '**निष्कला**'(श्वेता.उप.६।१९)दिश्रुतिव्याकोपो, विरुद्धधर्मा-श्रयत्वेन निरवयवत्वसावयवत्वयोः तत्र अविरोधाद्, ब्रह्मणः श्रुत्येकसमधिगम्य-त्वात्. तत्र **''निष्कलं निष्क्रियम्''** (श्वेता.उप.६।१९) इति **''यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः''** इत्यादि उपक्रम्य **''सर्वएव आत्मानो व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।२०) इति उभयथापि निरूपणात्. एकतराग्रहे वाक्यान्तरे लक्षणाप्रसंगात्. सम्भवत्याम् एवं तात्पर्योपपत्तौ तदनुपपत्तिम् उद्भाव्य लक्षणाम् आश्रयतो निष्प्रमाणकानुपपत्ति-कल्पनमुख्यार्थबाधयोः आपत्तेः च. नच अत्यन्ताभेद-बोधकश्रुति-विरोधः. **''बहुस्याम्...''** (तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छयैव भेदात्.

(अविभागाद्वैताभिमतजीवस्वरूपविचारः)

(अंशांशिभावरूपेण ब्रह्मोपादानकत्वतः ।

नभोपमे विभिन्नांशकल्पनाजल्पनं वृथा ।।४।।)

यत्तु * जीवस्य व्यापकत्वम् अंगीकृत्य भेदाभेदश्रुत्युपपादनाय भेदश्रुतिषु अविभागलक्षणाभेदं व्युच्चरणश्रुतौ च विभागेन अभिव्यक्त्या जीवब्रह्मणोः पितापुत्रवत् कार्यकारणभावं स्वव्यापारारूढत्वं [पा.भे.४] च अभिव्यक्तिपदार्थं * केचिद् आहुः, तदपि पूर्वोक्तरीत्या शुद्धाभेदे ततो '**बहुस्याम्**' इति इच्छया सृष्टौ व्युच्चरणेन भेदे, मुक्तौ च **''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति''** (मुण्ड.उप.२।२।९) इति, सावधारणश्रुत्या च अभेदे सम्भवति सति अन्याय्यमेव. पितापुत्रन्यायोऽपि तथा श्रुतौ विस्फुलिंगदृष्टान्तेन, '**क्षुद्रा**' (बृह.उप.२।१।२०) इति विशेषणेन, गत्यर्थ-धातु-प्रयोगेण च; दार्ष्टान्तिकेषु प्राणाद्यात्मपर्यन्तेषु अणुत्वस्य

पृथग्देश-वर्त्तित्व-व्यंग्य-विभागस्य गतेः च विवक्षितत्वावगमात्. अन्यथा प्राणादिषु उत्पत्तेः आत्मसु च स्वव्यापाराविष्टत्वरूपाभिव्यक्तेः अंगीकारे कल्पनावैरूप्यापत्तेः, युगपद् वृत्तिद्वयांगीकारापत्तेः च. किञ्च पितापुत्रस्थलेऽपि न चेतनयोः अंशांशिभावो अपितु शरीरयोरेव, **''अंगाद् अंगागात् सम्भवसि हृदयाद् अधिजायसे आत्मा वै 'पुत्र'नामासि स जीव शरदः शतम्''** (बृह.उप.६।४।९) इति मन्त्रेण तथा निश्चयात्.

(विशिष्टाद्वैताभिमतजीवस्वरूपविमर्शः)

(परिच्छेदत्रयातीतब्रह्मणोंशत्वसम्भवात्।

मुख्यया शब्दवृत्त्यातु गौणांशत्वं न रोचकम्।।५।।)

इतरेतु * जीवस्य ब्रह्मांशत्वम् एकदेशरूपम् इच्छन्ति, **''एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्''** इति. तच्च एवं व्याकुर्वते : यथा भाभास्वतोः गोत्वगवोः देहदेहिनोः भा-गोत्व-देहाः भास्वद्-गो- देहिनां विशेषणत्वेन अंशाः 'विशेषणांशो विशेष्यांशः' इति विवेचक-व्यवहार-सिद्धाः तथा जीवोऽपि **''यस्य आत्मा शरीरम्''** (द्रष्ट.ब्र.सू.रा.भा.१।२।२०) इति श्रुतेः ब्रह्मविशेषणत्वेन ब्रह्मांशः. एवञ्च विशेषणत्वविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यम् आश्रित्य भेदनिर्देशाः पृथक्स्थित्यनर्ह-विशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वम् आश्रित्य च अभेदनिर्देशाः च मुख्यत्वेनैव उपपद्यन्ते इति. तदपि पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मणि परिच्छेदत्रयातीतत्वस्य जीवे च अंशत्वस्य सिद्धौ सर्वश्रुतीनां मुख्यवृत्त्यैव बोधकत्वसिद्धेः न अस्माकं [पा.भे.५] रोचते.

(द्वैतवादाभिमतजीवस्वरूपविचारः)

(श्रुतीनां ब्रह्मजीवैक्यबोधकानान्तु गौणता।

मुख्यार्थत्यागाद् रोचेत तद्गम्ये ब्रह्मणि कथम्?।।६।।)

अन्येतु * 'चन्द्रमण्डलात् शतांशः गुरुमण्डलः' 'सूर्यांशः कर्णः' इत्यादौ तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वं, ततः उत्पन्नत्वं वा आदाय यथा अंशत्वव्यवहारः तथा जीवेऽपि * ब्रह्मांशव्यवहारं समर्थयन्ते तत्तु अभेदश्रुतिं जीवनित्यत्वश्रुतिं च उपचारितां करोतीति उपेक्ष्यम्.

(सिद्धान्तनिष्कर्षः)

तस्माद् उभयविधश्रुतिबलाद् ब्रह्मावयवरूपत्वेनैव जीवो ब्रह्मांशः. नच जीवदुःखादिना ब्रह्मणो दुःखित्वाद्यापत्तिः, ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वेन अभिमानाभावात्. किंबहुना **''एतं ह वाव न तपति किम् अहं साधु न अकरवं किम् अहं पापम् अकरवम् इति, स य एवं विद्वान् एतेन आत्मानं स्पृणुते''** (तैत्ति.उप.२।९) इति श्रुतेः विदुषो जीवस्यापि यत्र दुःखाद्यभावः तत्र ब्रह्मणः का शंका! ''न अग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्याद्'' इति न्यायात् च. इति सर्वम् अनवद्यम्.

इति श्रीवल्लभाचार्य-वाचामाशयगोचरम्।।
प्रतिबिम्बादिरूपत्वखण्डनं विशदीकृतम्।।७।।

इति श्रीवल्लभाचार्य-मतवर्ति-श्रीमद्वल्लभनन्दन- चरणपद्मपराग-पूरितहृदय-श्रीपीताम्बरतनुज-पुरुषोत्तमकृतौ अवतारवादावल्यां द्वादशो जीवप्रतिबिम्बादिरूपताखण्डनवादः[पा.भे.६] समाप्तः

पाठभेदतालिका

१.भेदे रूपकथनाद् इति **मु** . २.''मूलप्रकृत...'' इत्यारभ्य '''अविद्या' दिशब्दितायाम्'' इत्यन्तं यावत् नास्ति**मु** पाठे **ख-ग**पाठानुरोधात्. ३.**मु** पाठे नास्ति **ख ग** पाठानुरोधात्. ४.''स्वपारे रूढत्वम्'' इति **मु** ख ग 'स्वपारारूढत्वम्' इति अणुभाष्यप्रकाशानुरोधात् पाठसंशोधनम्. ५.अस्मभ्यम् इति **मु. ख** पाठम् अनुसृत्य शोधनम्. ६. सर्वेषु आदर्शेषु 'जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः' इत्येव अभिधानं वादस्यास्य उपलभ्यते. तथापि अवच्छेदवादो, राधासूनुपक्षः, आधारकारणरूपब्रह्मांशतावादो, ब्रह्मविशेषणरूपांशतावादः, सर्वथा ब्रह्मभिन्नत्वे सति तत्सदृशाल्पपरिमाणतावादः इत्येवम् अनेकवादानां विमर्शाद्, ग्रन्थोपसंहारकारिकानुरोधात् च आदावन्ते च अभिधानसंशोधनम्.

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

त्रयोदशः

।। श्रीमद्भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः ।।

(मंगलाचरणम्)

वेदवेदान्तसारं यद् व्याससखेदनिवर्तकम्।।
महापुराणमूर्धन्यं श्रीमद्भागवतं स्तुमः।।१।।

(विषयसंशयौ)

अत्र इदं विचार्यते : श्रीभागवतम् अष्टादशपुराणान्तर्गतम् अतिरिक्तं वा? किं तावत् प्राप्तम्?

(पूर्वपक्षः)

(अष्टादशपुराणानि कृत्वा चक्रे हि भारतम्।।
व्यासस्तेनाप्यसन्तुष्टो जगादेदं तदेति हि।।२।।
व्यासनारदसंवादात् स्वयं भागवतोदिताद्।।
तल्लक्षणाननुगमान्नेदमष्टादशे मतम्।।३।।)

अतिरिक्तम् इति. कुतः? प्रथमस्कन्धे व्यासनारदसम्वादे वेदव्यासस्य भारतकरणोत्तरम् अपरितुष्टौ नारदोपदेशतः एतत्करणोक्तेः. **"अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः चक्रे भारतम् आख्यानं वेदार्थैः उपबृंहितम्"** (स्क.पु. । । मत्स्यपुरा.५३।६९) इति स्कान्दमात्स्ययोः वाक्ये 'क्त्वा'प्रत्ययेन **"वेदं कृत्वा वेदिं करोति"** (आप.श्रौ.सू.७।३।१०) इतिवत् पुराणभारतकरणयोः पूर्वापरभावप्रतीतेः तदुभयकरणोत्तरं श्रीभागवतकरणं सिध्यति इति अतिरिक्तम् इदमिति.

(उत्तरपक्षः)

अत्रोच्यतेऽन्तर्गतं तत् पुराणेष्वस्य लक्षणम्।।
संख्या चोक्ता तदत्रास्ति तेनेदं नातिरिच्यते।।३।।

तथाहि "**यत्र अधिकृत्य गायत्री वर्ण्यते धर्मविस्तरो वृत्रासुरवधोपेतं तद् भागवतम् इष्यते. सारस्वतस्य कल्पस्य मध्ये ये स्युः नरामराः, तद्वृत्तान्तोद्भवं चैतत् पुराणं परिकीर्त्यते. अष्टादशसहस्राणि पुराणं तत् प्रकीर्तितम्**" (मत्स्यपुरा.५३।२०) इति मात्स्ये, "**ग्रन्थो अष्टादशसाहस्रो द्वादशस्कन्धसम्मितः हयग्रीवब्रह्मविद्या यत्र वृत्रवधः तथा गायत्र्या च समारम्भस् तद्वै भागवतं विदुः**" (स्क.पु. । ।) इति स्कान्दे च पञ्चमपुराणलक्षणे एतस्यैव उक्तेः. नच *स्थूलसूक्ष्मविभेदेन उभयसामञ्जस्यम्* इति वाच्यं संख्योक्तिविरोधापत्तेः.

(देवीपुराणस्य भागवतत्वं सम्भवति न वा !)

नच *एतल्लक्षणकम् अन्यद्* इति वाच्यम्, अप्रसिद्धेः. नच *"भगवत्याः इदं भागवतम्" इति योगात्, "**नमस्कृत्य शिवां देवीं शर्वं भागवतं तथा पुराणं सम्प्रवक्ष्यामि यथा उक्तम् ऋषिभिः पुरा**" (दे.भा.पुरा.१।१।१) इति देवीपुराणाद्यपद्ये 'भागवत'पदात् च देवीपुराणमेव तद्* इति वाच्यम्, उक्तयोगस्य काल्पनिकत्वात्. ढका अणो बाधाद् इति कश्चित्[पा.टि.]. वस्तुतस्तु देवीपुराणाद्यपद्यस्थ-'भागवत'पदस्य 'शर्व'पदविशेषणत्वेन उक्तयोगानुपष्टम्भकत्वात् शिवस्य वैष्णवत्वं, "**वैष्णवानां यथा शम्भुः**" (भाग.पुरा.१२।१३।१६) इति द्वादशस्कन्धाद्, "**भस्मोद्धूलितदेहस्तु जटामण्डलमण्डितो अहं ध्यायामि तं विष्णुं परमात्मानम् अव्ययं विष्णोः**

पा.टि. : "स्त्रिभ्यो ढक्" (पाणि.सू.४।१।१२०) इति स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो अपत्यार्थे 'अण्'बाधेन 'ढग्'विधानस्य सामान्यनियमत्वभ्रान्त्या 'भागवतेयम्' इत्येव प्रयोगं साधु मन्वानः कश्चित्. वस्तुतस्तु 'तस्य इदम्' इति 'सा अस्य देवता' इति च अर्थयोः 'अण्'विधानेन 'भागवत'प्रयोगस्य सूपपादत्वेन अत्र अरुच्या.

आराधनार्थं मे व्रतचर्या पितामह'' (गरु.पुरा.२।१२) इति गारुडे द्वितीयाध्याये रुद्रवाक्यात् च. नच 'भागवत'पदस्य प्रस्तुतपुराणविशेषणत्वं शक्यवचनं 'तथा'पदेन व्यवधानात्. देवीपुराणे अध्यायसमाप्तौ 'भागवत'पदालिखनात् च, संख्याविरोधात् च ;[१] ''**लक्षमात्रेण लोकस्य विद्या देवेन भाषिता**'' (. । ।) इति अभ्युदयपाद-समाप्त्यध्यायस्थवाक्यात्, विजय-त्रैलोक्याभ्युदय-शुम्भनिशुम्भमथनाख्य-पादत्रयविशिष्टत्वेन (?) स्कान्दोक्तद्वाद-शस्कन्ध-सम्मितत्वरूप-लक्षणराहित्यात् च. श्रीमद्भागवतपरमेव वा तत्, तस्य देवीपुराणोपजीव्यत्वात्, ''**अर्चिष्यन्ति मनुष्याः त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्**'' (भाग.पुरा.१०।२।१०) इत्यादि-दशमस्कन्धोक्त-भगवदाज्ञप्त-माहात्म्य-वि-स्तारस्य देवीपुराणे दर्शनात्. अतएव ''**यथा उक्तम् ऋषिभिः पुरा**'' (. । ।) इति ऋषिप्रोक्तत्वरूपम् उपपुराणलिंगमपि युज्यते, ''**अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सत्यवतीसुताद् अन्यानि उपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानितु**'' (. । ।) इति सूतसंहितावाक्यात्. शब्दखण्डे गंगेशोपाध्यायानां यो देवीपुराणे महाभागवतत्वव्यवहारः सतु अस्य उपपुराणस्य महापुराणमूलकत्वेन तेषां तत्र श्रद्धातिशयेन च साम्प्रयोगिके बह्वर्चानां चतुःषष्टिव्यवहारवत् पूजार्थएव.

यत्तु श्रीधरस्वामिना ''**अतएव भागवतं नाम अन्यद् इति न शंकनीयम्**'' (भाग.श्रीध.१।१।१) इति उक्तं तदपि पूजार्थ'भागवत'-व्यवहारविषयोपपुराण-व्युदासपरम्. ''**यत्र अधिकृत्या**''(मत्स्यपुरा.५३।२०)दिलक्षणवाक्यस्य हेतुत्वेन उपन्यासात्. उचिततरञ्च एतत् टीकाकारस्य. जैमिनिना वेदानां 'काठक'-'कौथुमा'दि-समाख्यावशेन पौरूषेयत्वम् आशंक्य तत्समाधानवद्. आचारमाधवे स्मृतीनाम् अप्रामाण्यम् आशंक्य तन्निरासवत् स्थूणाखननन्यायेन एतदद्दृढीकरणस्य आवश्यकत्वात्.

---

[१] अधुनातु मुद्रिते श्रीदेवीभागवतपुराणे प्रत्यध्यायसमाप्तौ 'भागवत'पदम् उपलभ्यतएव तथैव स्कन्धानामपि संख्या अष्टादशैव उपलभ्यते. ततोहि एतस्याः अनुपपत्तेः अभिप्रायो विमृश्यो भाति किं मुद्रणात् पूर्वम् अध्यायसमाप्तौ पुष्पिकाः ईदृश्यो नासन् उत ग्रन्थकर्तुः संग्रहे विद्यमानायां मातृकायां एवम् आसीद् इति वा. अथवा अनवधानहेतुको अयम् उल्लेखः इति (गो.श्या.म.).

कश्चित्तु "यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं विदुः" (कालि.पुरा. । ।) इति पुराण-दान-प्रास्ताविक-कालिकापुराण-वाक्यात् तस्य भागवतत्वम् आह. अपरस्तु "तन्मूलं भागवतं स्मृतम्" इत्येवं पाठम् अंगीकृत्य पूर्ववद् आह.

(देवीभागवतस्य उपपुराणत्वसमर्थनम्)

तदुभयमपि तुच्छम्, अत्र सन्दर्भे "**शैवं यद् वायुना प्रोक्तं वैरञ्चं वैष्णवं तथा यदिदं कालिकाख्यं च मूलं भागवतं स्मृतं, सौरं च नारदीयं च मार्कण्डेयं च वह्निजं भविष्यं ब्रह्मवैवर्तं लिंगं चैव त्रयोदशं, वामनं कौर्ममात्स्यं च सप्तदशं च गारुडं स्कान्दम् अष्टादशं प्रोक्तं पुराणं च न संशयः**" (. । ।) इति लैंगादीनां त्रयोदशत्वादिकथनस्य बाधप्रसक्तेः. अतः तद् भागवताख्यम् उपपुराणम् अतिरिक्तमेव यत् सौरपुराणे "**ततो भागवतं प्रोक्तं भागद्वयविभूषितम्**" (सौरपुरा. । ।) इति लक्षयित्वा, "**ददाति सूर्यभक्ताय यस्तु भागवतं द्विजः सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वरोगविवर्जितः जीवेद् वर्षशतं साग्रम् अन्ते वैवस्वतं पदम्**" (सौरपुरा. । ।) इति यद् दानफलम् उक्तं तद् ज्ञेयम्. नच शैवादिप्रक्रमपाठात् 'कालिका'ख्यस्य महापुराणत्वं शंक्यं क्रमभेदात्. महापुराणगणनायां सर्वत्र कूर्म-स्कन्द-विष्णु-मात्स्यादिषु ब्राह्मादिक्रमदर्शनात्. कूर्मपुराणप्रथमाध्याये च उपपुराणगणनायां द्वादशत्वेन अस्य गणनात् "**आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहं ततः परं तृतीयं स्कान्दम् उद्दिष्टं कुमारेण अनुभाषितं चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितं दुर्वाससा उक्तम् आश्चर्यं नारदीयम् अतः परं कापिलं मानवं चैव तथैव उशनसा ईरितं ब्रह्माण्डं वारूणं चाथ 'कालिका'ह्वयमेव च माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसञ्चयं पराशरोक्तम् अपरं मारीचं 'भार्गवा'ह्वयम्**" (कू.पु.पू.वि.१।१७-२०) इत्येवं वाक्यात्, सूतसंहितायां च "**ततः 'कालीपुराणा'ख्यं वाशिष्ठं मुनिपुंगव**" (. । ।) इति तत्रैव गणनात् च. अतएव कालिकोक्तगणनायां सौरनिवेशोऽपि संगच्छते. अतः पुष्करपुराण-शिवरहस्य-विष्णुधर्मोत्तर-विष्णुरहस्यादिवद् इमानि शैवादीनि उपपुराणानि अतिरिक्तान्येवेति तत्र उक्तं

भागवतं भिन्नमेव इति निश्चयः. यत्तु *"**प्रोष्ठपद्यां पौर्णमास्यां हेमसिंहसमन्वितम्**" (मत्स्यपुरा.५३।२१-२२, भाग.पुरा.१२।१३।१३) इति मात्स्यश्रीभागवतयोः वचसी वाहनेन लिंगेन देवीपुराणमेव भागवतत्वेन* उक्तं तदपि असंगतं, 'सिंह'पदस्य अनेकार्थत्वात्. "**सिंहस्तु राशिभेदे मृगाधिपे**" (द्रष्ट.धर.को.हान्त.२८१६) इति अनेकार्थकोशे अभिधानात्. प्रोष्ठपद्यां च सिंहे सूर्यस्य सत्त्वात्. हेम्नइव फलार्थं कालसम्बन्धस्यापि शक्यवचनत्वात्, भीमसत्यादिपदवद् एकदेशप्रयोगस्यापि शक्यवचनत्वेन अत्र सिंहासनस्यापि शक्यबोधत्वात् च. अतएव स्कान्दे "**लिखित्वा तच्च यो दद्याद् बहुरत्नसमन्वितम्**" (स्क.पु. । ।) इति उक्तम्.

वस्तुतस्तु श्रीभागवते "**पुराणसंख्यासम्भूतिम् अस्य वाच्यप्रयोजने दानं दानस्य माहात्म्यं पाठादेः च निबोधत**" (भाग.पुरा.१२।१३।३) इति प्रतिज्ञाय "**ब्राह्मं दशसहस्राणि**" (भाग.पुरा.१२।१३।४) इत्यारभ्य "**चतुर्लक्ष उदाहृता**" (भाग.पुरा.१२।१३।९) इत्यन्तेन अष्टादशान्तर्गतत्वेन प्रासंगिकम् उक्त्वा "**तत्र अष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतम् इष्यते**" (भाग.पुरा. १२।१३।९) इत्यनेन संख्याम् "**इदं भगवता पूर्वम्**" (भाग.पुरा.१२।१३।१०) इत्यनेन सम्भूतिं, "**आदिमध्यावसानेषु**" (भाग.पुरा.१२।१३।११) इत्यादिना वाच्यं, "**कैवल्यप्रयोजनम्**" (भाग.पुरा.१२।१३।१२) इत्यनेन प्रयोजनं च उक्त्वा अग्रे "**प्रोष्ठपद्याम्**" (भाग.पुरा.१२।१३।१३) इत्यनेन दानतन्माहात्म्ये उच्येते. तथैव मात्स्येऽपि, संख्योक्तिपुरःसरम् इदम् उच्यते. देवीपुराणे च "**लक्षमात्रेण**" इति वाक्यात् तत्संख्याक्रमो अतो न चोद्यावसरः.

केचित्तु देवीपुराणव्युदासाय 'भागवत'शब्दं 'चित्रोद्भिद्'- 'अश्वकर्णा'- 'ऽहीना'-दिशब्दवद् रूढम् आहुः. सा यद्यपि कल्पनातु साधीयसी; तथापि "**इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपंकजे स्थिताय भवभीताय कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्. इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मितम्**" (भाग.पुरा.१२।१३।-१०) इत्यादिवाक्येषु योगस्य रूढेः च प्रतिभानात् प्रातीतिकविषया इति प्रतिभाति.

(भागवतस्य अर्वाचीनत्वाक्षेपनिरासः)

यातु केषाञ्चिद् * अन्त्यजनुजात-संघातानां सकलप्रमाण-मौलिभूत-वेदफलभूते श्रीमद्भागवते अर्वाचीनत्वशंका * सातु ''**त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनिभण्डनिशाचराः**'' (सर्व.दर्श.संग्र. चार्वा.) इति तथागतप्रणीतकारिकोक्तसरणिम्[(?)] अनुसरन्ती माध्यमिकमतम् अध्यास्ते. यदि तथा स्यात् तदा महान्तः प्रामाणिकाः निबन्धकर्तारः स्वस्वग्रन्थेषु तत्सम्मतिं न दद्युः.

क्व अस्ति सम्मतिः ? इति चेद् अवधेहि ! प्रथमं तावत् शंकराचार्यकृते चतुर्दशमतविवेके ''**परमहंसधर्मो भागवते पुराणे कृष्णेन उद्धवाय उपदिष्टः**'' (च.म.वि.) इति उक्तम्. पाद्मसहस्रनामटीकायां वचनान्येव बहुनि तत्र तत्र लिखितानि तथा उपदेशसाहस्र्याः टीकायां समाप्तौ श्रीभागवतवचनं लिखितम्. तथा संवत्सरप्रदीपनाम्नि प्राचीनगौडकृते स्मार्तनिबन्धे ''**शतशो अथ सहस्रैः च किम् अन्यैः शास्त्रसंग्रहैः गृहे न तिष्ठते यस्य शास्त्रं भागवतं कलौ ? कथं स वैष्णवौ ज्ञेयः शास्त्रं भागवतं कलौ, गृहे न तिष्ठते यस्य श्वपचाद् अधिको हि सः**'' (स्क.पु.२।वै.खं.१६।३९-४१) इत्यादिस्कान्दवचनैः गृहे श्रीभागवताभावे दोषं प्रदर्श्य ''**कलिदोषतः पावित्र्याय कतिचित् श्रीभागवतवचनानि लेख्यानि**'' (संव.प्रदी. ।) इति उक्त्वा भूयांसि श्रीभागवतवचांसि लिखितानि. तथा हेमाद्रिव्रतदानखण्ड-कालनिर्णयादिषु कलिधर्मनिर्णये च ''**कलिं सभाजयन्ति आर्या गुणज्ञाः सारभागिनः**'' (भाग.पुरा.११।५।३६) ''**कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेद्**'' (भाग.पुरा.१२।३।५१) इत्यादीनि उदाहृतानि. एवं प्रक्रियाकौमुदीकृतो रामचन्द्राचार्यस्य पुत्रेण नृसिंहाचार्येण च कालनिर्णयदीपिकाविवरणे 'श्रीभागवते' इति उक्त्वा ''**आचार्यं मां विजानीयाद्**'' (भाग.पुरा.११।१७।२७) इति, देवपूजाप्रकरणे च ''**अथो विष्णुः सितरक्तपीतसुतनुः कृष्णः कृतात् नामभिः हंसाद्यैः**'' इत्यत्र ''**कृतं त्रेता द्वापरं च कलिः इति एषु केशवो नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिना इज्यते**'' (भाग.पुरा.११।५।२०) इत्यादीनि लिखितानि. तथा विद्यानिवासभट्टाचार्यकृते सच्चरित्रमीमांसाख्ये स्मार्तनिबन्धे ''**देवर्षि-भूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो न अयम् ऋणी च राजन्**'' (भाग.पुरा.११।५।४१)

इति ‘‘**त्वया उपभुक्तस्रग्गन्धः**’’ (भाग.पुरा.११।६।४६) इत्यादीनि च सम्मत्यर्थं लिखितानि. तथा मधुसूदनसरस्वतीभिरपि भक्तिरसायने श्रीभागवतवचांस्येव उपनिबद्धानि. भगवद्गीतायाः सप्तमाध्यायव्याख्याने च जीवे प्रतिबिम्बपक्षे ‘‘**नैव आत्मनः प्रभुः अयम्**’’ (भाग.पुरा.७।९।११) इति सप्तमस्कन्धीयं वाक्यं लिखितम्.अन्यान्यपि तीरभुक्तदेश्य‘विष्णुपुरी’नाम्नापि भक्तिरत्नावल्यां नवधाभक्तिनिरूपणाय श्रीभागवतीयान्येव तत्र-तत्र प्रदर्शितानि वचांसि. एवं काश्मीरदेशीयेन क्षेमेन्द्रनाम्ना ‘क्षेमेन्द्रप्रकाशा’ख्ये स्मार्ते स्वनिबन्धे ‘‘**त्वया उपभुक्त**’’ (भाग.पुरा.११।६।४६) इत्यादीनि लिखितानि. तथाच द्राविडेन अप्पयदीक्षितेनापि शिवतत्त्वविवेके (शि.त.वि.४) ‘‘**कर्णौ पिधाय निरयाद्**’’ (भाग.पुरा.४।४।१७) इत्यादीनि चतुर्थस्कन्धीयानि लिखितानि. तथा निर्णयसिन्धौ वामनजयन्तीनिर्णये(नि.सि.२) अष्टमस्कन्धीयं ‘‘**श्रोणायां श्रवणद्वादश्याम्**’’ (भाग.पुरा.८।१८।५) इत्यादि लिखितम्. भगवद्भास्करेण श्राद्धमयूखे (श्रा.मां.वि.प्रक.) श्राद्धे मांसनिषेधकं ‘‘**न दद्याद् आमिषं श्राद्धे**’’ (भाग.पुरा.७।१५।७) इति सप्तमस्कन्धीयम् अलेखि. दिनकरोद्योते च एकादशीनिर्णये ‘‘**न कामकर्मबीजानां**’’ (भाग.पुरा.११।२।५०) इति एकादशस्कन्धीयम् अलेखि. भट्टोजिदीक्षितकृतायां चतुर्विंशतिमतव्याख्यायाम् आचारकाण्डे (अधुना नोपलभ्यते) तर्पणोत्तरं पूजानिर्णयेऽपि ‘‘**भागवतेऽपि अतएव उक्तम्**’’ इति उक्त्वा ‘‘**मूर्त्या अभिमतया आत्मनः**’’ (भाग.पुरा.११।३।४८) इति ‘‘**उद्वासावाहने न स्तः**’’ (भाग.पुरा.११।२७।१३) इति च उक्तम्. अतः एवं प्राचीनार्वाचीन-नानादेशीय-निबन्धकर्तृभिः आदृतमपि ये न पश्यन्तिं ते चक्षुष्मन्तोऽपि अन्धतमाः इति दिक्.

(अष्टादशान्तर्गतपूर्वापरभावविरोधपरिहारः)

ननु अस्तु एवम् अष्टादशान्तर्गतत्वं, तथापि, पूर्वोक्तपूर्वापरभावविरोधः कथं परिहार्यः इति चेद्, उच्यते, पूर्वापरभावस्य अविवक्षितत्वात् परिहार्यः इति. नच अविवक्षितत्वे मानाभावः शंक्यः, स्कान्दे काशीखण्डे अष्टाविंशाध्याये गंगामाहात्म्ये ‘‘**तदा भगीरथो राजा क्व क्व भागीरथी तदा, यदा विष्णुः तपः तेपे चक्रपुष्करिणीतटे**’’ (स्क.पु.४।का.पू.२८।२) इति देव्या

पृष्टे **''सन्देहो अत्र न कर्तव्यो विशालाक्षि सदामले श्रुतौ स्मृतौ पुराणे च कालत्रयम् उदीर्यते भूतं भव्यं भवच्चापि संशयं मा वृथा कृथाः''** (स्क.पु.४। का.पू.२८।२-४) शिवेन उत्तरदानात् कालस्य अविवक्षितत्वनिश्चयात्. अतएव पूर्वापरभावस्यापि तथात्वसिद्धिः, *''एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थः अपरत्रोऽपि तथा''* इति न्यायात्.

किञ्च पूर्वापरभावस्य विवक्षितत्वे पुराणान्तरस्यापि बहिर्भावप्रसक्तिः. तथाहि मार्कण्डेयपुराणारम्भएव तावत् **''भगवन् भारताख्यानं व्यासेन उक्तं महात्मना पूर्णम् अस्तमलैः शब्दैः नानाशास्त्रसमुच्चयैः''** (मार्क.पुरा. १।२) इत्यादि उक्त्वा **''तदिदं भारताख्यानं बह्वर्थं बहुविस्तरं तत्त्वतो ज्ञातुकामो अहं भगवन् त्वाम् उपागतः''** (मार्क.पुरा.१।१२) इति च उक्त्वा व्यासशिष्यजैमिनिना कृतेन प्रश्नचतुष्केन पुराणावतारकथा दृश्यते. साच भारतोत्तरभावित्वम् अन्तरेण असंगता सती मार्कण्डेयपुराणस्य अष्टादशभ्यो बहिर्भावम् आवहति. तथा अग्निपुराणारम्भे **''सूत त्वं पूजितो अस्माभिः सारात्सारं वदस्व नः, येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रजायते''** (अग्निपुरा.१।३) इति शौनकप्रश्ने **''सारात्सारो हि भगवान् विष्णुः अव्ययः ईश्वरः''** (अग्निपुरा.१।४) इत्यादि उक्त्वा, पुराणम् अवतार्य तत्र विद्यासारं वदन् प्रसंगतो ग्रन्थान्ते **''गीतासारं प्रवक्ष्यामि सर्वगीतोत्तरोत्तरं कृष्णो अयम् अर्जुनाय आह''** (अग्निपुरा.३८१।१) इति प्रतिज्ञाय **''देवी ह्येषा गुणमयी''** (अग्निपुरा.३८१।१२) **''यस्यां जाग्रति भूतानि''** (अग्निपुरा.३८१।६) इत्यादीनि कतिचित् पद्यान्येव उक्तवान्. अर्थमात्रोक्तौतु पद्यानि न वदेत्. अतो भारतोत्तरभावित्वम् आग्नेयस्यापि सिध्यति. एवञ्च पुराणत्रयबहिर्भावे अष्टादशानां पूर्वभावाभावाद् **''अष्टादशपुराणानि''** (मत्स्य.पुरा.५३।६९) इति वाक्यस्यैव असंगतत्वापत्तिः च. *ननु सूतोक्त्यनुवादवद् इदं योगबलेन आदावेव अवादि, प्राक्कल्पीयं वा अवादीति नानेन भारतोत्तरत्वासिद्धिः, तथा सति वाक्यस्यापि न असंगतिः* इति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि तौल्यात् परिहृतएव भवता विरोधइति न ते वक्तुम् अवकाशः. *ननु अपरितोषासंगतेः अस्ति अवकाशः* इति चेद् न, प्राक्कल्पीय-व्यासापरितोषानुवादस्य अत्रापि

शक्यवचनत्वात्. इदमपि त्वद्रीत्या उक्तम्. अन्यथातु अननुमतिः. अष्टादशपुराणानि कृतवान् इति 'अष्टादशपुराणानि-कृत्वा' इति एकं पदं सत्यवतीसुतविशेषणम्. नच 'क्वनिब'ऽसम्भवो **''राजनि युधि कृञः''** (पा.सू.३।२।९५) इत्यत्र कृञः इति योगविभागात् सिद्धेः. तथासति यो अष्टादशपुराणरक्षकः स भारतकर्ता इति पूर्वापरभावम् अन्तरेणापि भूतार्थवादोपपत्तिरिति न किञ्चिद् एतत्. उक्तकाशीखण्डीयैकवाक्येनैव निर्णयस्य जातत्वात्.

अतएव **''अधीतवान् द्वापरादौ पितुः द्वैपायनाद् अहम्''** (भाग.पुरा.२।१।८) इति **''कलौ नष्टदृशाम् एष पुराणार्को अधुना उदितः''** (भाग.पुरा.१।३।४५) इति वाक्यद्वयमपि संगच्छते. द्वापरादौ पाठस्थ कल्यादौ शुकेन प्रचाररूपस्य उदयस्य विशदीभावात्. **''लोकस्य आजानतो व्यासः चक्रे सात्त्वतसंहिताम्''** (भाग.पुरा.१।७।६) इतितु कालानुक्तेः व्याख्यातप्रायमेव अतो न कोऽपि शंकालेशः.

यत्तु **''अष्टादशपुराणानि अष्टौ व्याकरणानि च ज्ञात्वा सत्यवती सूनुः चक्रे भारतसंहिताम्''** (भवि.पुरा.१।५८) इति भविष्यप्रथमाध्यायवाक्यं, तत्तु शतकोटि-प्रविस्तर-पुराणान्तर्गताष्टादश-जातीय-वाक्यकदम्ब-परं व्याकरण-साहचर्यात् नानाविध-शुद्ध-शब्दवत् नानाविधार्थस्य भारते उपनिबन्धनीयत्वेन तज्ज्ञानस्य आवश्यकत्वात् नतु स्वकर्तृकतत्परं, शतकोटिप्रविस्तरज्ञानेनैव चारितार्थ्येन एतज्ज्ञानस्य अनावश्यकतया तत्कथनानुपयोगाद् असर्वज्ञत्वापादकत्वात् च. तत्रापि उपपुराणत्वेन वक्ष्यमाणराशिपरं भाति, अध्यायसमाप्तिकोटौ **''सर्वाण्येव पुराणानि कथितानि नरर्षभ! द्वादशैव सहस्राणि प्रोक्तानि इह महर्षिभिः. पुनः वृद्धिं गतानि इह आख्यानैः बहुभिः नृप यथा स्कन्दं तथाच इदं भविष्यं कुरुनन्दन! स्कन्दं शतसहस्रन्तु श्लोकानां ज्ञातमेव हि. भविष्यम् एतद् ऋषिणा लक्षार्द्धं संख्यया कृतम्''** (भवि.पुरा.१।१०३) इति उपपुराणप्रसंगदर्शनात्. नच इह उक्तयोः स्कान्दभविष्ययोः महापुराणत्वं शंक्यं महर्षिप्रोक्तत्वलिंगविरोधात्, पुराणसंख्याविरोधात् च. **''चतुर्दशं भविष्यं**

स्यात् तथा पञ्चशतानि च...एकाशीतिसहस्रकं स्कान्दं'' (भाग.पुरा.१२।१३।६-७) इत्यादिवाक्यात्.

किञ्च श्रीभागवते अनिर्वृतिप्रसंगेऽपि वेदानां चतुर्धाकरणमेव उक्त्वा, इतिहासपुराणपाठकत्वमेव च सूचयित्वा वेदानां शाखित्वं ततः भारतकरणं च उक्त्वा अनिर्वृत्तिः उक्ता. नतु पुराणसमन्तरकृतो अष्टादशधा विभागः पूर्वम् उक्तः. तेनापि ज्ञायते कानिचित् पूर्वं कृतानि कानिचित् न इति.

यत्तु कश्चित् *श्रीभागवतम् अष्टादशपुराणातिरिक्तं, वेदेतिहासपुराणरचयितुरपि अजातचित्तप्रसादस्य व्यासस्य चित्तप्रसादजनकत्वाद्* इति आह, तत्र हेतुः अस्तु, साध्यं मा अस्तु. अन्यथा द्वादशस्कन्धसमाप्तिस्थस्य ''**पुराणसंख्यासम्भूतिम्**'' (भाग.पुरा.१२।१३।३) इत्यादिना ब्राह्मादिपुराणसंख्यागणनावसरे ''**दशाष्टौ श्रीभागवतम्**'' (भाग.पुरा.१२।१३।५) इत्यस्य गणनस्य ''**एवं पुराणसन्दोहः चतुर्लक्ष उदाहृतः तत्र अष्टादशसाहस्रं श्रीभागवतम् इष्यते. इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपंकजे**'' (भाग.पुरा.१२।१३।१०) इत्यत्र 'तत्र' इति सप्तम्या 'इदमः' च विरोधापातात्, तस्मिन्नेव स्कन्धे सप्तमाध्याये ''**सर्गो अस्य अथ**'' (भाग.पुरा. १२।७।९) इत्यादिना उक्तस्य महापुराणसामान्यलक्षणस्य द्वितीयस्कन्धस्य ''**अत्र सर्गो विसर्गः च**'' (भाग.पुरा.२।१०।१) इत्यस्य श्रीभागवतलक्षणस्य च विचारे प्रतीयमानस्य सामान्यविशेषभावस्य बाधप्रसक्त्या तद्विरोधापत्तेः च. नच ''**द्वापरे समनुप्राप्ते**'' (भाग.पुरा.१।४।१४) इत्यादि-प्रथमस्कन्धस्थ-सन्दर्भविरोधो ''**जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महद् अद्भुतं कृतवान् भारतं यत् त्वं सर्वार्थपरिबृंहितं, जिज्ञासितम् अधीतं च यत् तद् ब्रह्म सनातनं तथापि शोचसि आत्मानम् अकृतार्थइव प्रभोः**'' (भाग.पुरा.१।४।३-४) इति नारदोक्तौ भारतकरणब्रह्मजिज्ञासाध्ययनानामेव उक्तत्वात् तदनुवादके ''**अस्त्येव मे सर्वम् इदं त्वया उक्तम्**'' (भाग.पुरा.१।५।५) इति वाक्येऽपि तेषामेव परामर्शेन अष्टादशधा करणस्य श्रीभागवतपूर्वभावित्वाप्राप्तेः.

(निष्कर्षः)

एवञ्च द्वादशस्कन्धे अस्य पञ्चमत्वेन गणनात् च चत्वारि पुराणानि भारतं च कृत्वा अपरितुष्टो नारदोपदेशेन इदं चकार. ततः परितुष्टो अन्येषाम् अधिकारिणाम् अर्थे तत्तद्योग्यानि अन्यानि चकार इति ज्ञायते. एतेनैव "**इतिहास पुराणानाम्**" (भाग.पुरा.१।४।२२) इति बहुत्वस्य उपपत्तौ चोद्यान्तराणामपि निरासे अतिरेककल्पनं भागवतान्तरस्य उच्छेदकल्पनादिकं च प्रतिपाद्यविरोधादिग्रासाद् उपेक्ष्यम् इति सुधीभिः अवधेयम्.

प्रकृतम् अनुसरामः. अतः पुराणेषु[पा.भे.५] "**अष्टादशपुराणानां कर्ता**" (पद्मपुरा.उ.२२२।७३) इति पाठदर्शनात् च न अष्टादशबहिर्भावो अस्येति अष्टादशान्तर्गतत्वमेव श्रीभागवतस्य बुद्धिमद्भिः अनुसन्धेयम् इति शुभम्.

तत्त्वदीपप्रकाशेन यः पन्था दृष्टिगोचरः॥
कृतस्तेन पथास्माभिः अज्ञाशंका निराकृता॥५॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणनलिनानतोत्तमांग-श्रीपीताम्बरतनुज-
पुरुषोत्तम-कृतौ अवतारवादावल्यां
श्रीभागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः
त्रयोदशः समाप्तः

पाठभेदतालिका

१."संख्या चोक्ता तदत्रास्त्रि" इति **ख ग ङ च** पाठेषु "संख्या चोक्ताष्टादशास्ति" इति **मु.१पाठे** २.द्वयम् इति **मु.१** पाठे. ३.शक्यबोधात् इति **मु.२** पाठे ४.अष्टादशान्तर्गतत्वाय इति **ख ग ङ च** पाठेषु, अष्टादशान्तर्गतत्वेन इति **मु.१** . ५."कालत्रयस्य संकलीकृत्य कथनात् पुराणभारतयोः पूर्वापरभावस्य अविवक्षितत्वात्" इति पुस्तकान्तरे उपलब्धा पंक्तिः निजहस्ताक्षरेण लिखिते अन्तिमपुटपरिमितोपलब्धे पत्रे नोपलभ्यते.

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

चतुर्दशः

।। भक्तिमार्गीयोपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

यथाधिकारं शरण-भक्ति-मार्गोपदेशतः ।।
य उद्धार सर्वांस्तं वन्दे श्रीवल्लभप्रभुम् ।।१।।

(सर्वे त्रैवर्णिकाः गायत्र्युपासनया कृतकृत्याइति पुष्टिसम्प्रदायदीक्षाव्यर्थता इति पूर्वपक्षः)

(द्विजेतराणामन्यत्र प्रपत्त्याद्यधिकारिता ।।
श्रौतस्मार्तविरुद्धत्वाद् गायत्रीसंस्कृता द्विजाः ।।२।।
सर्वे शाक्ताः द्विजाः जात्या न शैवाः नच वैष्णवाः ।।
यस्मादुपासते नित्यं गायत्रीं वेदमातरम् ।।३।।)

*ननु 'सर्व'पदं त्रैवर्णिकभिन्नपरत्वेन अत्र व्याख्यातव्यं, यतः ''**सर्वे शाक्ताः द्विजाः जात्या न शैवाः नच वैष्णवाः यस्माद् उपासते नित्यं गायत्रीं वेदमातरम्**'' (दे.भा.पुरा.११।२१।६) इति विश्वामित्रवाक्ये सर्वेषां द्विजानां जात्या शाक्तत्वकथनात् त्रैवर्णिकानां शाक्तत्वं साहजिकम्. शैवत्ववैष्णवत्वादिकन्तु पारिभाषिकत्वात् कृत्रिमं गायत्र्युपदेशापेक्षया अन्यस्य जघन्यत्वात्.

किञ्च द्विजातीनां कर्मार्थत्वात्, कर्मणां च श्रौतस्मार्तभेदेन द्वैविध्याद्, अन्येषां च इतो जघन्यत्वात्, श्रौतस्मार्तकर्माधिकारस्य गायत्र्युपदेशादेव सिद्धौ उपदेशान्तरस्य अनर्थकत्वात्. नच *''**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**'' (मुण्ड.उप.१।२।१२)

इत्यादिश्रुतिभिः, ''तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेयः उत्तमं शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मणि उपशमाश्रयम्'' (भाग.पुरा.११।३।२१) इत्यादिश्रीभागवत-वाक्यैः च गुरूपसत्तिबोधनाद्, ब्रह्मज्ञानार्थमेव च तदुपसत्तेः, उपदेशस्य तदेव प्रयोजनमिति न अनर्थकत्वम्* इति वाच्यम्, एवमपि तदतिरिक्तोपदेशानर्थक्यस्य दुर्वारत्वाद्, ब्रह्मणः औपनिषदत्वात्.

(अथवा श्रीवैष्णव्याः दीक्षायाएव आवश्यकत्वं भवतु इति पक्षः)

(अनुकल्पतया तस्याः दीक्षायाः तान्त्रिकी भवेत्॥
श्रीवैष्णवी सा यद्वा स्याद् वेदबाह्याधिकारिका॥४॥)

अथ ''अदीक्षितस्य वामोरु कृतं सर्वम् अनर्थकम्. पशुयोनिम् अवाप्नोति दीक्षाहीनो नरो मृतः. विना श्रीवैष्णवीं दीक्षां प्रसादं सद्गुरोः विना, विना श्रीवैष्णवं धर्मं कथं भागवतो भवेद्'' (पद्मपुरा. । ।) इत्यादि-पाद्मोत्तरखण्डीय-वाक्येभ्यः तस्य आवश्यकत्वं विभाव्यते, तदापि श्रीवैष्णव्याः दीक्षायाः तथात्वम् अस्तु नतु अन्यस्याअपि, अवाचनिकत्वात्.

नच * ''कृते श्रुत्युक्तमार्गः स्यात्, त्रेतायां स्मृतिभावितो, द्वापरेतु पुराणोक्तः, कलौ आगमसम्भवः. अशुद्धाः शूद्रकल्पाः हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः तेषाम् आगममार्गी स्यात् शुद्धिः न श्रौतवर्त्मना. अभावे वेदमन्त्रणां पञ्चरात्रोदितो विधिः. वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा द्विविधापि हि सिद्धिदा'' (वि.या. ।) इति विष्णुयामलवाक्यात् तान्त्रिक्याः तथात्वं* शंक्यम्, एतस्य अवैदिकपरत्वाद्, ''अभावे वेदमन्त्राणाम्'' इति कथनात्. इदानीञ्च कलेः आरम्भाद् वेदादिसत्त्वे तस्य अप्रयोजकत्वात्. अतएव कौर्मे यामलादीनां मोहकत्वम् उक्तम्. तथाहि पूर्वभागे द्वादशाध्याये हिमाचलं प्रति देवीवाक्ये ''नच वेदाद् ऋते किञ्चित् शास्त्रं ब्रह्माभिधायकं यो अन्यत्र रमते सोऽसौ न सम्भाष्यो द्विजातिभिः. यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते युगे अस्मिन् विविधानितु श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तेषां निष्ठा हि तामसी. कापालं पाञ्चरात्रं च यामलं वामम् आर्हतम् एवंविधानि च अन्यानि मोहनार्थानि तानितु. ये कुशास्त्राभियोगेन

मोहयन्तीव मानवान् मया सृष्टानि शास्त्राणि मोहाय एषां भवान्तरे'' (कूर्मपुरा.पू.१२।२६०-२६३) इति. तथा तत्रैव षोडशाध्याये देवदारुवनस्थानां गौतमशप्तानां मुनीनां प्रसंगे शिवं प्रति नारायणवाक्यं **''न वेदबाह्ये पुरुषे पुण्यलेशोऽपि, शंकर! संगच्छते. महादेव! धर्मो वेदाद् विनिर्बभौ. तथापि भक्तवात्सल्याद् रक्षितव्या महेश्वर! अस्माभिः सर्वएव इमे गन्तारो नरकानपि. तस्माद्वै वेदबाह्यानां रक्षणार्थाय पापिनां विमोहनाय शास्त्राणि करिष्यामो वृषध्वज! एवं सम्बोधितो रुद्रो, माधवेन मुरारिणा, चकार मोहशास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः. कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्वपश्चिमं पाञ्चरात्रं पाशुपतं तथा अन्यानि सहस्रशः''** (कूर्मपुरा.पू.१।१५।१०९-११३) इति.

यदि च वाममार्गव्यतिरिक्ततन्त्राणाम् अदुष्टत्वं विभाव्यते तदापि दीक्षायाः सार्थकत्वम् अस्तु. एवमपि उपदेशानर्थक्यन्तु दुर्वारमेव 'दीक्षा'पदात्, **''मन्त्रमार्गानुसारेण साक्षात्कृत्वा इष्टदेवतां गुरुः चेद् बोधयेत् शिष्यं 'मन्त्रदीक्षा' इति सा उच्यते''** (. । ।) इति तन्त्रे तल्लक्षणात्. नच उपदेशे मन्त्रमार्गानुसारित्वं, **''नराणां स्वल्पवित्तानां कुर्याद् वित्तानुसारतो महामण्डपयोगेन वित्तार्थानां तथा भवेत्. वित्तलाभाद् विमुक्तस्य स्वल्पवित्तस्य देहिनः संसारभयभीतस्य विष्णुभक्तस्य तत्त्वतो अग्नौ आज्यान्वितैः बीजैः सतिलैः केवलैस्तु वा द्रव्यहीनस्य कुर्वीत वचसा अनुग्रहं गुरुः''** (विज्ञा.संहि.१६।) इति नारदपञ्चरात्रे विज्ञानोपनिषत्संहितायाः षोडशे पटले दीक्षात्रैविध्यम् उपक्रम्य मन्त्रमार्गानुसारस्वरूपकथनात्. **''ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् सच्छूद्रान् सत्स्त्रियोऽपि वा विष्णुभक्तिरतान् साधून् दीक्षयेद् विधिना गुरुः. गुरुः परीक्षयेत् शिष्यं संवत्सरम् अन्द्रितो नियमान् विहितान् वर्ज्यान् श्रावयेत् च चतुःशतम्''** (वि.या. ।) इत्यादि विष्णुयामलेऽपि कथनात् च. उपदेशस्यतु इतः वैलक्षण्यं स्फुटमेव **''चन्द्रसूर्यग्रहे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये मन्त्रमात्रप्रकथनम् 'उपदेशः' स कथ्यते''** (रु.या. ।) इति रामार्चनचन्द्रिकायां रुद्रयामलवचनात्.

अथ यथाकथञ्चिद् उपदेशसार्थक्यं विभाव्यते तदापि अवैदिकान्

प्रति अस्तु. अतः शिष्टान् प्रति गायत्र्याद्यतिरिक्तः उपदेशः सर्वथा नोचितएव *
इति प्राप्ते —

(उत्तरपक्षे वैष्णव्याः दीक्षायाः तान्त्रिक्याः च सिद्धान्ताभिमतस्वरूपम्)

(शाक्तत्वं किं नु सामान्यं देहोत्पत्त्योत संगतम्॥
अथवातिशयरूपं वै विकल्पं सहते न तत्॥५॥
म्लेच्छादिभावे तद्धानेः सांकर्यं ह्यन्यथा ध्रुवम्॥
अन्त्येतु तन्निवृत्तिः स्याच्छैववैष्णवधर्मतः॥६॥
प्रपत्तिब्रह्मसम्बन्धौ दीक्षे वैष्णवताप्रदे॥)

उच्यते : येन शाक्तत्वस्य साहजिकत्वं ब्रूषे, सा जातिः किं [१] सामान्यभेदरूपा भवतो अभिमता [२] उत देहसम्भवरूपा [३] किंवा अतिशयरूपा?

[१] न आद्या, पुंसो म्लेच्छादिभावे तस्याः व्यक्तिपरित्यागाद् जातित्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, परित्यागानंगीकारे म्लेच्छत्वेन सांकर्यात् नियतव्यञ्जकभावात् च. नापि धर्मान्तरम् उपाधिरूपं, 'जाति'पदस्य विरोधात्.

[२] न द्वितीया, उत्तरार्धस्य **"जन्मना जायते शूद्रः"** (. . । ।) इत्यादिवाक्यानां च विरोधापातात्.

[३] तृतीया चेत्, तथा सति न शाक्तत्वस्य साहजिकत्वं संस्कारोत्तरभावित्वाद् उत्तरार्धे उपासनोक्तेः च. एवं सति वाक्यान्तरे **"जन्मना जायते शूद्रः"** (. . । ।) इति प्रथमं शूद्रत्वस्य उक्तत्वात् शैवाद्युपदेशैः तदनपायात् स्मार्तकर्माद्यधिकाररूपद्विजत्वसम्पादको गायत्र्युपदेशः ततः उत्तम-इत्येवं स्तुत्वा उत्तरार्धे तदेव हेतुना दृढीक्रियते. तावता स्मार्तकर्माधिकारसम्पादकत्वम् अस्य सिध्यति, नतु वैष्णवत्वादीनां जघन्यत्वमपि "नहि निन्दा"न्यायात्.

किञ्च पारिभाषिकत्वं तदा भवति यदा स धर्मः तत्र असन्नपि किञ्चत्कार्यकरणार्थं वचनाद् आरोप्यते. यथा आदित्योदयमात्रव्यापिन्याः तिथेः

पूर्णत्वम्. नहि वैष्णवत्वादिकं तथा, उपदेशादिना तत्सिद्धेः. अन्यथा द्विजत्वस्यापि पारिभाषिकत्वापत्तेः. अतः स्वर्गादिसम्पादकज्योतिष्टोमार्थं सौमिकदीक्षावत् मोक्षाद्यर्थकनिवृत्तिधर्मार्थं वैष्णवाद्युपदेशः ततो अधिकएव.

वस्तुतस्तु अस्मिन् वाक्ये 'वेदमातृ'पदाद् गायत्रीप्रतिपाद्यब्रह्मानभिज्ञस्यैव शाक्तत्वम् अत्र सिद्ध्यति, नतु ज्योतिश्चरणाधिकरणोक्तरीत्या **''जन्माद्यस्य यतो अन्वयाद्''** (भाग.पुरा.१।१।१) इति वाक्योक्तरीत्या वा प्रतिपाद्यब्रह्मस्वरूपाभिज्ञस्य. अतः तथा तदुपासनेऽपि न शाक्तत्वमिति न किञ्चिद् एतत्.

(औपनिषदाद्युपदेशैः गतार्थत्वशंकानिरासः)

नच * औपनिषदोपदेशेन गतार्थत्वं * शंक्यम्, इदानीं तदनधिकारात्, निर्वेदाद्यभावाद् आहारशुद्ध्यभावात् च. यथाकथञ्चित् तत्सम्भवेऽपि ज्ञानस्य विलम्बेन साधकत्वात्. **''वेदान्त विज्ञान...''** (मुण्ड.उप.३।२।६) इति श्रुत्या तथा निर्णयात्. नापि श्रीवैष्णव्याः दीक्षायाः, तस्याअपि प्रावाहिकभक्तावेव अन्तःपातात्, मोक्षफलकत्वेन तथा निर्णयात्. नापि तान्त्रिक्याः, उपासनामार्गीयित्वात्.

(उपासनैव भक्तिः इति कल्पस्य निरासः)

नच उपासनैव भक्तिः इति वाच्यं, रूपभेद-फलभेद-काण्डभेद-धर्मभेदैः तस्याः भक्तिभिन्नत्वस्य भक्तिहंसे निपुणतरम् उपपादितत्वात्. अतः स्वतन्त्रभक्तीच्छूनां स्वतन्त्रभक्तानुसारिणां च साधनभक्तौ फलमुखाधिकारसम्पादकत्वाद् भक्तिमार्गीयोपदेशः सर्वान् प्रति आवश्यको, **''देवो असुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वएव वा भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम्''** (भाग.पुरा.७।७।५०) इति सप्तमे प्रह्लादवाक्ये स्वरूपयोग्यत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् फलमुखाधिकारस्य तदर्थिनाम् अपेक्षणात्. अतएव शुकवसिष्ठादीनां परीक्षिदुपबर्हणाद्युपदेष्टृत्वं श्रीभागवत-ब्रह्मवैवर्तादिषु युज्यते.

(तत्र भक्तेः ज्ञानांगतानिरासः)

नच * **''भक्त्या माम् अभिजानाति''** (भग.गीता.१८।५५) इति

वाक्याद् भक्तेः ज्ञानएव उपक्षयाद् उपनिषच्छ्रवणेनैव ज्ञानसिद्धौ भक्तेः अनावश्यकत्वात् तदर्थम् उपदेशादिप्रयासो अपार्थः* इति वाच्यम्, उपनिषच्छ्रवणमात्रेण ज्ञानानुदयात्, प्रत्यक्षबाधात्, मननादिविधिवैयर्थ्यापातात् च. अतो अधिकारिविशेषस्य तत्रापि मृग्यत्वेन मन्दमध्यमान् ज्ञानाधिकारिणः प्रत्यपि भक्तेः आवश्यकत्वात् तदर्थम् उपदेशो न अपार्थः.

वस्तुतस्तु "**निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनां न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः**" (भाग.पुरा.११।२०।७) इति एकादशे भगवता अधिकारिभेदेन साधनभेदनिरूपणात् पृथक्फलसाधकत्वमिति न भक्तेः ज्ञानोपक्षीणत्वं, "**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**" (भग.गीता.१२।१४) इति भगवत्प्रियत्वसम्पादकत्वात् च, "**तपस्विभ्यो अधिको योगी**" (भग.गीता.६।-४६) इति वाक्यसन्दर्भे भक्तस्य सर्वोत्कर्षमुखेन ज्ञानापेक्षयापि भक्त्युत्कर्षबोधनात् च.

नच *"**ज्ञानीतु आत्मैव मे मतम्**" (भग.गीता.७।१०) इति वाक्याद् ज्ञानिनः उत्कर्षः शंक्यो*, "**नैव आत्मा च यथा भवान्**" (भाग.पुरा.११।१४।१५) इति एकादशे उद्धवं प्रति "**न अहम् आत्मानम् आशासे**" (भाग.पुरा.९।४।६४) इति नवमे दुर्वाससं प्रति च भगवद्वाक्यस्य विरोधात्. "**भक्त्या माम् अभिजानाति**" (भग.गीता.१८।५५) इतितु फलात्मकज्ञानपरं "**समासेनैव कौन्तेय**" (भग.गीता.१८।५०) इति वाक्यसन्दर्भे ज्ञाननिष्ठाकथनेन ब्रह्मभावानन्तरं भक्तिलाभकथनात् च, तज्जन्यस्य ज्ञानस्यापि नान्तरीयकत्वेन तदभिन्नत्वात्. भक्तेरपि पर्यवसानदशायां फलत्वमेव. "**सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, सएव 'भक्तियोगा'ख्यः आत्यन्तिकः उदाहृतः**" (भाग.पुरा.३।२९।१३) इति तल्लक्षणात्.

(भक्तेः अश्रौतत्वनिरासः)

नच भक्तेः अश्रौतत्वात् नैर्बल्यं शंक्यं, माहात्म्यज्ञानार्थं सृष्ट्यादिवाक्यानि

सुदृढस्नेहार्थम् आत्मवाक्यानि च वदन्त्याः श्रुतेः माहात्म्यज्ञानपूर्वक-सुदृढस्नेहस्वरूपिकायां भक्तावेव तात्पर्यात्. तदर्थमेव च कर्मादीनां निरूपणात्. ''**भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिः अन्वीक्ष्य मनीषया तद् अध्यवस्यत् कूटस्थो रतिः आत्मनि अतो भवेद्**'' (भाग.पुरा.२।२।२४) इति द्वितीयस्कन्धवाक्याद् इति उपपादितं तत्त्वदीपे. अतो भक्तेः आवश्यकत्वात् तदधिकारसम्पादकः उपदेशः शिष्टानां वैदिकमुख्यानाम् अत्यावश्यकः इति सिद्धम्. ''**मन्त्रोपदेशमात्रेण नराः मुक्ताः च भारत! पूर्वैः च कोटिपुरुषैः परैः सार्धं हरेः अहो कोटिजन्मार्जितात् पापात् मन्त्रग्रहणमात्रतो मुक्ताः शुद्ध्यन्ति यत्पूर्वं कर्म निर्मूलयन्ति च. पुत्रान् दारान् च शिष्यान् च सेवकान् बान्धवान् तथा यो दर्शयति सन्मार्गं सदगतिः तद् भवेद् ध्रुवम्. यो दर्शयति असन्मार्गं शिष्ये विश्वासिते गुरुः कुम्भीपाके स्थितिः तस्य यावच्चन्द्रदिवाकरौ**'' (ब्र.वै.पु.१।५७-६०) इति ब्रह्मवैवर्तब्रह्मखण्डाष्टमाध्याये ब्रह्माणं प्रति नारदवाक्ये उपदेशमात्रेण सद्गतिकथनाद् विमार्गोपदेशे दुर्गतिकथनात् च. चतुर्थस्कन्धद्वादशाध्याये ''**ज्ञानम् अज्ञाततत्त्वाय यो दद्यात् सत्पथे स्थितः कृपालोः दीननाथस्य देवाः तस्य अनुगृह्णत**'' (भाग.पुरा.४।१२।५१) इति वाक्यात् चापि तथा.

(श्रीवैष्णव्याः तान्त्रिक्याः च दीक्षायाः अनावश्यकत्वम्)

किञ्च विज्ञानौपनिषत्संहितायां यथोक्तप्रकारेण दीक्षाकरणे शिष्येण गुरवे स्वीयधनार्द्धं तुरीयांशो वा सर्वथा अर्पणीयः इति उक्त्वा तदकरणे दोषः प्रदर्शितः. तद् इदानीन्तनानां शिष्याणां लुब्धत्वाद् गुरुणा तथोक्तौ तस्यापि लुब्धत्वसम्भावनया हेयतापत्तेः च अशक्यम्. अतः उपदेशएव दोषाजनकत्वाद् उचितइत्येतेनैव श्रीवैष्णव्याएव दीक्षायाः आवश्यकत्वम् इत्यपि अपास्तम्. ब्रह्मवैवर्ते रासेश्वरमन्त्रस्य अग्रे नारदाय उपदेक्ष्यमाणस्य प्रस्तावेन तदभावात् च. अतः तेषु-तेषु पुराणेषु तत्तन्मन्त्रोपदेश-कथनात् तदुक्तभक्तौ फलमुखाधिकाराय च तदुपदेशः आवश्यकः इति सिद्धम्.

(पुष्टिपथप्रद्वेषिप्रलापपरिहारः)

एतेनैव[पा.भे.१] ''**वैष्णवं हि समुदिश्य एकादश्यादि कथ्यते. ब्रह्म**

नानापुराणेषु जपपूजादिकर्मसु **नच अत्र अधिकृताः यूयं दीक्षाभावाद् अवैष्णवाः. अदीक्षितो वैष्णवः च कथ्यते भवतां नये. अकृताधानकर्मापि आहिताग्निः निगद्यताम्**'' इत्यादिरूपो दुर्जनप्रलापोऽपि परिहृतो बोध्यः.

(श्रीकृष्णमन्त्रोत्कर्षः)

नच *एवं सति सर्वेषां मन्त्राणां तौल्यात् श्रीकृष्णमन्त्रोऽपि वैष्णवेन मन्त्रान्तरेण विकल्प्यताम्* इति वाच्यं, ''**गाणपत्येषु शैवेषु तथा शाक्तेषु सुव्रत! सर्वेषु मन्त्रवर्गेषु वैष्णवं श्रेष्ठम् उच्यते. वैष्णवेषु च मन्त्रेषु**[पा.भे.२] **कृष्णमन्त्राः फलाधिकाः**'' (गौ.तं.१।) इति गौतमीयतन्त्रप्रथमाध्यायवाक्येन फलेप्सूनां नैव आवश्यकाः. अस्तु वा तत्तदधिकारिभेदाद् विकल्पः. तथापि कृष्णमन्त्राणाम् उत्कर्षस्तु न क्षुद्यते.

(भक्तिमार्गे यथाधिकारं शरणात्मनिवेदनयोः उपदेशस्य आवश्यकता)

इदमपि उपासनामार्गविचारेण उक्तम्. भक्तिमार्गविचारेतु शरणोपदेशः आत्मनिवेदनोपदेशएव च यथाधिकारम् आवश्यको, नतु मन्त्रादीनां, भगवता भक्त्युपायोपदेशे अधिकारिविशेषणत्वेन तयोरेव उक्तत्वात्. तथाहि एकादशे एकादशाध्याये पूर्वं ज्ञानमार्गम् उपसंहृत्य तत्र अशक्तौ तत्फलाय भक्तिं वदिष्यता भगवता ''**यदि अनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलं मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचरेद्**'' (भाग.पुरा.११।११।२२) इति फलापेक्षारहितस्य स्वस्मिन् कर्मार्पणं भक्त्यर्थम् उपदिश्य, तत्कथं कार्यम् इति अपेक्षायां ''**श्रद्धालुः मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः. गायन् अनुस्मरन् कर्म जन्म च अभिनयन् मुहुः. मदर्थे धर्मकर्मार्थान् आचरन् मदपाश्रयो लभते निश्चलां भक्तिं मयि, उद्धव!, सनातने**'' (भाग.पुरा.११।११।२३-२४) इति द्वाभ्यां प्रकारानुवादात् स्वाश्रितस्य स्वकथा-श्रवण-स्वजन्मकर्मगानस्मरण-तदभिनयनपूर्वकं धर्मकामार्थाः आचरणी-याः इति तत्प्रकारः उक्त तत्र. 'अपाश्रय'पदेन शरणगमनमेव अधिकारिविशेषणत्वेन उक्तम्. 'शरण'पदं च रक्षितरि रूढं ''**शरणं गृहरक्षित्रोः**'' (अम.को.३।५।२४-४०) इति कोशात्. तथाच ''सर्वतो भगवानेव रक्षकः'' इति अनुसन्धानमेव

शरणगमनम् इति. वक्ताच अत्र स्वयमेवेति '**मत्**'शब्देनैव श्रीकृष्णनामप्राप्तिः. ''**श्रीकृष्णः शरणं मम**'' इत्येव अनुसन्धानाकारः सिद्धइति तस्यैव उपदेशः सिद्ध्यति. अतएव वाक्यान्तरे ''**तस्मात् त्वम्, उद्धव!, उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे हि अकुतोभयम्**'' (भाग.पुरा.११।१२।१४-१५) इति 'शरण'पदम् उक्तम्. गीतायामपि ''**मां हि, पार्थ!, व्यपाश्रित्य**'' (भग.गीता.४।३०) इति, ''**माम् एकं शरणं व्रज**'' (भग.गीता.१८।६६) इति उक्तम्. उपदेशावसरे उभयत्रापि स्वस्य प्रत्यक्षत्वाद् उपदेशस्यापि तथात्वात् 'माम्' इत्यस्य उत्तमपुरुषस्य च प्रयोगइति परोक्षदशायां पूर्वोक्तएव आकारः. न तावता शब्दस्य कस्यापि लौकिकत्वम्. ऊहात् प्रस्तुतम्[पा.भे.३] इति अर्थः. ''**पदपदैकदेशादिप्रक्षेपः ऊहः**'' (द्रष्ट.जैमि.न्या.मा.२।१।९) इति हि जैमिनीयतन्त्रे तल्लक्षणम्. सच स्वयम् अमन्त्रोऽपि स्वघटितवाक्यस्य मन्त्रत्वनिर्वाहकएव नतु विघटकः. अन्यथा ''**सूर्याय जुष्टं निर्वपामि**'' (तैत्ति.संहि.१।१।४) इत्यादावपि तथात्वापत्तेः श्रुतौ 'अग्नये' इत्येव पाठात्. नच *शरणएव उपदेष्टव्ये ''**श्रीमन्मुकुन्दचरणौ सदा शरणम् अहं प्रपद्ये**'' इति ''**शरणागतगोपाल**'' इति अष्टादशार्णाऽष्टार्णयोः अन्यतरः कुतः वा न आदृतः?* इति शंक्यम्, उपासनामार्गीयत्वाद् इति उक्तम्. *ननु तदादरे का दोषः* इति चेद्, अत्र उक्तस्य फलस्य अभावएव इति ब्रूमः. अतएव जैनदयायाः अनादरोऽपि युज्यते. अन्यथा ''**ब्रह्मचर्यम् अहिंसां च अपरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन संरक्षेद्**'' इति श्रुतिच्छायायाः तत्रापि शक्यवचनत्वात् तस्याअपि उपादेयत्वापत्तिः. अतएव माधवाचार्यैः स्मृतिपादे उक्तं ''**शाक्योक्ताहिंसनं धर्मो न वा धर्मः श्रुतत्वतो न धर्मो नहि पूतं स्याद् गोक्षीरं श्वदृतौ धृतम्**'' (जैमि.न्या.मा.१।३।४।१२) इति.

किञ्च श्रुतिविचारेऽपि गोपालपूर्वतापनीये ''**यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वं, यो विद्याः तस्मै गोपायति कृष्णो यः तं देवम् आत्मवृत्तिप्रकाशं मुमुक्षुः वै शरणम् अनुव्रजेद्**'' (गो.पू.ता.उप.१।५) इति शरणगमनं विहितम्.

आरम्भेच **"श्रीकृष्णो वै परमदैवतम्"** (गो.पू.ता.उप,१।१) इति श्रावितम्. एवं सति तदनुसन्धाने प्रथमान्तश्रीकृष्णपदोपस्थितौ भावनायां शरणपदस्यापि विशेषणतया प्रथमान्तसामानाधिकरण्येनैव उपस्थितौ स्ववाचकपदस्य षष्ठ्यन्त-स्यैव उपस्थितिः. श्रुत्यन्तरे **"मुमुक्षुः वै शरणम् अहं प्रपद्ये"** (श्वेता.उप.६।१८) इति 'अहं'पदाद् 'अस्मत्'शब्दस्यैव च उपस्थितिः इति विभक्तिमात्रस्यैव अर्थबलाद् विपरिणामइति न कस्यापि अश्रौतत्वम्. नच * मन्त्रेषु विपरिणामो अनुचितः * इति शंक्यं, नवमस्य प्रथमपादे **"विकारः तत्प्रधाने स्याद्"** (पू.मी.जै.सू.९।१।४१) इति अधिकरणे **"अयं यजमानः आयुः आशास्ते"** (तैत्ति.ब्राह्म.३।५।१०।४) इत्यादिरूपे फलप्रकाशके सूक्तवाकमन्त्रे **"सत्रिणाम् एते यजमानाः आशसते"** (द्रष्ट.जै.न्या.मा.९।१।४१) इत्यादिरूपस्य विभक्त्यन्तरस्य अंगीकारात्, तस्यच विपरिणामएव प्रवेशात्, प्रतीयमाने अर्थे तात्पर्यनिर्वाहाय पदैकदेशान्यथात्वकल्पनस्यैव विपरिणामत्वाद् इति न कोऽपि शंकालेशः.

(केश्चिद् वर्णितः "यत्र योगेश्वरः..."इत्यादिश्लोकात् शरणमन्त्रोद्धारप्रकारः)

केचितु सहस्रनामादौ भीष्मवैशम्पायनाविव अत्रापि सञ्जयं न्यक्कृत्य व्यासचरणानामेव ऋषित्वम् अभिसन्दधानाः **"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः. तत्र श्रीः विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिः मतिः मम"** (भग.गीता.१८।७८) इति वाक्याद् उद्धारम् आहुः.

तथाहि : **यत्र** '**योगे**' अन्वये, '**ईश्वरो**' मुख्यो **कृष्णः तत्र श्रीः**. ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डद्विपञ्चाशदध्याये 'राधाकृष्ण' इति उच्चारणप्रसंगे **"जगन्माता च प्रकृतिः पुरुषश्च जगत्पिता गरीयसी त्रिजगतां माता शतगुणैः पितुः"** (ब्र.वै.पु.४।५२।३४) इत्यादिभिः 'श्री'नाम्नः पूर्वकथनस्य उक्तत्वात् प्रथमान्त'श्रीकृष्ण'पदोद्धारः. **यत्र पार्थः** 'पाति' इति '**पा**' रक्षको अर्थो अभिधेयो यस्य तादृशो **धनुर्धरो** "धनुः धरः यस्य असौ धनुर्धरः"=शरः. सच 'शृणाते' रक्षाकर्मणो ल्युडन्तस्यैव प्रसिद्धः, **"शरणं गृहरक्षित्रोः"** (अम.को.३।५।२४४०) इति कोशात्. तथाच यत्र सः **तत्र मम** इति.

एवञ्च यत्-तदोः नित्यसम्बन्धाद् उभयत्र तत्र इत्यस्य प्राप्तौ मूलस्थं **'तत्र'** इति पदं **'विजयादि'**पदैः अन्वेति. तथा सति यत्र **''श्रीकृष्णः शरणं मम''** **तत्र विजयो भूतिः नीतिः मतिः ध्रुवा** इति फलबोधनार्थत्वात्. अत्र **'विजयादि'**पदैः ऐहिकं, **'मति'** पदेन ज्ञानं ध्रुवम् उच्यते भक्तिः. अभयं च पूर्वमेव उक्तम्. शरणशगतौ पापमोचनं च **''सर्वधर्मान् परित्यज्य''** (भग.गीता.१८।६६) इत्यत्रैव उक्तम्. तथाच **''नाम्नां मुख्यतरं नाम 'कृष्णा'ख्यं यत् परन्तप! प्रायश्चितम् अशेषाणां पापानां मोचनं परम्''** (प्रा.म.साधारणप्राय.प्रक.) इति प्रायश्चित्तमयूखे स्कान्दप्रभासखण्डीये भगवद्वाक्ये नाममात्रस्यापि तथात्वम् उक्तम्.

अतः सर्वफलदत्वम् एतस्य. एतदेव अभिसन्धाय अभियुक्तैः उक्तम् —

''किं मन्त्रैः बहुभिः विनश्वरफलैः आयाससाध्यैः मखैः।
किञ्चिल्लोप-विधानमात्र-विफलैः संसारदुःखावहैः॥
एकः सन्नपि सर्वमन्त्रफलदो लोपादिदोषोज्झितः।
'श्रीकृष्णः शरणं मम' इति परमो मन्त्रो अयम् अष्टाक्षरः॥''
(. । ।) इति.

(शरणमन्त्रस्य पञ्चरात्रोक्ततानिरासः)

केचित्तु एनं मन्त्रम् इमं श्लोकं नारदपञ्चरात्रोक्तम् आहुः तदपि न अस्माकं रोचते. आकृतितौल्ये स्वरूपभेदस्य, लोकवेदाधिकरणखण्डननिबन्धे विद्वन्मण्डने च **''बहूनि सन्ति नामानि''** (भाग.पुरा.१०।८।१५) इति एतद्वाक्यार्थविचारे भक्तिहंसे च प्रपञ्चितत्वेन भक्तिमार्गीयस्य ततो भिन्नतायाएव युक्तत्वात्.

(शिष्टाचारादपि शरणोपदेशावश्यकता)

किञ्च शिष्टाचारविचारेऽपि अयमेव उपदेशः आवश्यकः **''तर्को अप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिः यस्य वचः प्रमाणं धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था''** (महाभा.३।३२।६५) इति

भारते आजगरे युधिष्ठरवाक्यात्. "**साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेद्**" (मिताक्ष. ।) इति मिताक्षरादि-सर्वनिबन्ध-लिखितं, ब्रह्माण्ड-वाक्ये कलौ तस्य विशेषतः प्रामाण्यबोधनात् च.

(स्वसम्प्रदायशिष्टाचारमूलभूतानां श्रीमदाचार्याणां स्वरूपम्)

अतएव प्रथमस्कन्धसुबाधिन्यां श्रीमदाचार्यचरणैः "**दत्त्वा आज्ञां च कृपावलोकनपटुः ... वैश्वानराद् वाक्पतेः**" (सुबो.१।१।१।५) इति स्वानुभवः स्वस्वरूपं च उक्तम्. *ननु तादृशतदनुभवे तादृक्स्वरूपत्वे किं मानम्* इति चेद्, आचार्यत्वमेव इति ब्रूमः. दृश्यन्ते हि सर्वेष्वेव प्रस्थानेषु प्रस्थानप्रवर्तकानां स्वस्वानुभवबोधकानि वाक्यानि. तथाहि माध्वसम्प्रदाये "**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्स**" (ऋक्संहि.१।१४५।५) इति श्रुतौ 'मध्व'पदेन मध्वाचार्याः व्याख्याताः. तथा मरुदवतारत्वं च तेषाम् उच्यते. जयतीर्थश्च बलीवर्दः आचार्याज्ञया उत्पन्नो भाष्यव्याख्याता जातः इति. तथा रामानुजसम्प्रदाये रामानुजाचार्याः शेषावताराः इति. मायावादिसम्प्रदायेऽपि व्यासशंकरयोः विवादः तत्र गणेशस्य साक्षित्वम्. तत्र गणेशेन उक्तः "**व्यासो नारायणः साक्षात् शंकरः शंकरः स्वयं तयोः विवादे सम्प्राप्ते किंकरः किं करोमि अहम्**" (द्रष्ट. : शं.दि.७।११) इति श्लोकश्च प्रसिद्धः. सौन्दर्यलहर्यां "**तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः पयः पारावारः परिवहति सारस्वतइव. दयावत्या दत्तं द्रुहिणशिशुः आस्वाद्य तव यत् कवीनां प्रौढानाम् अजनि कमनीयः कवयिता**" (सौन्द.लह.७५) इति स्वानुभव उक्तः. गौडेषु कृष्णचैतन्याः भगवदवतारत्वेन प्रसिद्धः. अतः आचार्यत्वादेव न तद्वाक्ये शंकोदयः किन्तु वेदविरुद्धत्वएव अप्रामाण्यम्. अतो मन्त्रलक्षणाधिकरणे "**शिष्टानां मन्त्रः**" इति प्रसिद्धेरेव सिद्धान्तलक्षणत्वाद् आनुपूर्व्या मन्त्रत्वम् अनयापि रीत्या निर्बाधम्.

(अथवा 'श्रीकृष्णः' इति नामाक्षराणामेव मन्त्रत्वं शिष्टानां पञ्चाक्षराणाम् उपदेशार्थतैव)

अथवा अस्मिन् वाक्ये 'श्रीकृष्णः' इति नामैव मन्त्रः. नाम्नो मन्त्रत्वं च सर्वशास्त्रप्रसिद्धं, शेषस्तु शरणोपदेशः. अतएवं 'नामदत्तं' 'नामप्राप्तं'

'नामधारी' इत्येव प्रसिद्धिः इति न कोऽपि शंकालेशः इति दिक्.

(भक्तिमार्गाधिकारसम्पादकात्मनिवेदनावश्यकता)

एवमेव "**वैष्णवानां हरेः अर्चा तपस्या च श्रुतौ श्रुता वैष्णव! त्वं गृहे तिष्ठ कुरु कृष्णपदार्चनम्. अन्तर्बाह्ये हरिः यस्य तस्य किं तपसा? सुत! नान्तर्बाह्ये हरिः यस्य तस्य किं तपसा तथा? तपसा हरिः आराध्यो नान्यः कश्चन विद्यते. यत्र तत्र कृतं कृष्णसेवनं परमं तपः**" (ब्र.वै.पु.१।२४।२१-२३) इति ब्रह्मवैवर्तब्रह्मखण्डीयैकादशाध्याये नारदं प्रति ब्रह्मवाक्यात्. "**वत्से चतुर्षु वेदेषु धर्मेषु**[पा.भे.४] **सकलेषु च पुराणेषु इतिहासेषु पाञ्चरात्रादिकेषु अन्येषु धर्मशास्त्रेषु वेदांगेषु च, सुव्रते!, सर्वेष्टं सारभूतं च मंगलं कृष्णसेवनम्**" (ब्र.वै.पु.२।३२।९-१०) इति ब्रह्मवैवर्तप्रकृतिखण्डे सावित्रीं प्रति यमवाक्यात्[पा.भे.५] च कृष्णसेवनस्यैव परमतपस्त्वेन सर्वेष्टादिरूपत्वेन कथनात् तदेव आवश्यकम्. तस्य च कायिकादिव्यापाररूपस्य "**'भज' इत्येष धातुः वै सेवायां परिकीर्तितः तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता 'भक्ति'शब्देन भूयसी**" (लिंगपुरा.२।९।२०, गरु.पुरा.२१९।३) इति गारुड-समाप्तिदशास्थ-विष्णुभक्त्यध्यायस्थवाक्याद् भक्तिरूपत्वेऽपि मुख्यतां आत्मसमर्पणम् अन्तरेण न भवति. एकादशीयैकोनविंशाध्याये "**पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्**" (भाग.पुरा.११।१९।१९) इति प्रेमभक्तिपरमकारणकथनं प्रतिज्ञाय "**श्रद्धा अमृतकथायां मे**" (भाग.पुरा.११।१९।२०) इत्यादिना श्रवणकीर्तनादीन् उपदिशता भगवता समाप्तौ "**एवं धर्मैः मनुष्याणाम्, उद्धव!, आत्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते**" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इति आत्मनिवेदनस्य[पा.भे.६] अधिकाररूपताबोधनात्. तदभावेन अधिकाराभावेन कृतस्यापि श्रवणादेः मुख्यत्वस्य अशक्यवचनत्वात्.

(नवधाभक्तौ क्रमाविवक्षा)

एवञ्च तस्य नवमत्वं यत् प्रह्लादवाक्ये उक्तं तदपि संख्यापूरणायैव नतु अन्तिमकक्षात्वाय. वन्दनदास्ययोः कक्षाव्यभिचारात् च. नहि

श्रवणादिपञ्चकोत्तरमेव वन्दनादिकं कार्यम् इति नियमः क्वापि सिद्धो अस्ति. नच * सख्यादेः उभयकृतिसापेक्षत्वेन भगवति अशक्यकरणत्वाद् अविधेयत्वं * शंक्यं, सख्यस्य तद्विश्वासादिरूपतया आत्मनिवेदनस्य विक्रीतगवाश्वादिषु स्वत्वाभावानुसन्धानवद्, देहादौ तथानुसन्धानरूपतायाः श्रीधरीये व्याख्यानेन तस्य अशक्यकरणत्वाभावाद्, विधेयत्वस्य सुखेन सम्भवाद् इति.

('श्रीकृष्ण'नामघटितयोः एतयोः मन्त्रयोः भक्तिमार्गीयत्वमेव)

किञ्च तथा गौतमीयतन्त्रे "**कृष्णेति द्व्यक्षरो मन्त्रः**" (गो.त. ।) इति, पाद्मे "'**कृष्णे'ति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेद् नरः**" (पद्मपुरा. । ।) इति, ब्रह्मवैवर्ते श्रीकृष्णजन्मखण्डे "**गृहाण मम मन्त्रं च 'कृष्णः' इति अक्षरद्वयं सर्वेषामेव मन्त्राणां सारात् सारतरं परम्**" (ब्र.वै.पुरा.४।१२८।३८) इति वाक्याद्, ब्रह्माण्डाध्यात्मरामायणे युद्धकाण्डे "**सकृदेव प्रपन्नाय, 'तव अस्मि' इति च याचते, अभयं सर्वभूतेभ्यो ददामि एतद् व्रतं मम**" (ब्रह्मा.अध्या.रामा.यु.का.३।१२) इति विभीषणम् उद्दिश्य सुग्रीवं प्रति रामवाक्यं, "'**दयां कुरु प्रपन्नाय तव अस्मि' इति यो वदेत् अभयं सर्वभूतेभ्यो दद्याद् एतद् व्रतं हरेः**" (गरु.पुरा.२२०।११) इति गारुडे विष्णुभक्त्यध्यायवाक्ये च, अभयसाधकत्वकथनात् मन्त्रस्यापि. "**नष्टो मोहः**" (भग.गीता.१८।७३) इति वाक्ये '**अच्युत!**' इति सम्बोधनेन कृष्णनाम्नएव स्मरणात्. ततः "तव अस्मि", "स्थितो अस्मि गतसन्देहः", "वचनं करिष्ये" इति वचनव्यक्त्या गीतास्थवाक्योद्धार्यत्वेन स्थितो योऽसौ निवेदनमन्त्रः तस्यापि [पा.भे.७] पौराणत्वेन भक्तिमार्गीयत्वाद् उपासनामार्गीयतागन्धस्यापि अभावात्.

(आत्मनिवेदनदीक्षायाः श्रौतत्वम्)

किञ्च बृहदारण्यके मधुविद्यायां यथा "**अयम् आत्मा सर्वेषां भूतानाम् अधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा. तद् यथा रथनाभौ रथनेमौ चाराः समर्पिताः एवमेव अस्मिन् आत्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्वएव आत्मनः समर्पिताः**" (बृह.उप.२।६।१५) इति सर्वेषां

समर्पितत्वम् उपदिष्टम्. अत्र प्रथमं 'भूत'पदं जडपरं महाभूतेषु तथा प्रसिद्धत्वात्, श्रौते सर्वेषां जडानां पञ्चीकृतभूतोपादेयत्वात्. द्वितीयं देहविशिष्ट जीवपरं "**न हिंस्यात् सर्वा भूतानि**" (द्रष्ट.छान्दो.उप.८।१५।१) इत्यादौ तथाप्रयोगात्. तथासति अत्र जडाधिपतित्वं जीवराजत्वं च सिध्यति. तत्र राजवाक्यं जीवेषु अनुग्रहबोधनाय. अन्यथा अधिपतिवाक्यादेव चारितार्थ्याद् एतद्वैयर्थ्यापत्तेः. 'तद्यथा' इत्यादिदृष्टान्तेन प्राणाद्यात्मान्तानाम् उभयोः अवध्योः संयुक्तत्वेन तद्विष्टब्धत्वम्. तेन अयम् उपदेशः एतावदनुसन्धानार्थः. तेन प्राणाद्यात्मान्तेषु स्वीयत्वादिबुद्धिं त्यक्त्वा तदीयत्व-तद्विष्टभ्यत्वबुद्धिः कर्तव्या इति फलति. ईदृशबुद्धिकरणमेव च अस्मच्छास्त्रे 'ब्रह्मसम्बन्धकरणम्' इति 'आत्मनिवेदनम्' इति च व्यवह्रियते.

(यथाधिकारं यथाशास्त्रं च आत्मनिवेदनदीक्षायाः श्रौतत्वं तान्त्रिकत्वं भक्तिमार्गीयत्वं च)

एतस्य च गुरुणा श्रौतत्वेन उपदेशे श्रौतत्वम् आगमोक्तत्वेन उपदेशे च तान्त्रिकत्वम्. "**एवं धर्मैः मनुष्याणाम्**" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यादिभगवदुक्तत्वेन उपदेशे भक्तिमार्गीयत्वम् इति शास्त्रादिभेदात् फलभेदः इति. एतेनैव 'कृष्ण तवास्मि' इत्यस्य लौकिकत्वं वदन्तो अतिभ्रान्ताअपि निरस्ताः बोध्याः. इदमपि बहिर्मुखानां पर्यनुयोगनिरासाय उक्तम्.

(अत्र सिद्धान्तनिर्गलितार्थः)

वस्तुतस्तु साक्षाद् भगवता श्रीगोवर्धनेश्वरेण एतौ मन्त्रौ आचार्येभ्यः उपदिष्टौ इति सिद्धान्तरहस्यवाक्यात् सम्प्रदायात् च अवसीयते. अतएव च सर्वेषामेव अधिकारः इति.[पा.भे.८] यत्तु * ऋष्याद्यभावात्[पा.भे.९] कथं मन्त्रत्वम्? * इति उक्तं, तदपि असंगतं छन्दर्ष्यादिज्ञानस्य फलपौष्कल्यादिसाधकतया मन्त्रत्वज्ञानाय तदनुपयोगात्.

केचित्तु * शारदातिलकादौ लक्ष्मीमन्त्रादीनाम् ऋष्याद्यनुक्त्या व्यभिचाराद् यथास्थितानामेव तेषां जपात् सिद्धिः * इति आहुः.

(पञ्चाक्षरमन्त्रे 'दासा'दिपदापेक्षा)

यदपि *"कृष्ण तवास्मि" इत्यत्र दासादिपदसापेक्षत्वम्* उक्तं, तदपि मौर्ख्यम्, अत्र आत्मनएव समर्थत्वेन तस्य च 'अस्मि' इति क्रियाध्यवसिता'ऽहं'पदादेव प्राप्तेः शंकायाएव अनुदयात्. आत्मनिवेदनस्य अश्रौतत्वन्तु प्रागेव निरस्तम्. वाजसनेयिनां बृहदारण्ये **"इमे विदेहाः अयम् अहम् अस्मि"** (बृह.उप.४।२।४) इति जनककृतस्य गुरौ याज्ञवल्क्ये आत्मसमर्पणस्य श्रवणाद् भगवति समर्पणस्य अर्थादेव सिद्धेः च.

(देहादिसमर्पणानौचित्यशंकानिरासः)

यत्तु देहः स्त्रीणां, धनं पुत्राणाम्. अतः परस्वत्वनिवेदनं कथं कार्यम् इति लौकिकाः शंकन्ते, तत् कदर्यमेव, **"क्रीडार्थम् आत्मनः इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यन्तु तत्र कुधियो अपरे ईश! कुर्युः"** (भाग.पुरा.८।२२।२०) इत्यादिवाक्यैः सर्वस्य भगवदीयत्वेन लौकिकस्वामिकताविचारस्यैव भ्रान्तिमूलत्वात्. किञ्च तथा मन्वानानां भटानां युद्धार्थगमनादेः दानादेः चापि बाधापत्तिः, परस्वत्वाद् इति न कोऽपि शंकालेशः.

(कस्यचन पुष्टिमार्गद्वेषिणः प्रलापस्य परिहारः)

("देहादेर् ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम किं मतम् ?।।७।।
ब्रह्माध्यासोऽत्र देहादौ तदध्यासोऽथवा परे।।
समर्पिते गवाश्वादौ 'न ममे'ति यथा मतिः।।८।।
तथा देहार्पणे तेऽस्ति नवेत्येतद् विमृश्यताम्।।
नास्ति चेन्नार्पणं जातमस्तीत्युक्तिस्तु वै मृषा।।९।।
लोकानुभवबाधेन किञ्च कर्तुं न शक्यते।।
स्वत्वाविनाशाद् देहस्य चार्पणे जातिनाशनम्"।।१०।।
तदेतदतितुच्छं हि रहस्यानवबोधतः।।
आहार्यमत्याभिप्रेतं 'तवाहं न ममे'ति हि।।११।।)

यदपि *"**समर्पिते गवाश्वादौ 'न मम' इति यथा मतिः तथा**

देहार्पणे ते अस्ति नवा इत्येतद् विमृष्यताम्. नास्ति चेद् न अर्पणं जातम्. अस्ति इति उक्तिस्तु वै मृषा, लोकानुभवबाधेन किञ्च कर्तुं न शक्यते स्वत्वाविनाशाद् देहस्य च अर्पणे जातिनाशनाद्'' * इति उक्तं, तत्तु जनकोपाख्यानश्रुत्यैव दत्तोत्तरम्. आहार्यायाएव ''न मम'' इति बुद्धेः तत्र अभिप्रेतत्वात्. स्वस्मिन् आहार्यब्रह्मदृष्टेरिव आहार्यायाः ''न मम'' इति बुद्धेरपि फलजनकत्वे बाधकाभावात् च. अग्रे यज्ञादिकरणाद्युक्तेः जातिनाशनस्यापि अभावात् च इति.

(स्वमार्गीययोः मन्त्रयोः प्रणवाभावप्रयुक्तदोषपरिहारः)

(मन्त्रयोः प्रणवाभावो भक्तिमार्गानुरोधतः ।।
''जपसंख्या तथा होमद्रव्यं किमनयोः मतम्?'' ।।१२।।
प्रश्नोऽयं हि गतस्तावद्दत्तोत्तरतयात्र हि ।।
मन्त्रयोः शिष्यमासादि-मन्त्रैक्याद्यविचारणे ।।१३।।
स्वाच्छन्द्यापत्त्यभावाय सन्त्यत्र नियमाअपि ।।
दम्पत्योः गुर्वैक्यादौ नैव दोषो हि कश्चन ।।१४।।
मूलाचार्यस्य माहात्म्याद् योग्यता साम्प्रदायकी ।।
मन्त्रे सर्वत्र विज्ञेया ह्युच्छेदापत्तिरन्यथा ।।१४।।
सम्प्रदायास्त्वनेका हि ह्यागमाः सन्ति वै तथा ।।
तस्माद् भक्तिप्रपत्त्योर्हि मन्त्रयोः नास्ति दूषणम् ।।१५।।)

ननु अत्र प्रणवः कुतो न पठितः इति चेद्, गोपालादिमन्त्रेषु तम् अपश्यन् सर्वमन्त्रेषु प्रणवपाठनियमाभावम् अननुसन्दधानो भ्रान्तः शंकते; तथापि, वदामः : शूद्राद्युद्धारकत्वाय केवलभक्तिमार्गीयत्वेन स्नेहप्राधान्यबोधनाय च इति बुध्यस्व. नच *भक्तेः माहात्म्यज्ञानांगत्वात् प्रणवस्य सृष्ट्यन्तःस्थितिबोधकस्य कथनेऽपि अदोषः* इति शंक्यम्, अत्रत्यमाहात्म्यस्य लोकवेदोदितविलक्षणत्वेन मूलनाम्ना एतस्यापि सिद्धेः इति आकरेषु उपपादितत्वात्. भक्तिमार्गीयत्वादेव च जपेऽपि न भूतशुद्धिमुद्रान्यासाद्युपयोगो मार्गस्य शास्त्रस्य च भेदात्. [पा.भे.९] ''**कर्मणां जात्यशुद्ध**'' (भाग.पुरा.११।२०।२६)-

त्वेन तन्मार्गएव तस्य आवश्यकत्वम्. ''**सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा वैकुण्ठनामग्रहणम् अशेषाघहरं विदुः**'' (भाग.पुरा.६।२।१४) इत्यादि वाक्यैः नाम्नाम् उपचरितार्थानामपि अशेषाघहरत्वम् उक्तम्. नच अस्य पक्षस्य भक्तिमार्गीयत्वे मानाभावः शंक्यः. ''**केचित् केवलया भक्त्या**'' (भाग.पुरा.६।१।१५) इत्याद्युपक्रम्यैव अजामिलोपाख्यानस्य उक्तत्वेन तन्मध्यपातादेव तत्सन्देहनिरासात्. अतो नाम्नएव प्रमेयबलेन सर्वनिर्वाहः इति न काचित् अनुपपत्तिः. किञ्च यथा ''**य एवं विद्वान् महारात्रे उषसि उदिते व्रजन् तिष्ठन् आसीनः शयानो अरण्ये ग्रामे वा**'' (सहवै.१९) इति श्रुत्या नित्यम् अध्ययनं स्वाध्यायस्य ब्रह्मयज्ञरूपस्य, तथा ''**गच्छता तिष्ठता वापि स्वपता जाग्रता तथा शयानेन उपविष्टेन जप्यो नारायणः सदा**'' (स्क.पु.४।का.१९।११७) इति काशीखण्डैकोनविंशाध्यायवाक्याद् भगवन्नामापि सर्वदा सर्वत्र जप्तव्यम् अतोपि तथा. ''**प्रायश्चित्तानि अशेषाणि**'' (गरु.पुरा.२३०।४) इति गरुडपुराणध्यानस्तुत्यध्यायस्य सूतवाक्याद्, अजामिलोपाख्यानात् च. नाम्नएव असहायशूरत्वावगमादपि तथा[पा.भे.१०].

एतेनैव *''**जपसंख्या तथा होमद्रव्यं किम् अनयोः मतम्**'' इति प्रश्नोऽपि दत्तोत्तरः, ''**प्रत्यगाशिषो मन्त्रान् जपन्ति अकरणान्**'' (आप.श्रौ.सू.१।४।३) इति कल्पेन प्रत्यगाशीर्मन्त्राणां होमादिकरणतानिषेधात्, शरणमन्त्रे तथात्वस्य स्फुटत्वात्, समर्पणमन्त्रे च गम्यत्वाद् इति[पा.भे.११].

नच नाम्नो असहायशूरत्वे सेवाद्यनुपयोगो, अधिकारिभेदेन सार्थक्यात्. अतएव ''**कश्चिन् मम अनुध्यानेन नामसंकीर्तनात् च मे**'' (भाग.पुरा.३।२९।१८) इति भगवता उक्तं, तेन ''**सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा वैकुण्ठनामग्रहणम् अशेषाघहरं विदुः**'' (भाग.पुरा.६।२।१४) इत्यत्रापि 'अशेष'पदे संकोचो ज्ञेयः इति अलम्.

वस्तुतस्तु न अयं जपः किन्तु कीर्तनमेव स्मरणं वा. अतएव प्रथमस्कन्धे ''**अतः पृच्छामि संसिद्धिं योगिनां परमं गुरुं पुरुषस्य इह**

यत् कार्यं म्रियमाणस्य सर्वथा यत् श्रोतव्यम् अथो जाप्यं यत् कर्तव्यं **नृभिः प्रभो! स्मर्तव्यं भजनीयं वा ब्रूहि यद्वा विपर्ययम्**'' (भाग.पुरा.१।१९।३७-३८) इति राज्ञा पृष्टे श्रीशुकेन द्वितीयस्कन्धे ''**तस्माद् भारत! सर्वात्मा**'' (भाग.पुरा.२।१।५) इत्यनेन ''**तं सत्यम् आनन्दनिधिं भजेत**'' (भाग.पुरा.२।१।३९) इत्यनेन च श्रवण-कीर्तन-स्मरण-भजनान्येव उक्तानि नतु जपः. एकादशे गीतासु च शरणगमनमेव उक्तम्. तच्च अनुसन्धानरूपमेव अतोपि तथा.

यस्तु मौनेन एकाग्रस्थित्यादिः, सतु युगस्य दुष्टत्वेन बाधकतया बहुकालैकाग्र्याभावात् किञ्चित्कालन्तु निर्बन्धेनापि एकाग्र्यं विधेयम् इति आशयेन साम्प्रदायिकैः तत्समयः कृतः. तेन धर्मसाम्यदर्शनात् लोके जपव्यपदेशः, परं न तावता तद्धर्माणामपि प्राप्तिः, स्वरूपभेदाद् इति उक्तम्. अतएव श्रीमदाचार्यैरपि नवरत्ने ''**तस्मात् सर्वात्मना नित्यम्**'' (न.र.९) इत्यनेन सर्वदा वदनमेव शरणमन्त्रस्य उक्तं, निवेदनस्मरणं च ''**निवेदनन्तु स्मर्तव्यम्**'' (न.र.२) इत्यनेन. नतु क्वापि जपस्यापि आज्ञापनं कृतम्. अतएव ''**स्मर्तव्यः सततं विष्णुः**'' (पद्मपुरा.उख.७।७१।१४०) इत्यादीन्यपि वाक्यानि संगच्छन्ते. अतो न शंकावकाशः इति दिक्.

ननु भवतु मन्त्रस्य भक्तिमार्गीयत्वं तथापि उपदेष्टॄणां शिष्यपरीक्षातु आवश्यकी इति चेत्, सत्यं, परं शिष्ये किं वा परीक्षणीयम्? श्रद्धा इति चेद् ओम् इति ब्रूमः परं तस्याः मनोधर्मत्वेन तज्जैरेव बहिर्धर्मैः तस्याः उन्नेयत्वेऽपि तत्परीक्षायाः पुत्रोपनयनादिवद् अनावश्यकत्वात्. ''**मन्त्रोपदेशमात्रेण**'' (ब्र.वै.पुरा.ब्रह्म.खं.८।५७-६०) इत्यादि ब्रह्मवैवर्तवचनेन तथानिश्चयात्. उपसन्नत्यापि श्रद्धायाः अनुमातुं शक्यत्वात् च. दम्भादिना उपसन्नतावपि गुरौ दोषासञ्चारस्य उक्तवाक्येनैव सिद्धेः. किञ्च ''**दुर्लभे सद्गुरूणान्तु स्यात् तत्संगे उपस्थिते, तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान्, ग्रामे वा यदि वा अरण्ये क्षेत्रे वा यदि वा निशि, आगच्छति गुरुः दैवाद्, मुदा दीक्षा तदाज्ञया. यदैव इच्छा तदा दीक्षा गुरोः आज्ञानुरूपतो,**

न तिथिः न तथा होमो न स्नानं न जपक्रिया दीक्षायाः कारणं; किन्तु, स्वेच्छावाप्तेतु सद्गुराविति शुद्धिस्तु सर्वस्य ज्ञात्वा दीक्षेत सिद्धिधिः'' (. । ।) इति तत्त्वसागरे गुरुशिष्ययोः इच्छौत्कट्ये दीक्षायामपि धर्मान्तरपरीक्षायाः अनावश्यकताव्यवस्थापनेन उपदेशे सुतरां तथात्वस्य तान्त्रिकाणामपि अभिमततया भक्तिमार्गस्य सुतराम् अपर्यनुयोज्यत्वात्.

नच **''राज्ञि च अमात्यजाः दोषाः पत्नीदोषाः च भर्तरि तथा शिष्यार्जितं पापं गुरुः प्राप्नोति निश्चितम्''** (द्रष्ट.स्क.पु.२.वै.मार्ग.मा.१६।१५) इति वाक्याद् दोषसञ्चारः, एतस्य शिष्यपापोपेक्षया तदत्यागपरत्वात्. अन्यथा **''मन्त्रोपदेशमात्रेण''** (ब्र.वै.पु.१।८।५७) इत्यादि-पूर्वोक्त-ब्रह्मवैवर्तवाक्य-विरोधप्रसंगात्.

एवञ्च **''चैत्रे बहुविधं दुःखम्''** (. । ।) इत्यादीनि मासपक्षतिथ्यादि-शोधनबोधक-वाक्यानि गुरोः सादेश्ये गुरुणा तदनुमोदने बोध्यानि. **''तदनुज्ञा यदा लब्धा''** (. । ।) इत्यादिवाक्यात्.

भक्तिमार्गीयत्वादेव स्वस्य अन्यस्य एकमन्त्रत्वेऽपि अदोषः. **''स्वमन्त्रो नोपदेष्टव्यो वक्तव्यः च न संसदि''** (द्रष्ट.नार.संहि.११।४३-४७) इत्यस्य निषेधस्य पाञ्चरात्रिकत्वेन तत्परत्वात्. अतएव भगवता शिवाय उपदिष्टं मन्त्रकवचादिकं शिवेन नारदाय उपदिष्टम् इति ब्रह्मवैवर्तोक्तं संगच्छते.

ननु एवं शास्त्रान्तराननुरोधेन तन्त्रोक्तस्य सम्प्रदायगुर्वनुरोधस्यापि अकर्तव्यत्वाद् यस्य कस्यचन यथाकथञ्चन यतः कुतश्चन मन्त्रग्रहणम् आयातीति असमञ्जसम् इति चेत्, न विरुद्धस्यैव शास्त्रान्तरस्य अनादरणीयत्वेन इहापि सम्प्रदायस्य सद्गुरोः च सर्वथैव अनुरोद्धव्यत्वात्. **''आसीनम् ऊर्व्यां भगवन्तम् आद्यम्''** (भाग.पुरा.३।८।३) इत्यादिषु पौराणिकोपदेशेषु, **''दध्यङ् आथर्वणो अश्विभ्याम् उवाच''** (बृह.उप.२।५।-१९) इत्यादिषु श्रौतेष्वपि गुरुपरम्परायाः प्रदर्शनेन तथा निश्चयात्.

‘‘**धर्मार्थकाममोक्षाणाम् आलयः साम्प्रदायिकः सम्प्रदायविहीनाः ये मन्त्राः ते निष्फलाः मताः**’’ (गौत.तन्त्र.१९।५) इति गौतमीयतन्त्रैकोनविंशाध्याय-वाक्यास्यापि अविरुद्धत्वेन आदरणीयत्वात्.

एवञ्च गुर्वनुज्ञायां क्षत्रियादीनामपि आनुलोम्येन उपदेष्टृत्वम् अदुष्टमेव, ‘‘**क्षत्रविट्शूद्रजातीनां क्षत्रियो अनुग्रहे क्षमः. क्षत्रियस्यापि च गुरोः अभावाद् ईदृशो यदि, वैश्यः स्यात् तेन कार्यः च द्वयोः नित्यम् अनुग्रहः. सजातीयेन शूद्रेण तादृशेन महामते! अनुग्रहाभिषेकौ च कार्यौ शूद्रस्य सर्वदा. उपायो न भवेद् लोभाद् मुक्त्वा सर्वद्विजोत्तमम्**’’ (. । ।) इति, ‘‘**क्षत्त्रविट्शूद्रजातीयप्रातिलोम्यं न दीक्षयेद्**’’ (विज्ञा.संहि.१८।) इति नारदपञ्चरात्रीय-विज्ञानोपनिषत्संहिताष्टादशपटल-वाक्यस्यापि अविरुद्धत्वेन शिष्टादृतत्वात्. पञ्चाग्निविद्या(छान्दो.उप.५।९)दौ यत् श्रुतिषु क्षत्रियैः ब्राह्मणोपदेशनं तदपि न उपदेशरूपं, ‘‘**व्येतु ज्ञापयिष्यामि**’’ (बृह.उप.२।१।१५) इति विज्ञापनश्रुतेः. अतः सम्प्रदायस्य अनुरोद्धव्यत्वात् न असमञ्जसः इति दिक्. अतएव ‘‘**यदृच्छया श्रुतं वापि च्छन्नेनापि च्छलेन वा पत्रे स्थितं वा गाथायां वर्जयेत् तद् अनर्थवद्**’’ (. ।) इति तान्त्रिकमपि शिष्टैः आद्रियतएव.

यत्तु राज्ञीप्रभृतिषु पत्रद्वारा उपदेशनं तत्तु तासाम् असूर्यंपश्यत्वेन आर्त्या गुरोः दयोत्पत्तौ तदभ्यनुज्ञायां प्रतिनिधिद्वारकत्वाद् अदोषावहमेव.

ननु भवतु एवं! तथापि दम्पत्योः सतीर्थ्यत्वन्तु अनुचितमेव, सतीर्थ्ययोः भ्रातृत्वस्य लोके प्रसिद्धत्वात्. अतः साम्प्रदायिकैः कथं तौ उपदिश्येते इति चेद्, उच्यते : धर्माधर्मौ हि शास्त्रगम्यौ न लोकात् निर्णेतुं शक्यौ. शास्त्रन्तु न निषेधति. यदि निषेधः चेद् दृश्येत, प्रायश्चित्तं वा स्मर्येत. ‘‘**चतस्रस्तु परित्याज्याः शिष्यगा गुरुगा च या पतिघ्नी च विशेषेण जुंगितोपगता च या**’’ (वशि.स्मृ.२१।१०) इतिवत् सतीर्थ्यागमने स्त्रियाः वा त्यागः स्मर्येत. भगिनीगमने गुरुतल्पातिदेशवत् शिष्यस्त्री-गुरुपुत्र्योः च

गमने तदतिदेशवत् सतीर्थ्यागमनेऽपि तद् अतिदिश्येत. अगम्यात्वं वा सतीर्थ्यायाः स्मर्येत. तद्गमनस्य उपपातकता वा स्मर्येत. क्रोधाद् भार्या मात्रादिसदृशीम् अगम्याम् उक्त्वा पुनर्गमनेऽपि पराशरेण प्रायश्चित्तं स्मृतम्. तद्वत् प्रकीर्णेषु वा स्मर्येत. अतो निषेधाद्यभावात् न अनुचितो दम्पत्योः सतीर्थभावः. प्रत्युत पुराणेषु दृश्यते दम्पत्योः सतीर्थत्वम्. तथाहि ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मखण्डे एकोनविंशाध्याये उपबर्हणजीवनोत्तरं ''**महापुरुषस्तोत्रं च पूजां च कवचं मनुं विस्मृतं बोधयामास स्वयं रहसि सुव्रता! पुरा दत्तं वसिष्ठेन स्तोत्रपूजादिकं हरेः गन्धर्वाय च मालत्यै मन्त्रम् एकं च पुष्करे**'' (ब्र.वै.पु.१।१९।३-४) इति दम्पत्योः वसिष्ठोपदिष्टत्वं कण्ठाद् उक्तं सूतेन. तदग्रे शौनकेन च पृष्टं ''**किं स्तोत्रं कवचं विष्णोः मन्त्रपूजाविधिः पुरा ददौ वसिष्ठः ताभ्यां तद् भवान् वक्तुम् अर्हति**'' (ब्र.वै.पुरा.१।१९।८) इति. अन्यत्रच ''**आचारो धर्ममार्गः च गुरुः मन्त्रः च देवता दम्पत्यपत्यभृत्याद्यैः एकीकृत्य महत् फलम्**'' (. । ।   ) इति उक्तम्. अतः सातीर्थ्ये दोषसम्भावनापि न.

किञ्च नारदपञ्चरात्रे विज्ञानोपनिषत्संहितायाः षोडशे पटले ''**विष्णुतत्त्वं परिज्ञाय एकं वा अनेकभेदवत् दीक्षयेद् मेदिनीं सर्वां किं पुनश्च उपसन्नतान्**'' (विज्ञा.संहि.१६।) इति सामान्यतः सर्वेषां दीक्षणम् उक्तम्. अतो दम्पत्योः एकेन उपदेशदानेऽपि न दोषः. एतेनैव[पा.भे.१२] ''स्त्रियाः केवलायाः दीक्षा न उचिता'' इति ये वदन्ति तेऽपि निरस्ताः, ''**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य**'' (भग.गीता.९।३२) इत्यादिरूपे भगवत्तत्त्वज्ञानोपदेशे क्रियमाणे उपसन्नतिमात्र-स्यैव प्रयोजकत्वाद् इति.

किञ्च यदि सतीर्थायाः भगिनीत्वं स्यात् सुतायाः सुतरां स्यात् तथा सति शिष्याय न तां ऋषयो दद्युः, धर्मस्थापकत्वाद् ऋषीणाम्. दानञ्च स्मर्यते भारते आश्वमेधिके उत्तंकोपाख्याने गौतमेन उत्तंकाय स्वशिष्याय स्वपुत्री परिणायिता इति उक्तेः. ''**इत्थं च परितुष्टं मां विजानीहि भृगूद्वह युवा षोडशवर्षो हि यद् अद्य भविता भवान्, ददामि पत्नीं कन्यां**

च स्वां ते दुहितरं द्विज! एताम् ऋते अंगनां नान्यां त्वत्तेजो अर्हति सेवितुम्. ततः तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम्'' (महाभा.१४।५५।२२) इति. तदुत्तरम् अहल्यां प्रति ''आज्ञापयस्व मां मातः'' (महाभा.१४।५५।२) इति मातृत्वमपि उक्तम्. कार्तिकमाहात्म्ये च ''अपुत्रः स च शिष्याय 'चन्द्र'नाम्ने ददौ सुताम्'' (स्क.पु.२।वै.कार्ति.मा.१३।७) इति उक्तम्. यातु देवयान्याः भगिनीत्वम् अंगीकृत्य कचेन तदुक्तिः न आदृता सातु एकोदर-निवासिता-प्रयुक्तत्वेन न अत्र दोषम् आधातुं शक्नोति, ''यत्र उषितं, विशालाक्षि!, त्वया चन्द्रनिभानने! तत्र अहम् उषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भामिनि'' (महाभा.१.२७.१३) इति कचेन शुक्रोदरे निवासकथनात्. षाट्कोशिके देहे अस्थ्यादित्रयस्य पित्र्युपादेयत्वात्. अतएव व्यभिचारएव गुरुतल्पातिदेशो गुरुपुत्र्याम् इति दिक्.

किञ्च ''अन्नदाता भयत्राता पत्नीतातः तथैव च विद्यादाता जन्मदाता पञ्च एते पितरो नृणाम्'' (ब्र.वै.पु.१।१०।१५३) इति ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मखण्डीयदशमाध्याये सूतवाक्याद् अन्नदानादीनामपि पितृत्वेन श्वसुरपोष्यत्वे, दम्पत्योः एकपोष्यत्वे, एकेन भयत्राणे च, भ्रातृभगिनीभावापत्तिरिति विवाहो मुधैव स्याद् इति न किञ्चिद् एतत्. अतः पुत्रवत्याः पत्न्याः मातृत्वमिव सतीर्थ्ययोः भ्रातृत्वमपि अनवज्ञेयत्वायैव, नतु व्यवहारान्तरनिरोधाय इति दिक्.

ननु भवतु एवं तथापि सद्गुरुप्राप्तेः इदानीं दुर्लभत्वात् पूर्वोक्तं सर्वं साधितमपि असाधितप्रायमेव, ''यः समः सर्वभूतेषु विरागी गतमत्सरो जितेन्द्रियः शुचिः दक्षः सर्वांगावयवान्वितः कर्मणा मनसा वाचा भीतेषु अभयदः सदा समबुद्धिपदप्राप्तः तत्रापि भगवन्मयः'' (विज्ञा.संहि.१६।) इति नारदपञ्चरात्रीय-विज्ञानोपनिषत्संहिता-षोडशपटलीय-वाक्ये तस्य लक्षित-त्वात्. अविरुद्धस्य शास्त्रान्तरस्यापि आदरणीयत्वाद् इति चेत्, सत्यम् एवं, तथापि मार्गमूलभूतान् आचार्यान् आदाय न दौर्लभ्यम् इति वदामः. अन्यथा कर्मोपासनादिमार्गेष्वपि अस्य दोषस्य तुल्यत्वात् मार्गाः सर्वएव उच्छिद्येरन् युगस्य सार्वत्रिकत्वात्. अतो भगवदनुग्रहे तेषामेव नियामकत्वाद्

इदानीन्तानानां द्वारत्वात् न कोऽपि दोषः. तेन इदानीन्तनेषु सम्प्रदायानुसारित्वमेव सद्गुरुत्वमिति द्वारभूतगुर्वतिक्रमेऽपि दोषो न स्याद् इति न वाच्यं, तस्यापि अनुल्लंघ्यतायाः आवश्यकत्वात्. अतएव आदित्यपुराणे ''**अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव जनार्दनः स्वमार्गस्थो वा अप्यमार्गस्थो गुरुरेव सदा गतिः. हरौ रुष्टे गुरुः त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन. तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेद्**'' (आदि.पुरा.५०।१८) इति उक्तम्. वाराहे प्रागितिहासे, रुद्रगीतासु च ''**यस्तु इमं सरहस्यन्तु समन्त्रं च उपपादयेद् विधानं तस्य वै दत्तं कोटिकोटिगुणोत्तरम्. गुरौ वसति यस्तु अन्यम् आश्रयेत् पूजयेत् कुधीः स दुर्गतिम् अवाप्नोति दत्तम् अस्य च निष्फलमम्. प्रयत्नेन गुरौ पूर्वं पश्चाद् अन्यत्र दापयेत्. अविद्यो वा सविद्यो वा गुरुरेव जनार्दनः. प्रतिपद्य गुरुं यस्तु मोहाद् विप्रतिपद्यते स कल्पकोटि नरके पच्यते पुरुषाधमः**'' (वराह.पुरा. ३९।५४)इति अन्यथा पूर्वोक्तलक्षणके गुरौ अमार्गस्थत्वाद्यभावाद् एवं न वदेत्. तस्माद् नैष दोषः. अतएव द्वाराभूतानामपि गुरुत्वेन आदरणमपि उचिततरमेव. अतएव ''**अपि घ्नन्तः शपन्तो वा विरुद्धा अपि ये क्रुधाः गुरवः पूजनीयाः ते गृहं गत्वा आनयेत् तान्**'' (ब्र.वै.पु. । ।) इति ब्रह्मवैवर्ते उक्तम्. सप्तमस्कन्धे च ''**यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ भक्तिः न स्यात् कृतं तस्य मन्ये कुञ्जरशौचवद्**'' (भाग.पुरा.७।१५।२६) इति उक्तम्. एकादशे च ''**आचार्यं मां विजानीयाद् न अवमन्येत कर्हिचित्, न मर्त्यबुद्ध्या असूयेत सर्वदेवमयो गुरुः**'' (भाग.पुरा.११।१७।२७) इति. नारदोक्तौ च ''**गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेद् अन्यम् अग्रतः स दुर्गतिम् अवाप्नोति पूजनं तस्य निष्फलम्**'' (. ।) इति. अगस्त्यसंहितायां च ''**यैः शिष्यैः शश्वद् आराध्याः गुरवो हि अवमानिताः पुत्रमित्रकलत्रादिसम्पद्भ्यः प्रच्युता हि ते, ये गुर्वाज्ञां न कुर्वन्ति पापिष्ठाः पुरुषाधमाः न तेषां क्लेशनिस्तारो वर्तते मुनिसत्तमः**'' (. ।) इति उक्तम्. मनौ च ''**अन्यो भवति वै बालः पिता अन्यो मन्त्रदायकः**'' (. ।) इति. वामनकल्पे च ''**यो मन्त्रः स गुरुः साक्षाद्, यो गुरुः स हरिः स्मृतः. गुरुः यस्य भवेत् तुष्टः तस्य तुष्टो हरिः स्वयम्**'' (. ।) इति. विष्णुरहस्ये ''**तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेत्.**

अभेदेन अर्चयेद् यस्तु स भक्तिफलम् आप्नुयाद्'' (. ।) इति उक्तम्. पञ्चरात्रे च ''यत्र-यत्र परीवादो मात्सर्यात् श्रूयते गुरोः तत्र-तत्र न वस्तव्यं निर्यायात् संस्मरन् हरिम्. यैः कृता च गुरोः निन्दा विभोः शास्त्रस्य नारद! नापि तैः सह वस्तव्यं वक्तव्यं वा कथञ्चन'' (जया.संहि.१६।३२३-३२५) ईदृशेषु च गुरुषु सर्वदा अनुवृत्तिरेव विधेया. ''इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतं यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ'' (भाग.पुरा.१०।७७।४१) इति तृतीयस्कन्धात्. ''इमे विदेहाः'' (बृह.उप.४।२।४) इत्यादिबृहदारण्यकीयात्मसमर्पणश्रुतेः च.

द्वारत्वं च साम्प्रदायिकस्यैव ज्ञेयं, ''यो वक्ति न्यायरहितं, विना न्यायं शृणोति यः, तौ उभौ नरकं घोरं व्रजतः कालम् अक्षयम्'' (. । ।) इति, ''महाकुलप्रसूतोऽपि सर्वयज्ञेषु दीक्षितः. सहस्रशाखाध्यायी च न गुरुः स्याद् अवैष्णवः'' (द्रष्ट.पद्मपुरा.३।२२६।३) इति, ''अवैष्णवोपदिष्टेन मन्त्रेण नरकं व्रजेत्. पुनश्च विधिना सम्यग् वैष्णवाद् ग्राहयेद् गुरोः'' (. ।) इति च पञ्चरात्रात्, ''अवैष्णवोपदिष्टन्तु पूर्वमन्त्रवरद्वयं पुनश्च विधिना सम्यग् वैष्णवाद् ग्राहयेद् गुरोः'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२६/३२।२) इति पाद्मोत्तर-खण्ड-द्वात्रिंशाध्यायात् च. एवं सति ''प्रतिपद्य गुरुं यस्तु मोहाद् विप्रतिपद्यते स कल्पकोटि नरके पच्यते पुरुषाधमः'' (. ।) इतिजातीयकाः पूर्वोक्तदोषाअपि तन्त्रपुराणादिषु उपलभ्यमानाः साम्प्रदायिक-गुरुत्यागादि-विषयाएव बोध्याः. अतएव ब्रह्मवैवर्ते ब्रह्मखण्डीयचतुर्विंशाध्याये ''देहि मे कृष्णमन्त्रं च यद् मनोवाञ्छितं मम तत्सम्बन्धि च यद् ज्ञानं यत्र तद्गुणवर्णनम्'' (ब्र.वै.पु.१।२४।४०) इति नारदेन विज्ञापितो ब्रह्मा, ''पत्युः मन्त्रं पितुः मन्त्रं न गृह्णीयाद् विचक्षणो विरक्ताश्रमिणां चैव न पुत्रसुखदायकम्'' (तत्रैव) इत्यादिकं हेतुपूर्वकम् उक्त्वा ''महेश्वरः तव गुरुः प्राक्तनीनः पुरातनो गच्छ वत्स शिवं शान्तं शिवदं ज्ञानिनां गुरुं तत्रैव भगवन्मन्त्रं ज्ञानं लब्ध्वा पुरातनात् नारायणकथां श्रुत्वा शीघ्रम् आगच्छ मद्गृहम्'' (तत्रैव) इति उक्त्वा ब्रह्मा शिवं प्रति नारदं प्रेषयामास इति उक्तिरपि

संगच्छते.

तस्माद् गुरुः सर्वथा न अतिक्रमणीयः. सच साम्प्रदायिकएव, एकएव कर्तव्यः इति निश्चयः. एवञ्च **"गुरुवक्त्राद् विष्णुमन्त्रो यस्य कर्णे प्रविशति तं वैष्णवं महापूतं जीवन्मुक्तं वददे् विधिः"** (ब्र.वै.पु.१।११।४१) इति ब्रह्मवैवर्ताद्यखण्डैकादशाध्यायवाक्ये मन्त्रश्रवणमात्रेणापि वैष्णवतायाः स्तुतत्वात् तादृशेनापि भाव्यम्.

तेनच आद्यसोपानेन अग्रे सत्संगादिना श्रीभागवतसेवनेन भक्तिमार्गीयसाधनेषु श्रद्धायां तत्करणे स्वतन्त्रभक्तिः भवति. तयाच भगवत्प्रियत्वम् इति परमा साधनकक्षा इति दिक्.

केचित्तु * 'वैष्णव'पदं योगेन विष्णुसम्बन्धिपरं सत् सर्वस्य विष्णुसम्बन्धित्वेन सर्वं संगृह्णदपि स्मृतिपुराणादिषु 'शैव'-'स्मार्त'दिशब्दानामपि दर्शनात् तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वार्थसिद्ध्ये च शास्त्रे कञ्चिद् विशेषम् अपेक्षते. सच दीक्षाविशेषजनितएव भवितुम् अर्हति. नारदपञ्चरात्रपाद्मादिषु दीक्षायाः स्तुतत्वाद् अदीक्षितस्य निन्दितत्वात् च. दीक्षाच द्विविधा एका आगमोक्ता गोपालादिमन्त्रदीक्षा द्वितीया पाद्मोत्तरखण्डोक्ता श्रीवैष्णवी दीक्षाः (पद्मपुरा.उ.-ख.२२६) तयोः मध्ये द्वितीयैव मुख्या भगवदन्तरंगत्वसाधकत्वात्, **"विना श्रीवैष्णवीं दीक्षां प्रसादं सद्गुरोः विना विना श्रीवैष्णवं धर्मं कथं भागवतो भवेद्"** (पद्मपुरा. । ।) इति पाद्मोत्तरखण्डोक्तेः. तत्रच न्यासो नारायणाष्टाक्षरदीक्षा च इति द्वयं मुख्यम् अन्यत् च तदंगम्. एवं सति 'ताप-पुण्ड्र-नाम-मन्त्र-यागा'ख्यपञ्चसंस्कारवत्त्वमेव मुख्यं वैष्णवत्वम्. तत्र तापो नाम तप्तमुद्राधारणम्, पुण्ड्रं प्रसिद्धमेव, नाम कृष्णदासगोविन्ददासादि, मन्त्राः पूर्वोक्ताः, यागः पूजा, एते पञ्चसंस्काराः ज्ञेयाः. पूर्वोक्तपाद्मेन तत्रत्यसन्दर्भान्तरेण च तथैव सिद्धेः. अन्येषुतु औपचारिकं, **"सदीक्षाविधि सन्यासं समन्त्रं द्वादशाक्षरम् अष्टाक्षरम् अथ अन्यं वा ये मन्त्रं समुपासते, ज्ञेयाः ते वैष्णवाः लोके विष्णवर्चनहिते रताः"** (. ।) इत्यादौ

विष्णवर्चनाद्युपाधिना तदुक्तेः. एतदभावे भागवतत्वाभावकथनात् च. औपचारिकाः च वैष्णवाः द्विधा उपासक-शुद्धभक्त-भेदात्. तत्र मन्त्रशास्त्रोक्त-श्रीरामादिमन्त्र-जपपुरश्चरणादिना तदधिष्ठातृभजनकर्ता उपासकः. तदनपेक्षः शुद्धश्रवणादिना भजनकर्ता शुद्धभक्तः इति. एभ्यः सर्वेभ्यः श्रीवैष्णवाएव मुख्याः * इति आहुः.

तत् न शुद्धभक्तस्यैव मुख्यत्वात्, "**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**" (भग.गीता.१२।१४) इत्यादि, "**अहं भक्तपराधीनः**" (भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यादिभगवद्वाक्यात्, "**त्वं तु सर्वं परित्यज्य**" (भाग.पुरा.११।७।६) इति, "**केवलेन हि भावेन**" (भाग.पुरा.११।१२।८) इत्यादिभगवद्वाक्येषु भावमात्रेण अकुतोभयप्राप्तिस्वप्राप्त्योः कथनात् च. "**कथं भागवतो भवेद्**" (पद्मपुरा. । ।) इतितु साधनदशायां भगवत्सम्बन्धमात्रबोधकं न अन्तरंगताबोधकं तथैव तद्वचनव्यक्तेः. एकादशे सप्तविंशे "**क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभोः**" (भाग.पुरा.११।२७।१) इति उपक्रम्य "**एतद् वदन्ति मुनयः**" (भाग.पुरा.११।२७।२) इत्यादिना, "**देव्यै च भगवान् भव**" (भाग.पुरा.११।२७।३) इत्यन्तेन नारदपञ्चरात्राद्युक्तस्य पाद्मादौ देव्यै शिवेन उक्तस्य च क्रियायोगत्वकथनेन भक्तिमार्गतो जघन्यताबोधनात् च. एतदुत्तरग्रन्थे भगवता पूजात्वकथनादपि तथा. शुद्धभक्त्यतिरिक्तस्य भगवदन्तरंगतासाधकत्वाभावात्, "**न तथा मे प्रियतमः आत्मयोनिः न शंकरः नच संकर्षणो न श्रीः नैव आत्मा च यथा भवान्**" (भाग.पुरा.११।१४।१५) इति उद्धवं प्रति भगवद्वाक्येन तथावगमात्. भक्तेश्च परमसाधनत्वम् एकादशे ऊनविंशाध्याये "**पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्**" (भाग.पुरा.११।१९।१९) इति प्रतिज्ञाय "**श्रद्धा अमृतकथायां मे**" (भाग.पुरा.११।१९।२०) इत्यादिना "**एवं धर्मैः मनुष्याणाम्, उद्धव!, आत्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः को अन्यो अर्थो अस्य अवशिष्यते?**" (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यन्तेन भगवता उक्तम्. तेन तदेव मुख्यम् इति निश्चयः.

इदमेव भक्तिहंसे "**प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्व...**" (भ.हं.) इत्यादिना

प्रभुचरणैः निरूपितम्. नच * अत्र उपदेशाकथनात् तस्य अकारणत्वं शंक्यम् *, इतः पूर्वं ''**भक्तियोगः पुरैव उक्तः प्रीयमाणाय ते अनघ!**'' (भाग.पुरा.११।११।१९) इत्यनेन अनूदिते सुगोप्ये ''**न रोधयति मां योगः**'' (भाग.पुरा.११।१२।१) इत्यादि ''**यास्यसे हि अकुतोभयम्**'' (भाग.पुरा.११।-१२।१५) इत्यन्ते ग्रन्थे सर्वात्मभावपूर्वकस्य शरणस्य पूर्वम् उपदिष्टत्वेन तस्य संगृहीतत्वात्. ''**आत्मनिवेदिनाम्**'' (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यनेन तत्पूर्वकतायाअपि सूचनात् च. नच एकादशाध्याये ''**वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा**'' (भाग.पुरा.११।११।३७) इति कथनात् तस्याअपि कारणत्वम् एतद्वत् शंक्यं, मुख्यकारणकोटौ तदप्रवेशात्. ''**अथ एतत् परमं गुह्यम्**'' (भाग.पुरा.११।११।४९) इत्यनेन ततः पूर्वोक्तस्य व्यवच्छेदात्. आत्मनिवेदनवत् पुनः अत्र संग्रहात् च.

(उपसंहारः)

एतेनैव अन्येऽपि भक्तिपन्थानो व्याख्याताः ज्ञेयाः. शंकापंकान्तरपरिहारः च साक्षाद् भगवदुक्तिसलिलधाराभिरेव विभाव्य साधनीयइति अलं विस्तरेण.

इति श्रीवल्लभाचार्यदासदासेन निर्मितः।।
उपदेशादिविषयो वादोऽयं प्राप पूर्णताम्।।१६।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दन-चरणदास-दासेन पीताम्बर-तनुज-श्रीपुरुषोत्तमेन
कृतो भक्तिमार्गीयोपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः
चतुर्दशः सम्पूर्णताम् अगमत्

पाठभेदतालिका

१.''इत आरभ्यः बोध्यः'' इत्यन्तं यावत् **ख घ ङ च छ** पाठेषु नास्ति. **मु. ग.** पाठयोः. २.सर्वेषु इति **ख ख ग ङ च छ** पाठेषु. ३.प्रस्तुतसिद्धचर्थः इति **ख ग च** पाठेषु. ४.''धर्मो वै संहिताषु च'' इति **ख घ च** पाठेषु. ५.ब्रह्म इति **मु घ च** पाठेषु. यम इति **ख ङ**

पाठयोः. ६.''इति भगवद्वाक्ये तस्य'' इति **ङ** पाठः. ७.''वाक्योद्धार्यत्वेन स्थितो योऽसौ निवेदनमन्त्रः तस्यापि पौराणत्वेन'' इति **ग ङ** पाठयोः. ८.इत आरभ्य **ख घ ङ च छ** मातृकासु अत्र त्रुटिः. ९.ऋष्या इति **ग** पाठः. उत्सृष्टचा इति **मु.** पाठः. १०.**मु.** पाठे नास्ति. **ख ग घ ङ च** पाठानुरोधेन. ११.**मु. ग** पाठयोरेव नान्यत्र. १२.**मु. ग** पाठयोरेव नान्यत्र.

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

पञ्चदशो

।। भगवत्प्रतिकृतिपूजनवादः ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

सर्वः सर्वान्तरो देवो यो गुरुः प्रतिमादिषु ।।
भक्त्या भक्तैर्विशेषेण पूज्यस्तं कृष्णमाश्रये ।।१।।

(पूर्वपक्षः)

* ननु इदम् असंगतमिव आभाति. कुतः ?

[१] स्थानतौल्यात् [२] स्थितेः साम्याद् [३] अवज्ञादिषु दोषतः ।।
[४] निन्दनाच्चान्यथाभक्तेः तुल्यं सर्वत्र पूजनम् ।।२।।

तथाहि — [१] ब्रह्मवादिनां भगवान् सर्वात्मकः. विशिष्टाद्वैतवादिनां सर्वशरीरविशिष्टः सर्वान्तरः. केवलद्वैतिनां सर्वान्तरएव, शरीरन्तु भिन्नमेव. मायावादिमते शरीराणां सर्वेषां कल्पितत्वात् सर्वाधिष्ठानम्. नानाविधानां शैवभागवतादीनां च शिवादिरूपः — इति वस्तुस्वरूपविचारे तत्तन्मतानुसारेण सर्वेषां शरीराणां तौल्याद् "**ब्रह्म दाशाः ब्रह्म दासाः ब्रह्म इमे कितवाः उत**" (अथर्व.पैप.सं.८।९।१०) "**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**" (भग.गीता.५।१८) इति गीतायां "**सूर्यो अग्निः ब्राह्मणाः गावो वैष्णवः खं मरुद् जलं भूः आत्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे**" (भाग.पुरा.११।११।४२) इति एकादशे अन्यत्रच सामान्यतएव निर्देशेनापि तन्निश्चयात् च न कोऽपि क्वापि विशेषः.

[2] किञ्च अन्तर्यामिब्राह्मणे ''**यः पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिवीम् अन्तरः**'' (बृह.उप.३।७।३) इत्यादिना पृथिव्यादिषु आत्मान्तेषु तुल्यतयैव आन्तरत्वश्रावणात्, ''**अप्सु अग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च शालग्रामे च चक्रांके पटे मुद्रासु देवताः नित्यं सन्ति हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च**'' (स्मृ.सा. ।) इति स्मृत्यर्थसारेऽपि तुल्यतयैव सन्निधानकथनात् च, अन्तर्यामित्वेन स्थितौ देवतान्तरवद् आवेशप्रकारेण वा तेन-तेन रूपेण भगवतः स्थितौ न कोऽपि विशेषः. नच * आचारमाधवे ''**अर्चनं सम्प्रवक्ष्यानि विष्णोः अमिततेजसो, यत् कृत्वा मुनयः सर्वे परं निर्गुणम् आप्नुयुः**'' (आ.मा. ।) इति परमफलार्थम्, ''**अप्सु अग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च षट्सु एतेषु हरेः सम्यग् अर्चनं मुनिभिः स्मृतम्. अग्नौ क्रियावतां देवो, दिवि देवो मनीषिणां, प्रतिमासु अल्पबुद्धीनां, योगिनां हृदये हरिः, तस्य सर्वगतत्वात् च स्थण्डिले भावितात्मनाम्**'' (अग्निपुरा. ।) इति आग्नेये तं-तं प्रति विशेषतः स्थितिकथनात् स्थितेः तौल्यम् * इति शङ्क्यं, तस्य-तस्य तत्र-तत्र श्रद्धासद्भावात् तस्याः फलमुखांगत्वेन फलशैघ्र्यार्थं तदतिशयोत्पादनाय तथा कथनात्. तावतापि साम्याबाधात्. अन्यथा 'सर्वगतत्वात् च' इति विशेषणवैयर्थ्यप्रसक्तेः.

[3] किञ्च यदि एवं न अंगीक्रियते तदा उत्कृष्टस्यैव पूज्यत्वाद् एकत्र विशिष्य अर्चतो अन्यत्र अवज्ञादावपि दोषाभावप्रसंगो, ''**अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा अवस्थितः सदा, तम् अवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुते अर्चाविडम्बनम्... अहम् उच्चावचैः द्रव्यैः क्रियया उत्पन्नया अनघे! नैव तुष्ये अर्चितो अर्चायां भूतग्रामावमानिनः... मनसा सर्वभूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्. एतेषु जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति**'' (भाग.पुरा.३।२९।२१-३४) इत्यादिजातीयानेक-पुराणवाक्य-विरोधापत्तिः च स्यात्.

[4] किञ्च ''**यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरं हित्वा अर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः**'' (भाग.पुरा.३।२९।२२) इत्यादिषु अन्यथाभजनस्य निन्दनात्, ''**यस्य आत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके**

स्वधीः कलत्रादिषु भौमे इज्यधीः यः तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिद्, जनेषु अभिज्ञेषु सएव गोखरः'' (भाग.पुरा.१०।८४।१३) इति योगेश्वरान् प्रति दशमस्कन्धीये भगवद्वाक्ये तादृशबुद्धेः पूजकस्यापि निन्दनात् च. अतः पूजा सर्वत्र समैव उचिता, नतु प्रतिमादौ विशेषण अन्यत्र न्यूनत्वेन इति.

(आरम्भदशाधिकारविचारः)

अथ आरम्भदशायाम् एवम्भावस्य अशक्यत्वाद् अशक्योपदेशत्वं विभाव्यते तदापि पुरुषेषु ब्राह्मणेषु साधुषु स्थितेः आधिक्यम् अंगीकार्यम्, ''**एकद्वित्रिचतुष्पादः बहुपादः तथा अपदो बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टाः तासां मे पौरुषी प्रिया**'' (भाग.पुरा.११।७।२२) इति एकादशे, ''**न ब्राह्मणाद् मे दयितं रूपम् एतच् चतुर्भुजं सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहं... तस्माद् ब्रह्म ऋषीन् एतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धया अर्चय. एवं चेद् अर्चितो अस्मि अद्धा न अन्यथा भूरिभूतिभिः**'' (भाग.पुरा.१०।८६।५४-५७) इति श्रुतदेवं प्रति, ''**नहि अम्मयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामयाः ते पुनन्ति उरुकालेन दर्शनादेव साधवः. भजन्ति ये यथा देवान् देवाअपि तथैव तान् छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः**'' (भाग.पुरा.१०।४८।३१.-८४।११) इति अक्रूरं प्रति च भगवद्वाक्यात्, नारदं प्रति श्रीवसुदेववाक्यात् च.

(पूर्वपक्षे सिद्धान्तिकृता आशंका)

नच *एवं सति गुरावपि इतरसाम्यापातात् तदाधिक्यबोधकानां ''**यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ तस्य एते कथिताः हि अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः**'' (श्वेता.उप.६।२३) इत्यादिश्रुतीनां, ''**गुरौ वसति यस्तु अन्यम् आश्रयेत् पूजयेत् कुधीः न तस्य क्लेशनिस्तारो वर्तते मुनिसत्तम!**'' (वरा.पुरा.५०।१७) इति, ''**तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुमेव प्रसादयेद् अभेदेन अर्चयेद् यस्तु स भक्तिफलम् आप्नुयाद्**'' (विष्णुरह. । ।) इति, ''**यत्र यत्र परीवादो मात्सर्यात् श्रूयते गुरोः तत्र-तत्र न वस्तव्यं निर्यायात्**

संस्मरन् हरिम्. यैः कृता च गुरोः निन्दा विभोः शास्त्रस्य नारद! नापि तैः सह वस्तव्यं वक्तव्यं वा कथञ्चन'' (जय.संहि.१६।३२३-३२५) इति वाराह-विष्णुरहस्य-पञ्चरात्रस्मृतीनां, ''**सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्याय''** (बृह.उप.४।४।२३) इति गुरौ आत्मसमर्पणबोधिकायाः श्रुतेः, ''**इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतं यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ''** (. । ।) इति, ''**एतावति आत्मजैः वीर! कार्या हि अपचितिः गुरौ''** (भाग.पुरा.३।१३।१०) * इति तृतीयस्कन्धोक्तेः च विरोधः शंकनीयः.

(पूर्वपक्षिणा तत्समाधानम्)

तत्र स्वोपकारकत्वोपाधिं धर्माधिक्यं च आदाय तथा बोधनात्, ''**त्वं हि नः पिता''** (प्रश्नोप.६।८) इत्यादिश्रुतेः, ''**नैव उपयन्ति अपचितिं कवयः तव ईश ब्रह्मायुषापि कृतम् ऋद्धमुदः स्मरन्तो, यो अन्तर्बहिः तनुभृताम् अशुभं विधुन्वन् आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति''** (भाग.पुरा.११।२९।६) इति एकादशे उद्धववाक्यात्, ''**ज्ञानी प्रियतमो अतो मे ज्ञानेन असौ बिभर्ति माम्''** (भाग.पुरा.११।१९।३) इति भगवद्वाक्यात् च तथा निश्चयात्. तावता स्वरूपे अतिशयासम्भवात्.

(प्रतिमापूजने श्रुतिविरोधः इति आक्षेपः)

प्रतिमापूजनन्तु असंगतमेव ''**न तस्य प्रतिमा अस्ति''** (श्वेता.उप.४।-१९) इति श्रुत्या ब्रह्मप्रतिमानिषेधात्.

(श्रुत्युक्ताधिकारस्य अनुकल्पः)

अथ इदानी पूर्वोक्ताधिकारादपि जधन्याधिकारइति अशक्योपदेशत्वम् एतस्यापि विभाव्यते तदापि शबलस्य (ब्रह्मणः) प्रतिमां स्वीकृत्य ''**शिवं भास्करम् अग्निं च केशवं कौशिकीमपि मनसा अनर्चयन् याति ब्रह्मलोकाद् अधोगतिम्''** (. । ।) इत्यादि-पञ्चायतनपूजा- विधायकवाक्यैः पञ्चस्वपि तौल्यं बोध्यम्. यत् पुनः एतदन्यतमस्य मध्ये स्थापनं तदपि

तस्य-तस्य तत्र-तत्र श्रद्धातिशयप्रयुक्तम् इति वाक्यान्तराद् अवसीयते. अन्यथा सर्वेषामेव नियमेन एकस्याएव देवतायाः मूर्तेः मध्ये स्थापनम् उक्तं स्यात्.

अतो वस्तुविचारे सर्वत्र, स्थितिविचारे अबादिषु दशषु[पा.भे.१] समस्तचेतनेषु वा, आधिक्यविचारे पुरुषेषु ब्राह्मणेषु साधुषु, आधुनिकाधिकारविचारे पञ्चायतनेषु तौल्यात्, केवल-श्रीकृष्ण-प्रतिमायामेव पूजनं न प्रामाणिकपदवीम् अधिरोढुम् अर्हति * इति प्राप्ते —

(उत्तरपक्षसंग्रहकारिका)

अत्र उच्यते

स्थानस्थित्योः समत्वेऽपि तद्धर्मादेः विचारतः ।।
गुरौ मूर्तौ विशेषोक्तेः पूजासाम्यं न युज्यते ।।३।।

(स्थानस्थित्योः साम्येऽपि न पूजासाम्यम्)

यद् आयुष्मता स्थानसाम्यम् उक्तं तत्तु ब्रह्मवादानुसारेण अनुजानीमहे, शेषेषु वादेषु यथायथं स्वल्प-तदधिकानेक-श्रुतिविरोधेन उत्तरोत्तरम् अपकर्षस्य आकरेषु सूचितत्वात्.

(तत्र मायावादेन विचारः)

तथाहि मायावादिमते : "**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते**" (बृह.उप. २।५।१९) इत्यादिवाक्याभासं, "कार्यस्य जडत्वादिना तत्कारणमपि तादृगेव अनुमातव्यम्" इति युक्त्याभासं च आश्रित्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वांगीकारेण शुक्तिरजतकल्पत्वात् (अत्यन्तम् अपकर्षात्) —

"**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**" (छान्दो.उप. ३।१४।१) "**इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा**" (बृह.उप. २।४।६) इत्यादीनां सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वबोधिकानां (विरोधात्) —

''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं'' (छान्दो.उप..६।८।७) **''सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्. यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते''** (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादीनां प्रपञ्चसत्यत्वबोधिकानां (विरोधात्) —

निर्गुणस्य उपादानत्वानंगीकारेण **''यथा, सोम्य!, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्''** (छान्दो.उप..६।१।४) इत्यादीनां कारणताप्रकारबोधिकानां (विरोधात्) —

''यतो वा इमानि...'' (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादीनां निर्गुणमेव ब्रह्म प्रकृत्य पठितानां ब्रह्मकारणत्वबोधिकानां श्रुतीनां (विरोधात्) —

तदुपबृंहणानां **''तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः''**, **''आत्मकृतेः परिणामाद्''** (ब्र.सू.२।१।१४,१।४।२६) इत्यादीनां न्यायानां (च) विरोधात् —

तथा निर्गुणमेव प्रकृत्य पठितानाम् **''एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः... विजिघत्सो अपिपासः... सत्यसंकल्पः''** (छान्दो.उप.८।१-।५) **''स वा... अयम् आत्मा सर्वस्य वशी''** (बृह.उप.४।४।२२) **''सर्वस्य ईशानः सर्वस्य अधिपतिः सर्वम् इदं प्रशास्ति''** (बृह.उप.५।६।१) इत्यादीनां (विरोधात्) —

शरीरादिदोषनिषेधमुखेन निर्दुष्टतदात्मक(श्रीविग्रहात्मक)ब्रह्मरूप-निर्दोषतद्गुण-प्रतिपादकानां सोपबृंहण(ब्र.सू.३।२।११-३०)न्यायानां (विरोधात्) —

निराकारत्वांगीकारेण उपास्यस्य कल्पितत्वांगीकारात् **''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यद् इदम् उपासते''** (केनोप.१।५-९) इत्यादीनां निर्गुणोपास्यत्वबोधकानां (विरोधात्) —

लक्ष्यत्वांगीकारेण अन्यासाञ्च (विरोधात्) —

किम्बहुना ! उपाख्यानानां काल्पनिकत्वांगीकारेण अनेकश्रुतिविरोधात् च अत्यन्तम् अपकर्षात् (तदनुसारेण साम्यं न अनुजानीमहे).

(तत्र माध्वमतेन विचारः)

भेदवादिमते च अद्वैत-समवायित्व-कारणताप्रकार-बोधकानां प्रपञ्चविशेष-मायिकत्वबोधकानां च विरोधेन, अन्यासाम् अविरोधेन, ततो अल्पापकर्षात् (न तदनुसारेणापि साम्यम् अनुजानीमहे).

(विशिष्टाद्वैतवादेन विचारः)

विशिष्टाद्वैतवादिमते च सर्वरूपत्वबोधक-श्रुत्यतिरिक्तश्रुत्यविरोधेन ततोऽपि अल्पापकर्षात् (न विशिष्टाद्वैतवादीयया प्रक्रिययापि साम्यं स्वीक्रियते).

(ब्रह्मवादीयां प्रक्रियाम् अनुसृत्य साम्यस्वीकृतिः)

ब्रह्मवादेतु ब्रह्मणः उभयव्यपदेशाधिकरण(ब्र.सू. ३।२।२७)न्यायेन विरुद्ध-धर्माश्रयतया अचिन्त्यानन्तमहिमत्वेन कस्याअपि श्रुतेः विरोधाभावेन सर्वतः उत्कर्षात् तदनुसरणस्यैव औचित्यात्.

तथैव अन्तर्यामि-ब्राह्मणा(बृह.उप. ३।४-७)द्यनुरोधेन स्थितिसाम्यमपि अनुजानीमहे.

यत् पुनः सर्वत्र पूजासाम्यं भवता प्रतिपादितं तत्तु न मृष्यामहे, पूजायाः तत्तन्मतभेदेन भगवद्भक्ति-भगवत्तोष-चित्तशुद्धि-कारणत्वाद, यथाशास्त्रं तत्करणएव ततः फलसिद्धेः निश्चये पूर्वोक्तवाक्येषु पुरुषादौ भगवत्प्रियत्वोपाधेः आधिक्यात् , श्रुतदेवं प्रति वाक्ये च ब्रह्मर्षिपूजायाः स्वपूजा-साफल्य-फलकता-बोधनाद्, इदानीं भगवदागमनादिना तत्पूर्वोत्तरपूजयोः प्रतिमादि-विषयकत्वस्यैव सिद्ध्या तदाधिक्यस्यैव लाभाद्, अक्रूरं प्रति वाक्ये शीघ्रफलकत्वोपाधेः नारदं प्रतिवाक्ये च दीनवत्सलत्वोपाधेः आधिक्याद्, गुरौ आधिक्यस्य भवतैव उपपादितत्वात् च. तथा "**सूर्येतु विद्यया त्रय्या, हविषा अग्नौ**

यजेत माम्, आतिथ्येनतु विप्राग्र्ये, गोषु, अंग!, यवसादिना, वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या, हृदि खे ध्याननिष्ठया, वायौ मुख्यधिया, तोये द्रव्यैः तोयपुरस्कृतैः, स्थण्डिले मन्त्रहृदयैः, भोगैः आत्मानम् आत्मनि, क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन, यजेत माम्'' (भाग.पुरा.११।११।४३-४५) इति तत्र-तत्र प्रकारबोधनेन वस्तुस्थितिसाम्ययोः पूजायाः साम्याप्रयोजकत्वस्य सिद्धत्वात्, तादृशबुद्धिमात्रेणैव अवज्ञादिदोषपरिहारसिद्धौ तेषामपि पूजासाम्याप्रसञ्जकत्वात् च.

(गुरोः प्रतिमायाः च पूजने विशेषः)

एवं पूर्वोक्तहेतूनाम् अन्यथासिद्धत्वे पूर्वोक्तप्रमाणसिद्ध-प्रियत्वोपकार-कत्वादि-विचारेण गुरौ प्रतिमायां च विशेषतः पूजा कार्यैव.

नच प्रतिमास्थले विप्रतिपत्तव्यं ''**न तस्य प्रतिमा अस्ति**'' (श्वेता.उप.४।१९) इति श्रुतेः साम्यनिषेधपरत्वात्, ''**न तस्य ईशे कश्चन तस्य नाम महद् यशः**'' (म.ना.उप.१।१०) ''**न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते**'' (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्यन्तरेण तथा निर्णयात्. वैशम्पायनसहस्रनाम(३५५)व्याख्यायां शंकराचार्यैरपि तथा व्याख्यानात्, गुणातीतस्य साकारतायाः ''**कृत्स्नः प्रज्ञानघन**'' (बृह.उप.४।५।१३) इति श्रुतौ 'कृत्स्न'पदान्यथानुपपत्त्या प्रथमएव वादे साधितत्वात्. ''**शिलाबुद्धिः न कार्या च तत्र नारद कर्हिचिद् ज्ञानानन्दात्मको विष्णुः यत्र तिष्ठति अचिन्त्यकृत्. तीर्थक्षेत्रस्थिते विष्णौ शिलाबुद्धिं करोति यः स याति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम्. अत्र सामान्यतो मूढा हैतुकाः पापबुद्धयः प्रतिमा इति विकल्पन्ते दृष्ट्वा आनन्दात्कं वपुः**'' (स्क.पु. । ।) इति स्कान्द-सह्याद्रिखण्डोत्तरसंहितास्थ-पाण्डुरंगमाहात्म्य-वचनादपि तन्निर्णयात्. उत्कलखण्डे च पुरुषोत्तममाहात्म्ये ''**अदो यद् दारु प्लवते**'' (ऋक्संहि.१०।१५५।३) इति मन्त्रस्य दारुब्रह्मपरत्वेन व्यासचरणैः, वेदभाष्ये च विद्यारण्यस्वाभिमिः व्याख्यानात्. वायवीया(वायुपुरा.१०६।६६)दिषु गयामाहात्म्ये गदाधरजनार्दनादिस्वरूपाणाम् अनुभवसाक्षिकस्य माहात्म्यस्य दर्शनात् च. नच *अनादिसिद्धासु देवादिकृतासु च न विप्रतिपद्यामहे

वाचनिकत्वात्; तावता कथं सर्वत्र अविप्रतिपत्तिः* इति शङ्क्यम्, एकादशस्कन्धे सर्वत्रैव अविशेषेण तथा प्रतिपादनात्, "**महापुरुषम् अभ्यर्चेद् मूर्त्या अभिमतया आत्मनः**" (भाग.पुरा.११।३।४८) इति जनकं प्रति योगेश्वरवाक्यात्. सप्तविंशाध्याये भगवतापि निःश्रेयसार्थं महता प्रबन्धेन तद्विस्तारभूतस्य प्रतिमापूजनरूपक्रियायोगस्यैव उपासकार्थं प्रतिपादनात्. तत्र "**मदर्चां सम्प्रतिष्ठाप्य**" (भाग.पुरा.११।२७।१३) "**उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायाम् उद्धव! अर्चने. अस्थिरायां विकल्पः स्यात्, स्थण्डिले तु भवेद् द्वयम्**" (भाग.पुरा.११।२७।१३) इत्यादि-वाक्य-दर्शनेन अनादिप्रतिमायाः वक्तुम् अशक्यत्वात्. एकादशे अध्याये "**भक्तिः त्वयि उपयुज्येत कीदृशी सद्भिः आदृता**" (भाग.पुरा.११।११।२६) इति सदादृतायाः भगवदुपयोगिन्याः भक्तेः प्रश्ने, "**मल्लिंगमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम्**" (भाग.पुरा.११।११।-३४) इत्यादिना "**गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिः मद्गृहोत्सवो यात्राबलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणं मम अर्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य च उद्यमः. उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः. गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया. अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्याद् निवेदितम्. यद्यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियम् आत्मनः तत्तद् निवेदयेद् मह्यं तद् आनन्त्याय कल्पते**" (भाग.पुरा.११।११।३६-४१) इत्यन्तैः तस्याएव भक्तार्थमपि महता प्रपञ्चेन कथनात्. अष्टाविंशे अध्याये ब्रह्मवादे सम्यक् प्रतिपादिते तदनुगुणजडचर्यायाः साम्यबुद्धो च अनधिकारं बुद्ध्वा ऊनत्रिंशे श्रीमदुद्धवेन उपायान्तरे पृष्टे "**हन्त ते कथयिष्यामि**" (भाग.पुरा.११।२९।८) इत्यादिना पुनः तस्याएव उक्तेः च.

अतो भक्तोपासकज्ञानिभेदेन त्रिविधानामपि अधिकारिणाम् अर्थे तस्याएव उक्तत्वात् तत्र अनादिप्रतिमा-प्रतिपादक-पदवाक्याभावाद् अविशेषस्यैव प्रतीतेः न शंकालेशोऽपि.

(प्रतिमाशालग्रामपूजनयोः तारतम्यविचारः)

*ननु प्रतिमासु भगवतो न अन्तर्यामिरूपेण स्थितिः अन्तर्यामिब्राह्मणे

शरीरत्वेन तदगणनात्, नवा जीवरूपेण चैतन्यादर्शनात्, नापि विभूतिरूपेण, तास्वपि असंख्यानात्. नच *"नान्तो अस्ति मम दिव्यानाम्" (भग.गीता.१०।४०) इति वाक्याद् असंख्यानेऽपि अदोषः* इति वाच्यं, विभूतिप्रसिद्ध्यभावात् तथापि "**प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ**" (भग.गीता.१०।१९) इति वाक्यात् तासु प्राधान्याभावेन अप्रयोजकत्वात् च. किन्तु सन्निधानापरपर्याया वह्नेः अयसीव आवेशरूपा वाच्या सापि न सार्वदिकी प्रतिष्ठावाहनादि-बोधकशास्त्र-वैयर्थ्यापत्तेः. "**खण्डिते स्फुटिते दग्धे भ्रष्टे मानविवर्जिते यागहीने पशुस्पृष्टे पतिते दुष्टभूमिषु अन्यमन्त्रार्चिते चैव पतितस्पर्शदूषिते, दशसु एतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौकसः**" (ब्रह्मपुरा. । ।) इति ब्राह्मे निमित्तवशाद् असन्निधानस्यापि उक्तत्वात्, "**खण्डिता स्फुटिता दग्धा यस्माद् अर्चा भयावहा तस्मात् समुद्धरेत् तान्तु पूर्वोक्तविधिना नरः**" (. ।) इति पञ्चरात्रे जीर्णोद्धारस्यापि उक्तत्वात् च. "**दशपञ्चांगुला मुख्या, मध्यमा द्वादशांगुला, अष्टांगुला अधमा प्रोक्ता, न्यूनाधिक्यं न कारयेत्. प्रतिष्ठा विफला तस्य पूजनं तस्य निष्फलम्. मानांगुलिविहीनातु प्रतिमा यत्र तिष्ठति**" (. ।) इति गौतमीयतन्त्रे लक्षणवैकल्येऽपि प्रतिष्ठावैफल्यकथनात् च. एवं सति प्रतिमापेक्षया शालग्रामादिपूजनमेव ज्यायः नित्यसन्निधानाद्* इति चेत्, न, प्रतिमायामपि तौल्यात्. विष्णुधर्मोत्तरतृतीय-काण्डे आवाहनप्रयोजनाध्याये "**विष्णुः सर्वगतो देवो महद्भ्योऽपि महत्तरः, सूक्ष्मेभ्यः च अतिसूक्ष्मस्तु सर्वव्यापी जगन्मयो, नास्ति किञ्चिद् जगति अस्मिन् यत्र नास्ति जनार्दनः. सदसच्च महाभाग! तेन व्याप्तं महात्मना, आवाहनेन किं कार्यं तस्य सर्वगतस्य तु!**" (वि.ध.पुरा.३।१०८।३-५) इति राज्ञा वज्रेण पृष्टे "**आवाहनम् अथ अत्रापि क्रियते यद् जगत्पतेः नित्यसन्निहितस्यापि सर्वत्र परमेष्ठिनः केवलं कारणं तत्र स्वमनस्तुष्टिकारणम् आवाहितो मया देवः तत्र सन्निहितोऽपि च**" (वि.ध.पुरा.३।१०८।१५-१६) इति मार्कण्डेयेन तथा निर्णीतत्वात्. नच *प्रतिष्ठावाहनादि-बोधक-शास्त्र-वैयर्थ्यापत्तिः मन्दमध्यमान् उपासकान् च प्रति बौद्धसन्निधानार्थत्वेन सार्थक्यात्. एवमेव खण्डितत्वादीनाम् असन्निधायकत्वाभावेऽपि जीर्णोद्धारबोधकस्य "**खण्डिता स्फुटिता दग्धा यस्माद् अर्चा भयावहा तस्मात् समुद्धरेत् तान्तु**

पूर्वोक्तविधिना नरः'' (. ।   ) इति पञ्चरात्रस्मरणस्यापि तान् प्रत्येव सार्थकत्वं ज्ञेयं, **''खण्डिता स्फुटिता''** (तत्रैव) इति वाक्ये 'दिवौकः'पद-बहुवचनाभ्यां भगवद्व्यतिरिक्तविषयत्वनिश्चयात् च.

*ननु एवं सति **''यः शूद्रस्थापितं लिंगं विष्णुं वा विनमेद् द्विजः स याति नरकं घोरं यावदाभूतसम्प्लवम्''** (स्क.पु. । ।) **''यः शूद्रेण अर्चितं लिंगं विष्णुं वा विनमेद् नरः न तस्य निष्कृतिः दृष्टा प्रायश्चित्तायुतैरपि''** (. ।   ) इति, **''नमेद् यः शूद्रसंस्पृष्टं लिंगं वा हरिमेव वा स सर्वयातनाभोगी यावदाचन्द्रतारकम्''** (नार.पुरा. - । ।) इति स्कान्द-नारदीयादि-वाक्येषु शूद्रकृत-स्थापनार्चनस्पर्शादौ नमने दोषबोधनस्य का गतिः* इति चेद्, न, उक्तैव. नच *अत्र विनिगमकाभावः शङ्क्यो, ज्ञानाधिकारिणः सर्वत्र भगवद्भावं हृदिकृत्वैव विष्णुधर्मोत्तर-प्रश्नोत्तर-वाक्ययोः 'सर्वगत'-'नित्यसन्निहित'-पदकथनात्.

(सर्वत्र भगवत्सन्निधिसाम्येऽपि प्रतिमायां कश्चन विशेषः)

ननु एवं सति सर्वत्र तौल्यात् प्रतिमायां को विशेषः इति चेत्, न, नृसिंहरूपेण प्रह्लादमिव जगन्नाथरूपेण इन्द्रद्युम्नादीनिव, ''एनम् अनेन रूपेण उद्धरिष्यामि'' इति इच्छया प्रादुर्भूतत्वमेव विशेषं जानीहि. नच *अत्र शिल्पिक्रियापि व्याप्रियते* इति कथम् इच्छाकारो अवधेयः* इति शङ्क्यं श्रीजगन्नाथदृष्टान्तेनैव तस्याअपि प्रकारविशेषतया इच्छाशरीरप्रवेशस्य साधितत्वेन दत्तोत्तरत्वात्. नच *अत्र तथा इच्छाकारे मानाभावः* शङ्क्यः, ऊनत्रिंशाध्यायस्थ-सन्दर्भ-सिद्धत्वात्. **''येन अञ्जसा पुमान् सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूहि अञ्जसा अच्युत!''** (भाग.पुरा.११।२९।१) इति प्रश्नोत्तरत्वेन स्वधर्मात्मकपूजनस्य अनुवादेन तथा निश्चयात्. *ननु अम्ब्वग्नि-सूर्यगोब्राह्मणानां हिरण्यस्य च साधारण्याद् मास्तु उक्तो विशेषः स्थण्डिलेऽपि बहूपचारानुक्तेः मा अस्तु सः; तथापि, शालग्राम-चक्रांक-पट-मुद्रासु आधिक्यस्य शक्यवचनत्वात्, हृदये च ध्याननिष्ठया सर्वेषाम् उपचाराणां कर्तुं शक्यत्वाद्, ध्यानस्य च ज्ञानत्वेन, ज्ञानसमानाकारत्वेन वा ज्ञानकोटिपातित्वात्, **''श्रेयान्**

द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ज्ञानयज्ञः परन्तप!'' (भग.गीता.४।३३) इत्यनेन तत्स्तुतेः च. शालग्रामादौ वा द्रव्येण, हृदि वा ध्यानेन, पूजा कार्या नतु प्रतिमायामेव इति आग्रहः कार्यः* इति चेद्, मा एवं, ज्ञानयज्ञस्य श्रेयस्त्वेऽपि अत्र तथात्वाभावात्. अञ्जसा सिद्ध्यर्थं द्रव्ययज्ञस्यैव अत्र उक्तत्वात्. **''पृथक्सत्रेण वा मद्व्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् कारयेद् नृत्यगीताद्यैः महाराजविभूतिभिः''** (भाग.पुरा.११।२९।११) इत्यादिवाक्यैः तथा निश्चयात्. हृदयेऽपि मनोमयीं प्रतिमां कृत्वैव तत्करणे तस्याः आवश्यकत्वात् च. शालग्रामादिषु असाधारणत्वस्य शक्यवचनत्वेऽपि भगवता तदनुक्तेः, नानावासोऽलंकारोपचाराणाम् अशक्यत्वाद्, यथाकथञ्चित् करणेऽपि तत्तत्प्रदेशेषु तस्य-तस्य अदर्शनेन तथा अंगीकारबुद्ध्यनुदयात्, साकारस्य परब्रह्मणः तत्र ध्यानसौकर्याभावात् प्रतिकृतौ च तस्य सौकर्याद्; वह्निवद् आवेशेन बहिः तत्तदवयवानां सत्त्वे तेषु साक्षादेव तत्तदुपयोगाद्, भगवता तदुक्तेः च तदाग्रहस्यैव औचित्यात्.

(प्रतिमापूजनस्य अल्पबुद्ध्यधिकारककर्मत्वविचारः)

ननु अस्तु एवं, तथापि अल्पबुद्ध्यधिकारत्वमेव तस्य इति चेत्, किं तावता? अपकर्षएव इति चेद्, न, महारोगग्रस्त-स्वास्थ्यसम्पादकरुच्युत्पादकौषधवद् अल्पबुद्धीनामपि फलसाधकत्वेन सुकरत्वेन च उत्कर्षस्यैव सिद्धेः. **''पूजनं प्रतिमायां तूत्तमं परिकीर्तितम्''** (वि.ध.पुरा. । ।) इति कालनिर्णयदीपिकास्थ-विष्णुधर्मवाक्ये उत्तमत्वस्य कण्ठतएव उक्तेः, **''प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेद् यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः. अशक्तौ विस्तरेणैव प्रातः संपूज्य केशवं मध्याह्ने चैव सायं च पुष्पाञ्जलिमपि क्षिपेत्. मध्याह्ने च विस्तरेण संक्षेपेण अथवा हरिं संपूज्य भोजनं कुर्याद् अन्यथा नरकं व्रजेद्''** (नार.पुरा. । ।) इति तत्रैव नारदीये कर्मिणामपि (कृते) नित्यत्वोक्तेः च. नच *इदम् अवैदिकपरम्* इति वाच्यं विनिगमकाभावात्. स्मृत्यर्थसारे **''नित्यं सन्ति''** (स्मृ.सा. ।) इति वाक्योत्तरं **''पौरुषेण च सूक्तेन गायत्र्या प्रणवेन वा तल्लिंगैरेव वा मन्त्रैः अर्चयेद् गुर्वनुज्ञया''** (स्मृ.सा. ।) इति वाक्ये वैदिकत्वस्यैव स्फुटीभावात् च. नच *नित्यस्य प्रत्यवाय-प्रागभाव-

परिपालन-मात्रार्थत्वात् कर्मिणः प्रति पूर्वोक्तदृष्टान्तो न युज्यते* इति शंक्यं ''**श्रुतिस्मृती ममैव आज्ञे**'' (. ।) इति वाक्याद् विधेः नियोगार्थतायाएव औचित्यात्. तदकरणे राजदण्डवत् प्रत्यवायस्य तत्करणे तद्वदेव फलवत्त्वस्य शक्यवचनत्वेन नित्यस्य तावन्मात्रार्थतायाः अप्रयोजकत्वात्. अन्यथा यावज्जीवाधिकारकाग्निहोत्रादौ स्वर्गाद्यभाव-प्रसक्तेः तद्बोधक-'स्वर्गकामा'दिपद-वैयर्थ्यप्रसक्तेः च.

नच *''**यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरं हित्वा अर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः**'' (भाग.पुरा.३।२९।२२) इत्यादितृतीय-स्कन्धोक्त-निन्दायाः निर्विषयत्वापत्तिः* इति वाच्यं ''**अर्चादौ अर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः**'' (भाग.पुरा.३।२९।९) इत्यादिजातीय-वाक्योक्त- पृथग्भाव-पूजायां सावकाशत्वात्, प्रकरणेन वाक्यस्य अवरुद्धत्वात्. तत्र ''**भक्तियोगो बहुविधो मार्गैः भामिनि! भाव्यते स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते**'' (भाग.पुरा.३।२९।७) इति उपक्रमे भक्तिमार्गस्य नानात्वं प्रतिज्ञाय ''**अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा**'' (भाग.पुरा.३।२९।८) इत्यादित्रिभिः नवविधसगुणभक्तेरेव निरूपणात्, 'मौढ्याद्' इति विशेषणेन अप्रामाणिक्यामेव तथात्वव्यञ्जनात् च. अन्यथा ''**अर्चादौ अर्चयेत् तावद् ईश्वरं मां स्वकर्मकृद् यावद् न वेद स्वहृदि सर्वभूतेषु अवस्थितम्**'' (भाग.पुरा. ३।२९।२५) इति कालनियमवैयर्थ्यप्रसक्तेः च.

एतेनैव ''**अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धया ईहते न तद्भक्तेषु च अन्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः**'' (भाग.पुरा.११।२।४७) इत्यपि व्याख्यातं ज्ञेयम्, एकत्र पूजाकरणेन अन्यत्र तदज्ञानेन अज्ञानित्वस्य अर्चा-हर्योः भेदनिर्देशेन, पातिव्रत्यधर्मभिन्नत्वस्य च स्फुटीकरणेन पृथग्भावत्वस्य तत्र बोधनात्. तथैव ''**गोखरः...**'' (भाग.पुरा.१०।८४।१३) इति वाक्येऽपि देहात्मबुद्ध्यादिभिः अनभिज्ञत्वस्यैव बोधनात् न कोऽपि शंकालेशः.

(ज्ञानाधिकृतविचारेण प्रतिमापूजनोपपत्तिः)

इदमपि कर्माधिकृतविचारेण उक्तं ज्ञानाधिकृतविचारेतु ''**चतुर्विधा भजन्ते माम्**'' (भग.गीता.७।१६) इत्यत्र चतुर्णां सुकृतित्वकथनात्. तत्रापि जिज्ञासोः पूर्वं ज्ञानार्थं पश्चात् च जाते ज्ञाने अतिशयेन भजनात्. प्रकृतेच ''**तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्**'' (भाग.पुरा.११।३।२१) इति ''**अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिम् उपाव्रजेद्**'' (भाग.पुरा.११।१८।३८) इति योगीश्वरैः भगवता च उपक्रमे तादृशस्यैव अधिक्रियमाणत्वात् न निकर्षसम्भावनापि, ''**यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते तावद् एवम् उपासीत मनोवाक्कायवृत्तिभिः**'' (भाग.पुरा.११।२९।१७) इति भगवता सर्वत्र ब्रह्मभावोदयावधि अस्यैव आवश्यकत्वकथनात् च. नच अग्रे त्यागप्राप्त्या निकर्षः इति वाच्यं, साधनान्तरेऽपि तौल्यात्. प्राप्ते फले साधनमात्रस्यैव त्यागात्.

(विवक्षितभक्त्यधिकृतविचारेण तदुपपादनम्)

विवक्षितभक्त्यधिकृतविचारेतु सुतरां न तत्सम्भावना ''**मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिः अविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसो अम्बुधौ लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्यापि उदाहृतम्. सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वम् अप्युत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, सएव 'भक्तियोगा'ख्य आत्यन्तिक उदाहृतो येन अतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावाय उपपद्यते**'' (भाग.पुरा.३।२९।११-१४) इति लक्षणकभक्तिद्वयान्यतरार्थिनामपि ''**निषेविता अनिमित्तेन**'' (भाग.पुरा.३।२९।१५) इत्यादिना उच्यमानेषु ''**मद्धिष्ण्यदर्शन-स्पर्श-पूजास्तुत्यभिवादनैः भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेन असंगमेन च**'' (भाग.पुरा.३।२९।१६) इत्यन्तेन तृतीयस्कन्धेऽपि धिष्ण्यपूजादीनामेव उक्तत्वात्. ऊनविंशे अध्याये ''**पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम्**'' (भाग.पुरा.११।१९।१९) इति उपक्रम्य ''**श्रद्धा अमृतकथायां मे शश्वन् मदनुकीर्तनं परिनिष्ठातु पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम आदरः परिचर्यायाम्**'' (भाग.पुरा.११।१९।२०-२१) इत्यादिना ''**एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धव! आत्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्तिः. को अन्यो अर्थो अस्य**

अवशिष्यते'' (भाग.पुरा.११।१९।२४) इत्यन्तेन पूर्वोक्त-मुख्यभक्तियोग-कारणत्वेन अस्यैव उक्तत्वात्. तादृशस्य ''**तस्मान् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह**'' (भाग.पुरा.११।२१।३१) इति एकादशे भगवद्वाक्येन ज्ञानस्य उपेक्षणीयत्वात् च अल्पबुद्ध्यधिकारस्य अदृष्टत्वात्.

नच एकादशोक्तपूजायां 'निर्गुणा'दिपदाभावात् न निर्गुणत्वम् इति शङ्क्यं ''**वनन्तु सात्त्विको वासो, ग्रामो राजस उच्यते, तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्**'' (भाग.पुरा.११।२५।२५) इति स्वस्थाने निर्गुणत्वकथनेन सर्वगतस्य प्रतिमादिस्थितिं विना एकत्र निकेतस्य वक्तुं अशक्यत्वेन तदधिष्ठितमन्दिरत्वादेव निर्गुणत्वे तत्सम्बन्धिपूजायाअपि निर्गुणत्वस्य अर्थादेव सिद्धत्वात्. अग्रिमे ''**मत्सेवायान्तु निर्गुणा**'' (भाग.पुरा.११।२५।२७) इति सेवाविषयकश्रद्धायाअपि निर्गुणत्वोक्तेः च. अतो '**अल्पबुद्धीनाम्**' इत्यत्र गड्वादिसमासे (पाणि.सू.वार्ति.२।२।३५) अन्यस्मिन् वा व्यधिकरणपदे दोषो नतु समानाधिकरणबहुब्रीहौ इति निश्चयः. *ननु भवतु एवं तथापि आधुनिकानाम् एवम्भावाभावात् कथं गुणातीतत्वं शक्यवचनं तथा सति अस्त्येव दोषः* इति चेत्, सत्यम् अस्ति परन्तु उपदेशाननुसरणे नतु तदनुसरणेऽपि. ''**अहरहः सन्ध्याम् उपासीत**'' इति विधिम् अजानतापि बालेन पित्रादेः शिक्षया कृतस्य सन्ध्यावन्दनादेः वैधत्ववद् उपदेशानुसारेण तत्करणे भक्तिमार्गीयप्रथमसोपानत्वेन अदोषात्. अतः पूजा-तदधिकारिणोः विवक्षितस्वरूपविचारे कथञ्चिदपि न निकर्षसम्भावना इति दिक्.

(श्रीकृष्णप्रतिमापूजने वैशिष्ट्यम्)

ननु एवम् अस्तु, तथापि परमात्मावेशस्य प्रतिमान्तरेऽपि तौल्यात् श्रीकृष्णप्रतिकृतावेव आग्रहे बीजं न पश्यामः इति चेद्, अत्रापि वदामः :

सर्वासु प्रतिमासु परमात्मावेशो न एकेन रूपेण. तथा सति नानालिङ्गकप्रतिष्ठामन्त्रादीनां नानाकाराणां च वैयर्थ्यापत्तेः किन्तु ''**यद् एकम्**

अव्यक्तम् अनन्तरूपम्'' (महा.नारा.उप.१।५) इति श्रुत्या ''**सहस्रपादेकमूर्धा-**'' (अथ.शिर.उप.६) ''**विश्वतश्चक्षुः**'' (महा.नारा.उप.२।२) ''**नृकेसरिवि-ग्रहं**'' (नृसिं.पू.ता.उप.१।६) ''**गोपरूपो हरिः साक्षाद्**'' (कृष्णोप.१०) इत्यादिषु नानारूपश्रावणेन च तासु-तासु मूर्तिषु तेन-तेन रूपेण आवेशः इति निश्चीयते. तत्तदुपासनोत्कट्ये तत्र-तत्र तत्तत्साक्षात्कारेण च रूपाणि च न सर्वाणि तुल्यानि, ''**यो यो यां यां तनुं भक्तः**'' (भग.गीता.७।२१) इत्यादिना फलपर्यन्तबोधकेन वाक्यत्रयेण तथा निश्चयात्. तत्र ''**अथर्वशिरः शिखाध्यायिशतम् एकम् एकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समम्**'' (नृसिं.पू.उप.८।१) इति नृसिंहपूर्वतापनीये विद्यावदुत्कर्षमुखेन तद्विद्याप्रतिपाद्यरूपस्य शिवरूपतः उत्कर्षाद्; भास्कराग्न्योश्च ब्रह्मपुराणे ''**अन्यदेवेषु या भक्तिः**'' (ब्रह्मपुरा. । ।) इत्यादिना शिवाद् अपकर्षप्रतिपादनात्, गणपतिताप-नीये ''**अवेहि मां भार्गव वक्रतुण्डम् अनाथनाथं त्रिगुणात्मकं शिवम्**'' (गण.पू.ता.उप.१।५) इति त्रिगुणात्मकत्वकथनात्. शक्तेः त्रिगुणात्मकत्वस्य सुन्दरीतापनीय-मार्कण्डेयपुराणादिषु सुप्रसिद्धत्वात्, तन्मूर्तिषु तादृग्रूपेण. ''**कृष्णो अयं कामदेवो अयं वरेण्यं भर्ग उच्यते**'' (. ।) इत्याद्युक्तविष्णुब्रह्मरू-पस्यापि प्रकृतौ संक्रात्या शबलत्वात् तादृग्रूपेण श्रीमूर्तावपि चिच्छक्तिरूपेणैव आवेशः. तथा कल्पभेदेन शुद्धभगवदतारविचारेऽपि श्रीभागवते पुरुषावतारम् उपक्रम्य ''**आद्यो अवतारो यत्र असौ भूतग्रामो विभाव्यते.**'' (भाग.पुरा.३।६।८) ''**एतन्नानावताराणां निधानं बीजम् अव्ययम्**'' (भाग.पुरा.१।३।५) इत्यादिना ''**एते च अंशकलाः पुंसः**'' (भाग.पुरा.१।३।२८) इति पुरुषांशत्वकथनात् च द्व्यन्तरितएव आवेशः. तथा ''**रामकृष्णौ इति भुवो भगवान् अहरद् भरम्**'' (भाग.पुरा.१।३।२३) ''**वृष्णीनां वासुदेवो अस्मि**'' (भग.गीता.१०।३७) ''**वासुदेवो भगवताम्**'' (भाग.पुरा.११।१६।-२९) इत्यादिषु उच्यतइति अवतारविचारे कृष्णावतारेऽपि द्व्यन्तरितएव. अतो यो गीताद्युपदेशकर्ता अक्षरादपि उत्तमः ''**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**'' (भाग.पुरा.१।३।२८) इत्यनेन उक्तः तापनीये च तुरीयातीतत्वेन उक्तः सएव भक्तोद्धाराय प्रकटो यत्र आविशति तत्र अनन्तरितः. एवं सति ''**अवताराणां मध्ये श्रेष्ठो अवतारः को भविता**'' (गोपा.उ.ता.उप.१०)

इत्यादिप्रश्नोत्तराभ्यां गोपालतापनीये कृष्णावतारएव श्रेष्ठ्यप्रतिपादनात् तद्रूपप्रतिकृतावेन भगवान् आविशति; भवति च सुबोधइति एतावदेव तत्प्रतिकृत्याग्रहे बीजम् इति जानीहि.

वस्तुतस्तु तस्याः स्वरूपानतिरिक्ततत्वाद् भगवतो विभुत्वात् च, प्रभोः तत्र भावनासौकर्यात् तत्सहकृतया भक्त्या तदनुग्रहाय शीघ्रम् आविर्भावइति गुराविव अत्रापि उपकारकत्वमेव बीजम्.

एवञ्च "**स मानसीन आत्मा जनानाम्**" (तैत्ति.आर.३।११।१) इति श्रुत्या मनःसम्बन्धेच भावौत्कट्ये "**रसो वै सः...**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्युक्त-रसरूपो यथा मनसि आविर्भवति तथा बहिरपि तत्र. नच वैयधिकरण्यात् तदनुपपत्तिः शङ्क्या, चन्द्रोदयेन सागरोत्तरलत्ववद् उपपत्तेः. ततोऽपि भावौत्कट्येन विगाढसर्वात्मभावे "**सएव अधस्ताद्**" (छान्दो.उप.७।-२५।१) इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या व्रजभक्तानामिव सर्वत्रइति न किञ्चिद् अनुपपन्नम् इति सहृदयैः विभावनीयम्.

एवं सति "**यथा तरोः मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोऽपि शाखाः प्राणोपहाराः च यथा इन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणम् अच्युतेज्या**" (भाग.पुरा.४।३१।१४) इति एकादशस्कन्धे "**यथाहि स्कन्धशाखानां तरोः मूलनिषेचनम् एवम् आराधनं विष्णोः सर्वेषाम् आत्मनः च हि**" (भाग.पुरा.८।५।४९) इति अष्टमस्कन्धे पञ्चमाध्याये च उक्तत्वाद् भगवति पूजिते सर्वे पूजिताः भवन्तीति अनन्यैः तत्पूजनमेव कार्यम् इति सिद्धम्. यत् पुनः शीघ्रपावनत्व-दीनवत्सलत्वाद्युपाधिना साधुषु आधिक्यं तदपि एकादशस्कन्धोक्त-साधुलक्षणविचारे भगवद्भक्तेष्वेव पर्यवस्यति. तत्रच "**मद्भक्तपूजा अभ्यधिका**" (भाग.पुरा.११।१९।२१) इत्यनेन पूजाधिक्यं भगवतापि उक्तं तदपि स्वपूजापरिकरत्वेन नतु स्वतन्त्रतया तादृग्भिः च भगवत्पूजैव उपदिश्यते, यथा योगेश्वरैः जनकाय.

(निष्कर्षः)

अतः एवं विचारेऽपि गुर्वाज्ञानुसारेण सैव करणीया फलतीति पूर्वोक्तं

सर्वम् अविवादम् इति शुभम्.

इत्येकादशसिद्धा गूढा या सर्वनिर्णये सौक्ष्म्यात्:।।
स्वाचार्यचरणकृपया रीतिर्विशिदीकृताऽस्माभिः।।४।।

इति श्रीवल्लभाचार्य-मतवर्ति-श्रीपीताम्बर-तनुज-पुरुषोत्तम-
विरचितो भगवत्प्रतिपूजनवादः पञ्चदशः[पा.भे.२*]
सम्पूर्णताम् अगात्

पाठभेदतालिका

१.दशसु इति **मु** पाठे नास्ति. २.**ग ङ** पाठानुरोधात् पञ्चदशत्वोक्तिः.

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

षोडशः

।। ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

श्रीकृष्णसेवनरसैः तिरस्कृतरसान्तरान् ।।
तदेकभावनपरान् ऊर्ध्वपुण्ड्रधरान् नुमः ।।१।।

(भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रयोः सकलब्रह्मविद्यांगत्वमिति वादेन पूर्वपक्षः)

(अथर्वशीर्षोपनिषद्बृहज्जाबालवाक्यतः ।।
त्रिपुण्ड्रं भस्मना नित्यं ब्रह्मविद्यांगमेव हि ।।२।।)

*ननु इदम् अहृदयंगमम्, "'**अग्नि....**' इत्यादिना **भस्म गृहीत्वा विमृज्य अंगानि संस्पृशेद्**" (अथ.शिर.उप.५) इति प्रकारकस्य[पा.भे.१] "**व्रतम् एतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय**" (अथ.शिर.उप.५) इति अथर्वशिरसि श्रावितस्य भस्मोद्धूलनस्य पाशुपतविद्या-प्रकरणाम्नातत्वेन तदवरुद्धत्वेऽपि, यथा उपनयनम् अध्ययन-विध्येकतापन्न-विधिविहितत्वाद् अध्ययनांग सद् अधिकारापादकत्वेन सर्वकर्मार्थम्, एवं पाशुपत-विद्यांगमपि भस्मोद्धूलनं चित्तशुद्ध्यापादकत्वेन सकलब्रह्मविद्यांगम् इति अप्पयदीक्षितैः[१] महता प्रपञ्चेन व्यवस्थापितम्. अतः तदपेक्षया ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणस्य आधिक्याभावात्* इति चेत्,

---

[१]सर्वास्वपि मातृकासु 'भट्टोजिदीक्षितैः' इति पाठः उपलभ्यते. ग्रन्थनामानुल्लेखात् परं न वक्तुं शक्यं कुत्र तैः एतन्निरूपणं कृतम्. भट्टोजिदीक्षिताध्यापकैः अप्पयदीक्षितैस्तु वादनक्षत्रमालायां *भस्मोद्धूलनत्रिपुण्ड्रयोः सकलब्रह्मविद्यांगत्वसमर्थनवादे* (२२तमे) श्रीकण्ठभाष्ये (ब्र.सू.३।३।३) शिवार्कमणिदीपिकाख्यायां व्याख्यायां च सर्वोऽपि अयं विषयो विमृष्टः. सर्वेऽपि पूर्वपक्षाः ततएव उद्धृताः च इहेति अनुलिपिकर्तुः प्रमादेन 'अप्पयः'एव 'भट्टोजिः' जातः इति प्रतिभाति. (गो.श्या.म..).

(त्रिपुण्ड्रस्य सकलब्रह्मविद्यांगतायाः निरसनम्)

(उपास्तिरीतिवैविध्यात् शैववैष्णवभेदतः ।।
पुण्ड्रयोरुभयोर्ज्ञेयं कर्तव्यत्वं नचान्यथा ।।३।।)

मा एवं तस्य सकलब्रह्मविद्यांग-चित्तशुद्ध्यापादकत्वे मानाभावात्.

नच * **''पापं नाशयते कृत्स्नमपि जन्मशतार्जितम्''** (बृह.जाबा.उप.४।-३२) इति जाबालश्रुतिरेव मानम् * इति वाच्यं, पापनाशमात्रस्यैव अत्र श्रावणेन तस्य चित्तशुद्धिजनकतायाः अश्रुतत्वात्. **''अन्तःकरणशुद्धाः ये तान् विभूतिः पवित्रयेत् पावनाः किं प्रकीर्त्यन्ते रासभाः भस्मधुसराः''** (स्क.पु.४।३५।१४१) इति काशीखण्डपञ्चत्रिंशाध्यायीय-स्कन्दवाक्ये चित्तशु-द्ध्युत्तर-कालीन-पावित्र्य-बोधनेन अस्य तदुत्तरकालीन-पापनाशकत्व-निश्चयात् च. नच *काशीखण्डस्य भस्मस्नानविषयत्वात् न एतत्परत्वम् * इति वाच्यं, भस्मस्नाने **''अग्निः...''** इत्यादि-पाशुपतमन्त्राणामेव स्मार्तैः पाठात्. नच *एवं सति श्रौत'कृत्स्न'पदे संकचापत्तिः * इति वाच्यं, निरवकाश-स्मृति-बाधापेक्षया संकोचस्य अल्पदूषणत्वात्. श्रुतौ सन्देहे उपबृंहणभूत-पुराणस्यैव निर्णायकत्वेन तन्नैर्बल्यस्यापि अशक्यवचनत्वात्. सप्तम्यां कक्षायां [१] स्वयमपि तथा अंगीकारात् च. नच *अयं ब्राह्मस्नान-स्तुत्यर्थो अर्थवादइति न अनेन [पा.भे.२] तस्य चित्तशोधकत्वनिवृत्तिः * इति वाच्यं, वाक्यार्थबाधप्रसंगात्. छागादिषु पशुत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन ''अन्येतु अपशवः'' इत्यत्र गौणीवद् अत्र पुरुषान्तःकरणनिष्ठस्य पावित्र्यस्य अप्रत्यक्षत्वेन तन्न्यूनतायाः दुर्ज्ञेयतया गौण्या वक्तुम् अशक्यत्वात्.

एवं सिद्धे अस्य उपबृंहणत्वे, **'''अग्निः...' इत्यादिमन्त्रविधेयं**

---

[१] ''उच्यते : उदाहृतं सौरसंहितादिवचनजातं विधानार्थं प्रवृत्तं न अर्थवादत्वशंकास्पदं तत् सूत्रादपि प्रबलं वेदोपबृंहणार्थत्वाद्, वेदार्थनिर्णये सूत्राणामपि उपजीव्यत्वात् च'' इति वादनक्षत्रमालायां (२२तमेवादे) सप्तम्यां कक्षायाम् अप्पयदीक्षिताः(गो.श्या.म..).

भस्मोद्धूलनं सकलब्रह्मविद्यांग विद्यांगत्वे सति सकलब्रह्मविद्यापेक्षितोपकारजन-कत्वात् शमदमादिवद्'' [१] इति अनुमानमपि निरस्तं स्वबुद्धिकल्पित-न्यायापेक्षया उपबृंहणभूत-पुराणस्यैव ज्यायस्त्वात्.

* ननु बाह्यपापनिवर्तकत्वेनैव सर्वविद्यांगत्वं तर्हि अस्तु * इति चेत्,—

किम् एतज्जन्मीय-तन्निवर्तकत्वं विवक्षितम् उत जन्मान्तरीय-तन्निवर्तकत्वम्?

न आद्यो ''**मद्यं पीत्वा गुरुदारान् च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा भस्मच्छन्नो भस्मशय्यां शयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः**'' (शा.स्मृ. ।) इति शातातपस्मृत्युक्तप्रायश्चित्ते प्रवेशाद् विद्यांगत्वहानेः.

न द्वितीयो ''**द्विषन्तः पापकृत्याम्**'' (द्रष्ट. : ब्र.सू.शां.भा.४।१।१७) इति श्रुतेः पापसत्त्वेऽपि विद्योत्पत्त्या पापनिवृत्तेः अप्रयोजकत्वात्.

* ननु जाबालश्रुतेः उपनिषन्निष्ठत्वेन तदुक्तोद्धूलनस्य विद्यांगभूत-पापक्षय-हेतुत्वे सिद्धे काशीखण्डवाक्यस्य शातातपोक्त-प्रायश्चितांगभूतोद्धूलनादि-परत्वेनापि उपपत्तेः न अस्य एतदुपबृंहणत्वम् * इति चेत्,—

न उपनिषन्निष्ठतामात्रस्य विद्यांगत्वानिश्चायकत्वात्. अन्यथा बृहदारण्य-

---

[१] ''तत्र इयं सैद्धान्तिकी प्रथमा कक्षा : 'अग्निः' इत्यादिमन्त्रविधेयं भस्मोद्धूलनं सकलब्रह्मविद्यांग विद्यांगत्वे सति सकलब्रह्मविद्यापेक्षितोपकारजनकत्वात् शमदमादि-वत्. 'मद्यं पीत्वा गुरुदारान् च गत्वा स्तेयं कृत्वा ब्रह्महत्यां च कृत्वा भस्मच्छन्नो भस्मशय्याशयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः' इति शातातपस्मृतौ प्रायश्चित्तप्रकरणे स्वतन्त्रप्रायश्चित्ततया विहिते रुद्रजपे तदंग भस्मोद्धूलनादौ च विद्यापेक्षितोपकारजनके व्यभिचारवारणार्थं 'विद्यांगत्वे सति' इति विशेषणम्. अतिथिप्राग्भोजनादौ व्यभिचारवारणार्थं विशेष्यम्'' इति (गो.श्या.म..).

कीय-पञ्चाग्नि-विद्योक्तायाः गर्भधारणभावादि-साधनभूतक्रियायाअपि तथात्वा-पत्तेः. किञ्च काशीखण्डीयवाक्यस्य अन्यपरत्वेऽपि उक्तोद्धूलनस्य सकल-विद्यांगभूत-पापक्षय-हेतुत्वं न शक्यवचनम्, "**अथ रात्रौ अग्निहोत्रभस्मना 'अग्नेः भस्म असि' 'इदं विष्णुः' 'त्रीणि पदा' इति मन्त्रैः विष्णुगायत्र्या प्रणवेन उद्धूलनं कुर्याद्**" (वासु.उप.१) इति वासुदेवोपनिषदुक्त-गोपीचन्दन-धारणांगभूतोद्धूलन-विधिवैयर्थ्यापत्तेः. नच *तत् पापक्षयातिरिक्त-फलकम्* इति वाच्यम्, एतदनन्तरमेव "**एवं विधिना गोपीचन्दनं यो धारयेद् यस्तु एतद् अधीते वा स सर्वपातकेभ्यः पूतो भवति पापबुद्धिः तस्य न जायते**" (वासु.उप.१) इति फलश्रुतिविरोधात्. अतो अत्रैव चित्तशुद्धि-लिंगदर्शनाद् अस्यैव तथात्वं न जाबालोक्तस्येति, जाबालोक्तोद्धूलने चित्तशोधकत्वस्य निवृत्तौ 'सकलब्रह्मविद्यापेक्षितोपकारजनकत्वस्य' विशेषणस्य अभावाद् हेतुः स्वरूपासिद्धः. एवञ्च जाबालोक्तोद्धूलनस्य विद्यान्तरेषु अपेक्षाभावे सिद्धे, अपेक्षायाः लिंगप्रमाणे अन्तर्भावमपि महता प्रयासेन साधयित्वा, अपेक्षितत्वेन अनुमानस्य अप्रयोजकत्वनिरासोऽपि काकदन्तविचारमेव अनुसरति.[१] अतः चित्तशुद्धेः सर्वविद्यापेक्षितत्वम् इच्छद्भिः स्वोक्तानुमाने स्वरूपासिद्धिवारणाय "'अग्निर्'इत्यादिमन्त्रविधेयम्" इति पक्षविशेषणं विहाय "'अग्नेः भस्म असि'इत्यादिमन्त्रविधेयम्" इति विशेषणं दातव्यम् इति युक्तम्. *ननु "**व्रतम् एतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय**" (अथ.शिर.उप.५) इति श्रुतौ 'विमोक्ष'पदेन करणव्युत्पत्त्या विमोक्षसाधनभूतं विद्यामात्रम् उच्यते, "**एतावद् अरे खलु अमृतत्वम्**" (बृह.उप.४।९।१५) इत्यत्र 'अमृत'पदेन अमृतत्वसाधनवत्.[२] अतः श्रुतिरपि एषा शैवानुमाने न प्रमाणमिति न अप्रयोजकत्वं नापि स्वरूपासिद्धिः* इति चेत्—

---

[१]निखिलम् एतद् वा.न.मा..२२ तमे वादे २-७ कक्षासु विचारितम् अस्तीति 'महता प्रयासेन' इति उक्तिः. तथाहि : "**तथा 'व्रतम् एतत् पाशुपतं पशुपाशविमोक्षाय' इति श्रुतिरपि तत्र प्रमाणं. तत्रहि 'विमोक्ष'शब्देन विमुक्तिसाधनं विद्यामात्रम् उच्यते यथा 'एतावदरे खलु अमृतत्वम्' इत्यत्र 'अमृतत्व'शब्देन अमृतत्वसाधनम् उच्यते. नहि विद्यैकसाध्यायां विमुक्तौ भस्मोद्धूलनस्य साक्षात् साधनत्वं सम्भवति**" इति, तत्रैव तृतीयकक्षायाम् (गो.श्या.म.).

न, दृष्टान्ते केवला-'ऽमृत'पदेन दार्ष्टान्तिके केवला'ऽमृत'[पा.भे.३]पदाभावेन उभयोः वैषम्यात्. विमुक्तेः नित्य-निरतिशय-सुखरूपत्वेन पशुपाशविमुक्तेः दुःखाभावरूपत्वेन भेदात् 'पशुपाशविमोक्ष'पदस्य श्रुत्या सर्वसाधारणत्वाभावात्. 'विमोक्ष'पदस्य करणव्युत्पत्तावपि 'पशुपाश'पदविशिष्टतया तत्सांनिध्येन वाचकत्वे नियन्त्रिते पशुपाशविमोक्षरूप-फलकरणभूत-पाशुपतविद्यायाएव बोधसम्भवेन विमुक्ति-साधनीभूत-विद्यान्तरपरत्वे निवृत्ते सर्वविद्यापरत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च.

नापि "**तेषामेव एतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्**" (मुण्ड.उप.३।२।१०) इति मुण्डकवाक्यं तत्र प्रमाणं, शिरसि अंगारधारणरूपस्य मुण्डकाध्ययनांगभूतव्रतस्य तत्र अभिप्रेतत्वेन उद्धूलनस्य तत्र अशक्यवचनत्वात्.

*ननु सौरसंहितायाम् अथर्वशिरःप्रसिद्धं पाशुपतव्रतमेव 'शिरोव्रत'पदेन उच्यते— "**इदं शिरोव्रतं चीर्णं विधिवद् यैः द्विजातिभिः, तेषामेव परां विद्यां वदेद् अज्ञानबाधिकां, शिरोव्रतम् इदं नाम शिरसि आथर्वणश्रुतेः, यद् उक्तं तद्धि नैव अन्यत् तत् पाशुपतसंज्ञितम्**" इत्यादि उक्त्वा "'**अग्निर्**'**इत्यादिभिः मन्त्रैः षड्भिः शुद्धेन भस्मना सर्वांगोद्धूलनं कुर्यात् शिरोव्रतसमाह्वयम्**" (सौरसंहि. ।) इति. ब्राह्मोत्तरखण्डेऽपि "**उद्धूलनं त्रिपुण्ड्रं च मायापाशनिवृत्तये आमनन्ति मुनिश्रेष्ठा अथर्वशिरसि स्थितम्**" (ब्रह्मपुरा. । ।) इति. पूर्वोक्तव्रतेतु 'शिरोव्रत'पदम् अध्यापकप्रसिद्धं, तव प्रसिद्ध्यपेक्षया पुराणप्रसिद्धेः बलिष्ठत्वाद् इदमेव शिरोव्रतत्वेन ग्राह्यम्. अन्यथा एतद्वाक्यविरोधापत्तेः* इति चेत्—

न, पूर्ववाक्ये "'समः'=समानः आह्वयो यस्य इति 'समाह्वयः' शिरोव्रतं समाह्वयो यस्य तत् 'शिरोव्रतसमाह्वयम्'" इति समासाद् उद्धूलनस्य शिरोव्रत-समान-नामकत्व-बोधनात्. द्वितीयवाक्ये पूर्ववत् तस्यैव अथर्वशिरः-स्थितत्व-कथनेन शिरःसम्बन्धिव्रतं शिरोव्रतम् इति योगबोधनात् "रूढिः

योगम् अपहरति''-इत्यतो अस्य अनुपबृंहणत्वानुसन्धानेन पुरःस्फुर्तिकं तद्विरोधम् अनादृत्यैव व्यासचरणैः **''स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारे अधिकारात् च सववत् च''** (ब्र.सू.३।३।३) इति सूत्रे अध्यापकप्रसिद्धस्य समाचारग्रन्थोक्तस्यैव शिरोव्रतस्य आदरात्. अन्यथा **''स्मृतेः च''** (ब्र.सू.४।३।१२) इत्यादिसूत्रप्रणयने पुराणम् उपजीवतः पुराणप्रणेतुः तदनादरानुपपत्तेः, तत्सूत्रव्याख्याने सर्वैरेव भाष्यकारैः वेदव्रतविशेषरूपस्य तस्य आदरणानुपपत्तेः च. अतएव अध्यापक-प्रसिद्धि-नैर्बल्यमपि परिहृतम्. अन्यथा अन्धपरम्परात्वापत्त्या तदाचारविप्लवप्रसंगात्. नच कृत्वा चिन्तार्थम्[१] एतत् न आदृतम् इति वाच्यम्, असति बाधके कृत्वाचिन्तांगीकारस्य जघन्यत्वात्. अतएव अन्यैः तदनादरात्. यदपि * **''तेषामेव एतां ब्रह्मविद्यां वदेत''** (मुण्ड.उप.३।२।१०) इति 'ब्रह्मविद्या'पदस्य 'ब्रह्मविषया विद्या ब्रह्मविद्या' इति योगेन सकल-ब्रह्मविद्या-परत्व-सिद्ध्या ब्रह्मविषयत्वरूप-हेतुसाधारण्यात् सर्वासु विद्यासु अंगत्वेन अथर्वशिरःसिद्ध-शिरोव्रत-प्राप्तिः हेतुसाधारण्येन हेतुमति विधेयप्राप्तेः अर्थबलसिद्धत्वात् * इति उक्तं तदपि अनुपपन्नं, **''ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह''** (मुण्ड.उप.१।१।१) इति

१.तथाहि अप्पयदीक्षितः : ''शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्'' इत्यत्र शिरोव्रतम् अथर्वशिरःप्रसिद्धं पाशुपतव्रतमेव सौरसंहितादिषु तथैव उपबृंहणात्. तथाहि स्कान्दे सौरसंहितायां भण्यते ''इदं शिरोव्रतं चीर्णं विधिवद् यैः द्विजातिभिः तेषामेव परां विद्यां वदेद् ज्ञानबाधिकाम्. शिरोव्रतम् इदं नाम शिरसि आथर्वणश्रुतेः यद् उक्तं तद्धि नैव अन्यत् तत् पाशुपतसंज्ञितम्. शाखाभेदेषु नामानि तस्य अस्य प्रविभेदतो भण्यते, मुनिशार्दुल!, शाखासु एकं व्रतंहि तत्. 'अग्निर्' इत्यादिभिः मन्त्रैः षड्भिः शुद्धेन भस्मना सर्वांगोद्धूलनं कुर्यात् 'शिरोव्रत'समाह्वयम्'' इति... कथं तर्हि 'स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारे अधिकारात् च' इति सूत्रम् ... तस्य हि अयम् अर्थः स्वाध्यायस्य तथात्वेन स्वाध्यायं प्रति अंगत्वेन शिरसि अंगारधारणरूपस्य शिरोव्रतस्य विधिः नतु विद्यां प्रति अंगत्वेन, ततः समाचारे अधिकारात् आथर्वणिकाणां वेदव्रतोपदेशार्थे 'समाचारा'ख्ये ग्रन्थे तथा प्रतिपादनात्... उच्यते... 'स्वाध्यायस्य' इति सूत्रं कृत्वाचिन्तारूपेण नेतव्यम्''(तत्रैव).

उपक्रम्य मुण्डकोपनिषद्रूप-ब्रह्मविद्या-पाठेन तस्यां 'ब्रह्मविद्या'पदस्य रूढत्वनिश्चयाद्. उपसंहारगतेऽपि 'ब्रह्मविद्या'पदे 'एताम्' इति प्रकृतपरामर्शिपद-सान्निध्येन तस्याएव स्फुर्तेः अवयवशक्तेः तत्र अभावेन हेतुमत्त्वस्यैव तत्र अभावात्.

नच 'निर्मन्थ्य'न्यायेन[१] योगरूढत्वं शंक्यं तथा सति समाचारग्रन्थोक्त-स्यैव सर्वत्र आपत्त्या युष्मदभीष्टासिद्धेः. आचारविरोधेन तस्य अनिष्टत्वात् त्वदभिमतस्यापि तथात्वात् च. तस्माद् इदं वाक्यमपि न तत्र प्रमाणम्.

एवं तदुक्तश्रुतिवाक्ययोः तत्र अप्रामाण्ये अपेक्षाभावेन लिंगस्यापि अभावे, सत्यामपि तस्यां लिंगस्य अन्यपरत्वेनापि तत्र अप्रामाण्ये सिद्धे तदुक्तन्यायस्य अप्रयोजकत्वाद् असिद्धत्वात् च.

तत्र वैष्णवस्य ''उक्तं भस्मोद्धूलनं न सकलब्रह्मविद्यांग, विद्याविशेषप्रकरणनियन्त्रितत्वात् **'पूर्वो अतिथिभ्यो अश्नीयाद्'** (. . । ।) इति वैश्वानर-विद्योक्तातिथि-प्राग्भोजनवद्'' इति अनुमानस्य प्रत्यनुमानत्वमपि दुर्वारमेव. विद्याविशेष-प्रकरण-नियन्त्रितत्वञ्च

१.अग्निचयनप्रकरणस्थे ''निर्मन्थ्येन इष्टकाः पच्यन्ते'' इति वाक्ये श्रूयमाणः 'निर्मन्थ्य'शब्दः 'पंकजा'दिशब्दवद् योगरूढः. अग्निचयनगतेष्टकापाकार्थः मन्थनसाध्यो यो लौकिकाग्निः तस्य वाचकः. यतो अग्निचयने सद्यो लौकिकमथनेन जातो यो अग्निः तेनैव इष्टकाः पच्यन्ते. सोऽयं 'निर्मन्थ्य' शब्दः अग्निषोमीयप्रकरणस्थेन '''अग्नेः जनित्रम् असि' इति अभिमन्थनशकलं निदधाति'' इति वाक्येन उक्तानां शास्त्रीयाणां निर्मन्थ्यधर्माणां न अतिदेशेन संग्राहको भवति इति. अयं न्यायो ''निर्मन्थ्यादिषु च एवम्'' (जैमि.सू.७।३।७।१८) इति सूत्रभाष्यादिषु भणितः. इदम् अत्र अवधेयं भवति शास्त्रोक्तधर्मातिदेशकत्वाभावेऽपि यथां 'निर्मन्थ्य'शब्दो योगरूढत्वेन लौकिकालौकिकयोः उभयविधयोः अग्न्योः वाचको भवति तथा 'ब्रह्मविद्या'पदमपि योगरूढ्या प्रस्तुतब्रह्मविद्यायाः च एतदतिरिक्तानां च अन्यासामपि सर्वासां ब्रह्मविद्यानां वाचकं भवतु इति शंकस्य अभिप्रायः (गो.श्या.म..).

प्रकरणीय-विद्यावशीकृतत्वम्. नच तस्य असिद्धत्वं शैवोपन्यस्त-श्रुतिलिंग-वाक्यानाम् अन्यपरत्वस्य उपपादितत्वेन तैः सर्वविद्यांगत्वापादनाशक्तौ प्रकरणस्यैव प्रमाणत्वेन हेतौ असिद्धिपरिहारात्.

एवं त्रिपुण्ड्रस्यापि कालाग्निरुद्रोपनिषदुक्तस्य शैवविद्यांगत्वमेव **''व्रतम् एतत् शाम्भवम्''** (का.रु.उप.१) इति तत्रैव उक्तेः प्रकरणसमाख्याभ्यां तन्नियमनात्. बृहज्जाबालश्रुतौ तस्यापि पाशुपत-विद्योक्त-भस्मोद्धूलन-तुल्यफलत्वेन प्रपञ्चिततया कालाग्निरुद्रस्थ-'नपुनर्भव'पदस्यापि पशुपाश-विमोक्षरूपार्थस्यैव आदरणीयत्वात् च. एवं सिद्धे तयोः शैवविद्यांगत्वे **''ततो अधिकारासु अनुपनीतशतम् एकेन उपनीतेन तत्समम्''** इत्यादिना **'''अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतम् एकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समम्'''** (नृसिं.पू.-उप.८।१) इत्यन्तेन श्रावितविद्यावदुत्कर्षविश्रान्ति-साधितपरमोत्कर्षासु तापनीय-रूपाथर्वणस्य रहस्याद्युक्तविद्यासु तदनुपयोगात् न तयोः ऊर्ध्वपुण्ड्राद् आधिक्यम् इति सिद्धम्.

(ऊर्ध्वपुण्ड्रसमर्थनम्)

अतः परं तादृग् अत्युत्कृष्टविद्योपयुक्तम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं विचार्यते. तच्च वासुदेवोपनिषदि उक्तम् :

> **''ॐ नमस्कृत्य भगवान् नारदः सर्वेश्वरं वासुदेवं पप्रच्छ 'भगवन्! ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिसहितं मे ब्रूहि' इति. तं ह उवाच भगवान् वासुदेवो 'वैकुण्ठस्थानोद्भवं मम प्रीतिकरं मद्भक्तैः ब्रह्मादिभिः धारितम्' ''.**
>
> (वासु.उप.१).

इति उपक्रम्य 'गोपीचन्दना'ख्यं द्रव्यं प्रथमकण्डिकायाम् उक्त्वा द्वितीयकण्डिकायां —

> **''अथ गोपीचन्दनं नमस्कृत्य उद्धृत्य 'गोपीचन्दन! पापघ्नः विष्णुदेहसमुद्भवः चक्रांकितः नमस्तुभ्यं धारणाद् मुक्तिदो भव', 'इमं मे गंगे' इति जलम् आदाय 'विष्णोर्नु कम्'**

इति मर्दयेत्. 'अतो देवा अवन्तु नः' इति एतैः मन्त्रैः विष्णुगायत्र्या च... इति त्रिवारम् अभिमन्त्र्य 'शंखचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम्' इति ध्यात्वा गृहस्थो ललाटादिद्वादशस्थानेषु अनामिकांगुल्या विष्णुगायत्र्या केशवादिभिः द्वादशनामभिः वा धारयेत्.

ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा ललाटकण्ठहृदयबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिपञ्चनामभिः वा धारयेत्.

यतिस्तु तर्जन्या शिरोललाटहृदयेषु प्रणवेन धारयेत्.

ब्रह्मादयः त्रयो मूर्तयः, तिस्रो व्याहृतयः, त्रीणि छन्दांसि, त्रयो अग्नयो ज्योतिष्मन्तः. त्रयः कालाः, तिस्रो अवस्थाः, त्रयः आत्मानः, पुण्ड्राः त्रयः ऊर्ध्वाकाराः अकारोकारमकाराः एते प्रणवमयोर्ध्वपुण्ड्राः त्रयात्मकाः. तदेतद् ॐ इति एकत्वं सम्भावयन् परमहंसो ललाटे प्रणवेन एकम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं धारयेद्''.

(वासु.उप.१-१०).

इति तद्विधेः उक्तत्वात्. नच प्रसिद्धशाखासु तस्याः उपनिषदः अनुपलम्भाद् अप्रामाण्यम् आशंक्यं, सम्प्रदायाध्ययनरहितानामपि खिलशाखा-स्थमन्त्राणां शिवसंकल्पादीनां तत्र-तत्र कर्मणि शिष्टकृतविनियोगदर्शनवद् अस्याअपि तत्तद्देशस्थाद्वैतब्रह्मतत्त्ववादि-संगृहीतपुस्तकेषु अवगम्यमानत्वेन कालाग्निरुद्रोपनिषद्वद् आदरदर्शनात्.

तैत्तिरीयशाखाश्रित-वैखानसाख्य-गृह्यसूत्रेऽपि "**'भूतिःस्म' इति भस्म गृहीत्वा ललाटहृदयबाहुकण्ठादीन्, 'आदित्यः सोमो मनः' इति ऊर्ध्वांगम् आलिप्य, 'आपो हि ष्ठा' इति सम्प्रोक्ष्य, 'यत्ते अग्ने तेजस्तेन' इत्यादिभिः अग्निम्, 'उद्वयं तमसस्परि...' इति आदित्यम् उपतिष्ठते**'' (वैखा.गृ.सू. । - ।) इति उपस्थानांगत्वेन तद् विहितम्. तदेव आश्रित्य द्रविडदेशस्थैः याज्ञिकैः अग्निहोत्रानन्तरं तदीयभस्मना ऊर्ध्वपुण्ड्रं ध्रियमाणं दृश्यते. तथा तत्तन्निबन्धलिखितेषु पुराणेष्वपि दृश्यते.

(ऊर्ध्वपुण्ड्रत्रैविध्यनिरूपणम्)

तत् तावत् त्रिविधं [१]जातिप्रयुक्तं [२]कर्मांगभूतं [३]सम्प्रदायानुरोधि च.

[१]तत्र आद्यं मदनपारिजाते ब्राह्मे **''ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्यात् क्षत्रियस्तु त्रिपुण्ड्रकम्, अर्धचन्द्रन्तु वैश्यानां वर्तुलं शूद्रजातिषु''** (ब्रह्मपुरा. । ।) इति. धर्मप्रवृत्तौ शाकलश्च **''त्रिपुण्ड्रं सुरविप्राणां वर्तुलं नृपवेश्ययोः अर्धचन्द्रन्तु शूद्राणाम् अन्येषाम् ऊर्ध्वपुण्ड्रकम्''** (शाक. . ।) इति.

[२]द्वितीयम् आचारमाधवे ब्रह्माण्डे **''पूजाकाले जपे होमे सायं प्रातः समाहितः नामानि उच्चार्य विधिना धारयेद् ऊर्ध्वपुण्ड्रकम्''** (ब्रह्मा.पुरा. । - ।) इति, मदनपारिजाते च ब्राह्मे **''यागो दानं तपो होमः स्वाध्यायः पितृतर्पणं भस्मीभवति तत् सर्वम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम्''** (ब्रह्मपुरा. । - ।) स्कान्दे (स्क.पु.२ वै.मार्ग.मा.३।२१) मार्गशीषमाहात्म्येऽपि इदमेव वाक्यम्. धर्मप्रवृत्तौ च स्मृतिसारसमुच्चये **''स्वाध्यायजपहोमादि सन्ध्यादानादिकं च यद् ऊर्ध्वपुण्ड्रं विना कुर्यात् तत् सर्वं निष्फलं भवेद्''** (. ।) इति. आचारमयूखे च ब्रह्माण्डे **''मृत्तिकां चन्दनं चैव भस्मतोयं चतुर्थकम् एभिर्द्रव्यैः यथाकालम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं भवेत् सदा. स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्याद् हुत्वा चैवतु भस्मना. देवानभ्यर्च्य गन्धेन सर्वपापापनुत्तये जलेन तिलकं कुर्याद् जलान्तःकर्मसिद्धये''** (ब्रह्मा.पुरा.५।५०) इति. तृतीयं धर्मप्रवृत्तौ स्मृतिसारसमुच्चये ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिं प्रक्रम्य **''ललाटे तिलकं कृत्वा, कुर्युः शैवाश्च वैष्णवाः. तर्पणञ्चापि वै श्राद्धम् अन्यथा निष्फलं भवेत्''** (स्मृति.समु. । ।) आचारमयूखे च शौनकः **''ऊर्ध्वपुण्ड्रं शिवस्यैवं विष्णोः कुर्युश्च वा बुधाः. मूर्ध्नि मूलेन मन्त्रेण शेषं द्वादशनामभिः''** (आचा.मयू.पृ.५०) इति. **''ऊर्ध्वपुण्ड्रन्तु सर्वेषां न निषिद्धं कदाचन धारयेयुः क्षत्रियाद्याः विष्णुभक्ताः भवन्ति ये''** (प.पु.ब्र.खं.२२५।१७) इति पाद्मोत्तरखण्डे ऊर्ध्वपुण्ड्राध्याये च उक्तम्.

(प्रकारत्रयाणां मध्ये तृतीयस्य प्रामुख्यम्)

एवं प्रकारत्रयमध्ये तृतीयएव प्रबलो, जातिप्रयुक्त्या पुण्ड्रान्तरस्यापि

स्मरणाद्, विकल्पप्राप्तौ, सम्प्रदायवाक्यस्य व्यवस्थापकत्वात्, संयोगपृथक्त्वेन कर्मांगत्वादिसिद्धेः च. "पूर्वात् परबलीयस्त्वम्" इति न्यायानुगृहीतत्वात् च. नच इदम् अप्रयोजकं, पूर्वादेव सिद्धौ परविधानवैयर्थ्यापातात्. नच * सम्प्रदायवाक्यस्य अन्यत्र सावकाशत्वेन ब्राह्मणेतरपरत्वं * शंक्यं, शौनकवाक्यस्थ-ब्राह्मणलिंग-विरोधात्. वाक्यान्तरेषु ब्राह्मणस्यैव द्वादशपुण्ड्रविधानात्. नापि अवैदिकपरत्वं, पूर्वोक्तब्राह्मस्कान्दादिवाक्यविरोधात्. यत्तु "**वेदमार्गैकनिष्ठानां वेदोक्तेनैव वर्त्मना ललाटे भस्मना तिर्यक् त्रिपुण्ड्रं धार्यमेव हि. ललाटे भस्मना तिर्यक् त्रिपुण्ड्रस्यतु धारणं विना पुण्ड्रान्तरं मोहाद् धारयन् पतति क्षणात्**" (. ।) इति सूतसंहितावाक्यं तत्तु शैवपरं, प्रकरणेन तथा निश्चयात्. पूर्वग्रन्थे शिवमाहात्म्यादिकथनेन तदीयस्यैव प्रस्तावावगमात्. कर्मजडपरं वा तद्, 'एक'पदेन वेदान्तविचारशून्यतत्स्वरूपबोधनात्. 'वेद'पदस्य कर्मकाण्डएव प्रचुरप्रयोगाद्, "**वेदाः सांगोपनिषदः**" (. ।) इत्यादौ तथा निर्णयात्.

वस्तुतस्तु पूर्वोक्तशौनकवचसा वैदिकावैदिकशैवानामपि प्राप्तस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य अवैदिकशैवपरतां बोधयन्ती वैदिकशैवे तन्निवारणफलिका इयं परिसंख्या [पा.टि.१] जातिप्रयुक्तपुण्ड्रस्य वैदिकशैवे नियमो वा अयं पूर्ववाक्ये. तेन द्वितीयमपि तादृशस्यैव भस्मत्रिपुण्ड्रोपरि पुण्ड्रान्तरधारणपरं, 'विना' इत्यन्तेन पूर्वार्धेन तथा निश्चयात्. यत्तु कौर्मे "**सर्वेषामेव भक्तानां शम्भोः लिंगम् अनुत्तमं सितेन भस्मना कार्यं ललाटे तु त्रिपुण्ड्रकम्**" (कूर्मपुरा.१।२।१००) इति वाक्यं तदपि शैवपरमेव. "**यस्तु नारायणं देवं प्रपन्नः परमं पदं धारयेत् सर्वदा शूलं ललाटे गन्धवारिभिः प्रपन्ना ये जगद्बीजं ब्रह्माणं परमेष्ठिनं तेषां ललाटे तिलकं धारणीयं तु सर्वदा**" (कूर्मपुरा.१।२।१०१) इति अग्रे दर्शनात्. अतो न केवलवैदिकाः वैदिकवैष्णवाः वा अस्य विषयाः. अन्यथा "**विप्राणां नैव धार्यं स्यात् तिर्यक्पुण्ड्रादिधारणं नारायणात्**

१.रागप्राप्ते विषये तन्निवृत्तिहेतुकः संकोचफलको विधिः परिसंख्या. यथा "पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या" इत्यत्र यथावा "ऋतौ भार्याम् उपेयाद्" इत्यत्र. अत्रहि रागतः प्राप्तं सर्वमांसमक्षणं, सर्वकाले सर्वासु च स्त्रीषु प्राप्तं च गमनं पञ्चपञ्चनखभक्षणविधानेन परिणीतपत्न्यां ऋतावेव गमनविधानेन च संकोच्यते.

परब्रह्माद् अन्येषाम् अर्चनं नहि. ब्राह्मणः कुलजो विद्वान् भस्मधारी भवेद् यदि. वर्जयेत् तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा. त्रिपुण्ड्रं शूद्रकल्पानां शूद्राणां च विधीयते. त्रिपुण्ड्रधारणाद् विप्रः पतितः स्यान्न संशयः'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२५।१८-२०) इति पाद्मोत्तरखण्डीयोर्ध्वपुण्ड्रधारणाध्याय-वाक्यत्रयविरोधात्. ''**शोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनया भृतम्. आनिम्लुचः शकृदेको अपाभरत् किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरौ उपावतुः''** (. ।) इति ऋक्शाखास्थ-चमसविभाग-प्रकरणीय-श्रुतिविरोधापातात् च. अत्रहि श्रुतौ द्रव्यान्तरस्य पितृकृतोपस्थानस्य च श्रावणेन शिष्टाचारप्राप्तरक्षणस्यैव बोधनात्.

एवं सति ''**ऊर्ध्वपुण्ड्रम् ऋजुं सौम्यं ललाटे यस्य दृश्यते चाण्डालोऽपि विशुद्धात्मा पूज्यएव न संशयः**'' (आचा.माध. ।) इति आचारमाधवे सत्यव्रतवचनेन ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य अतिमाहात्म्यबोधनाद् 'अपि'शब्देन 'कैमुतिक'बोधनात् माधवेन पुण्ड्रान्तरस्य अविचारणात् च. धर्मप्रवृतौ स्मृतिसारसमुच्चये ''**ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजातीनाम् अग्निहोत्रसमो विधिः**'' (स्मृ.स. ।) इति कथनात्. स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये ''**मन्त्रेणैव अभिमन्त्र्य अथ ललाटादिषु वैष्णवो धारयेद् ऊर्ध्वपुण्ड्राणि यथासंख्यम् अतन्द्रितो ब्रह्मन् द्वादशपुण्ड्राणि ब्राह्मणः सततं धरेत्. चत्वारि भूभृतां पुत्र पुण्ड्राणि द्वे विशां स्मृते. एकं पुण्ड्रं च नारीणां शूद्राणां च विधीयते**'' (स्क.पु.२ वैष्ण.खं.मा.मा.३।१९-२०) इति वाक्यैः पूर्वोक्तपाद्मवाक्यैः च वैष्णवानां सर्वेषाम् ऊर्ध्वपुण्ड्रमेव धार्यम्. नच *कूर्मोक्तेन त्रिशूलेन विकल्पः* इति वाच्यं, तस्य सगुणोपासकपरत्वात्. ''**यत्तत् प्रधानं त्रिगुणं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकं धृतन्तु शूलधरणाद् भवत्येव न संशय**'' (कूर्मपुरा.१।२।१०४) इति तत्र वाक्यान्तरात्. अतः पूर्वोक्तएव निर्णयः.

(प्रसंगाद् वैष्णवानां त्रैविध्यमिति निरूपणम्)

वैष्णवास्तु त्रिविधाः. ''**न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः. वासुदेवैकनिलयः सवै भागवतोत्तमः**'' (भाग.पुरा.११।२।५०) इति एकादशस्कन्धोक्ताः उत्तमाः, ''**जगद्धातुः महेशस्य दिव्याज्ञाचरणा वयम्**

इह नित्यक्रियां कुर्मः स्निग्धास्ते वैष्णवाश्च ते'' (गरु.पुरा.२११।४-५) इति गारुडविष्णुभक्त्यध्यायोक्ताः च.

मध्यमास्तु, सात्त्विकादिभेदभिन्नाः त्रिधा **''यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् स्त्रियं पुरुषमेव वा. यदा आशिष आशास्य मां यजेत स्वकर्मभिः. तं रजःप्रकृतिं विद्याद् हिंसाम् आशास्य तामसम्''** (भाग.पुरा.११।२५।१०-११) एकादशस्कन्धवाक्योक्तः.

प्राप्तवैष्णवदीक्षोपदेशान्यतराः तदनुसारिणः शेषाः, पूर्वोक्तधर्माभावेऽपि अनुसारित्वात्. **''स्वयं समुत्तीर्य''** (भाग.पुरा.१०।२।३१) इति गर्भस्तुतौ **''किरातहूणान्ध्र...''** (भाग.पुरा.२।४।१८) इति द्वितीयस्कन्धे च तादृशानामपि संसारोत्तरणशुद्ध्योः कथनात्. अतः तान्त्रिकमिश्रपरम् इदं धारणम् इति न भ्रमितव्यम् इति दिक्.

(ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य द्रव्यादेः निरूपणम्)

एवं वैष्णवानां सिद्धे ऊर्ध्वपुण्ड्रे तत्र द्रव्यादिकम् उच्यते आचारमाधवे ब्रह्माण्डे **''पर्वताग्रे नदीतीरे मम क्षेत्रे विशेषतः सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते एता मृदः सुसम्पाद्या वर्जयेत्त्वन्यमृत्तिका''** (ब्रह्मा.पुरा. - । ।) इति. पाद्मोत्तरखण्डेतु **''यस्मिन् कस्मिन् महाभागा वैष्णवा धारयन्ति वै तस्मिन्वै मृत्तिका ग्राह्या ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य धारणे''** (पद्मपुरा.उ.ख.२२५।३९) इत्यपि उक्तम्. मदनपारिजातेतु **''जाह्नवीतीरसम्भूतां मृदं मूर्ध्ना बिभर्त्ति यो बिभर्त्तिरूपं सोऽर्कस्य तमोनाशाय केवलम्''** (मद.पारि. । ।) इति व्यासः आह. तत्रैव सत्यतपाः **''गोमतीतीरसम्भूतां गोपीदेहसमुद्भवाम्. मृदं मूर्ध्ना वहेद् यस्तु सर्वपापैः प्रमुच्यते''** (मद.पारि. ।) इति फलम् आह.

धर्मप्रवृतौ स्मृतिसारसमुच्चयेतु **''अभ्यंगे सूतके चैव विवाहे पुत्रजन्मनि मांगल्येषु च सर्वेषु न धार्यं गोपिचन्दनम्''** (स्मृ.स. ।) इति निषेधोऽपि उक्तः. तेन भगवत्प्रसाद-शेष-चन्दनेन वैष्णवानां करणे कदापि न निषेधः.

स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्येतु द्रव्यान्तरमपि उक्तं ''**शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि पुण्ड्रं च त्रिविधं स्मृतं तुलसीमृत्स्नया सार्द्धं श्रीगोपीचन्दनेन च हरिचन्दनेन च ततः कार्यं तत्र विचक्षणैः**'' (स्क.पु.२ वै.खं.मा.मा.३।१-२) इति. धर्मप्रवृत्तौतु विशेषः कालभेदेन ''**स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्याद् होमं कृत्वातु भस्मना अभ्यंगोत्सवकालेतु कस्तूरीचन्दनादिना**'' (. ।) इति. आचारमयूखेतु देवार्चनोत्तरमपि गन्धेन उक्तं, जलान्तः जलेन च. वचनन्तु उक्तम् अधस्तात्. पाद्मोत्तरखण्डेतु कामनाभेदेनापि द्रव्यभेदः उक्तः सो अनावश्यकत्वात् न लिख्यते. वर्णांगुलिभेदेन फलभेदोऽपि आचारमाधवे ब्रह्माण्डे ''**श्यामं शान्तिकरं प्रोक्तं रक्तं वश्यकरं भवेत् श्रीकरं पीतमित्याहुः वैष्णवं श्वेतम् उच्यते. अंगुष्ठः पुष्टिदः प्रोक्तो मध्यमायुष्करी भवेद् अनामिकान्नदा नित्यं मुक्तिदा च प्रदेशिनी, एतैरंगुलीभेदैस्तु कारयेद् न नखं स्पृशेत्**'' (ब्रह्मा.पुरा. । ।). मानभेदोऽपि तत्रैव ''**दशांगुलप्रमाणन्तु उत्तमोत्तम उच्यते, नवांगुलं मध्यमं स्याद् अष्टांगुलम् अतः परं, सप्तषट्पञ्चभिः पुण्ड्रं मध्यमं परिकीर्तितम्. चतुस्त्रिद्व्यंगुलैः पुण्ड्रं कनिष्ठं त्रिविधं स्मृतम्**'' (आचा.माध. ।) इति. आचारमयूखेतु एतदग्रे ''**ऊर्ध्वं पुण्ड्रं ऋजुं सौम्यं कनिष्ठांगुलिवत् स्मृतं नासादिकेशपर्यन्तं प्रयत्नाद् धारयेद् द्विजः**'' (आचा.मयू.तिल.प्रक.) इति च उक्तम्. इदञ्च कनिष्ठं मानं तेन नासादिब्रह्मरन्ध्रान्तं मुख्यम् इत्येव फलति. परिणाहस्तु अंगुलिकृतत्वाद् अंगुलिरेव. इदञ्च सान्तरालं कार्यम् ''**ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं वा मध्ये शून्यं प्रकल्पयेत्. शृणु षण्मुख! तन्मध्ये उमया अहं श्रिया हरिः**'' (आचा.मयू.पृ.५०, प्रयो.पारि. ।) इति आचारमयूखे चतुर्विंशतितमव्याख्यायां च प्रयोगपारिजाते संग्रहात्. ''**एकान्तिनो महाभागाः सर्वभूतहिते रताः. सान्तरालं प्रकुर्वन्ति पुण्ड्रं हरिपदाकृतिम् ऊर्ध्वपुण्ड्रम् ऋजुं सौम्यं सुपार्श्वं सुमनोहरं दण्डाकारं सुशोभाढ्यं मध्ये छिद्रं प्रकल्पयेत्. ऊर्ध्वपुण्ड्रस्य मध्ये तु विशाले सुमनोहरे सान्तराले समासीनो हरिः तत्र श्रिया सह. निरन्तरालं यः कुर्याद् ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजाधमः सहि तत्र स्थितं विष्णुं श्रियं चैव व्यपोहति. अच्छिद्रम् ऊर्ध्वपुण्ड्रन्तु तु ये कुर्वन्ति द्विजातयः ते ललाटेतु सततं शुनः पादं न संशयः**'' (पद्मपुरा.उ.ख. २२५-२१,२३,२५,२७) इति पाद्मात् च.

केचित्तु ''सुदर्शनं धारयति ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विरेखं भवति ब्रह्मणः सायुज्यतां सलोकतां जयति य एवं वेद'' (का.श.प.. । ।) इति काण्वशतपथीयां श्रुतिमपि आहुः. एतदारम्भश्च नासामूलात् भ्रूमध्यात् च कार्यः ''आरभ्य नासिकामूलं ललाटं विलिखेन् मृदा समारभ्य भ्रूवोः मूलम् अन्तरालं प्रकल्पयेद्'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२५-८३) इति पाद्मात्. 'मृदा' इति उपलक्षणं द्रव्यान्तरस्यापि तत्र उक्तत्वात्.

(पुण्ड्रक्रममन्त्रयोः निरूपणम्)

क्रमः मन्त्राः च पाद्मे स्कान्दे च ''ललाटे केशवं विद्याद्, नारायणम् अथ उदरे, माधवं हृदि विन्यस्य, गोविन्दं कण्ठकूपके, उदरे दक्षिणे पार्श्वे विष्णुः इति अभिधीयते, तत्पार्श्वे बाहुमध्ये तु मधुसूदनम् अनुस्मरेत्'' (तत्रैव.उ.खं.२२६।४५). दक्षिणबाहौ इति अर्थः. ''त्रिविक्रमं कन्धरे तु, वामनं वामपार्श्वके, श्रीधरं बाहुके वामे, हृषीकेशं तु कर्णयोः'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२६-४६।४७). साम्प्रदायिकास्तु कर्णमूले कुर्वन्ति. ''पृष्ठे तु पद्मनाभं च, ककुद् दामोदरं स्मरेत्, तत्प्रक्षालनतोयेन वासुदेव इति मूर्द्धनि'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२६।४७।१-२) ककुत् त्रिकम् इति. आचारमाधवे ब्रह्माण्डेतु ''द्वादश एतानि नामानि'' इति पाठः.

(क्षत्रियादौ पुण्ड्रसंख्याभेदः)

क्षत्रियादौतु विशेषः पाद्मे ''चत्वारि भूभृतां प्रोक्ते पुण्ड्राणि द्वे विशां स्मृते. एकं पुण्ड्रन्तु नारीणां शूद्राणां च विधीयते. ललाटे हृदि बाह्वोः च चतुः पुण्ड्राणि धारयेत्. ललाटे हृदये द्वेतु भालेतु एकं विधीयते. ऊर्ध्वपुण्ड्रं तु सर्वेषां ललाटे प्रथमं स्मृतम्. ललाटादिक्रमेणैव धारणं तु विधीयते. मूर्तयो वासुदेवाद्याः चतुःपुण्ड्रेषु धारयेद्'' (पद्मपुरा. ५२-५४) वासुदेवसंकर्षणानिरुद्धप्रद्युम्नाः इति अर्थः, ''द्वयोः गोविन्दकृष्णौतु एकं नारायणं धरेद्'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२६।५५) इति.

(स्थानभेदेन ऊर्ध्वपुण्ड्राकारभेदाः)

आकारान्तरमपि आचारमाधवादौ स्मर्यते ''वर्तिदीपाकृतिं वापि

वेणुपत्राकृतिं तथा पद्मस्य मुकुलाकारं तथैव कुमुदस्य च मत्स्यकूर्माकृतिं वापि शंखाकारम् अतः परम्'' (आचा.माध. । ।) इति. पाद्मेतु फलविशेषो ''**अश्वत्थपत्र-संकाशो, वेणुपत्रसमाकृतिः, पद्मकुण्डलसंकाशो, मोहनं त्रितयं स्मृतं, महाभागवतः शुद्धः पुण्ड्रं हरिपदाकृतिं दण्डाकारं तु वा देवि धारयेद् ऊर्ध्वपुण्ड्रकम्**'' (पद्मपुरा.पु.उ.खं.२२५।५६-५८) इति. उपरि किञ्चिद् विस्तीर्णत्वे पदाकृतिः ज्ञेयः समत्वे दण्डाकृतिः. निबन्धेतु स्थानविशेषो नियमितः ''**दण्डाकारं ललाटे स्यात्, पद्माकारन्तु वक्षसि, वेणुपत्रनिभं बाह्वोः, अन्यद् दीपाकृतिः भवेत्**'' (त.दी.नि.प्र.२।२४४) इति.

(पुण्ड्रधारणे आदर्शाद्युपयोगनियमः)

इदञ्च आदर्शादि दृष्ट्वैव कार्यं ''**वीक्ष्य आदर्शे जले वापि यो विदध्यात् प्रयत्नतः ऊर्ध्वपुण्ड्रं, महाभाग!, प्रयाति परमां गतिम्**'' (स्क.पु.२वै.खं.।३।१८) इति स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्यवाक्यात्.

(तत्र निषिद्धप्रकाराः)

''**वर्तुलं तिर्यग् अच्छिद्रं ह्रस्वं दीर्धं तनुं ततं वक्रं विरूपं वक्राग्रं छिन्नमूलं पदच्युतम्, अशुभ्रं रूक्षम् आरक्तं तथा नांगुलिकल्पितं विगन्धम् अवसह्यं च पुण्ड्रम् आहुः अनर्थकम्**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२६।४१-४२) इति पाद्मे वक्रादेः निन्दनाच्च : 'दीर्घम्' इति नासाग्रम् आरभ्य कृतं यथा चेदिदेश्यानाम्. 'ततं' बहुपरिणाहं यथा वीतरागिणाम्. तथैव 'तनुम्' 'छिन्नमूलं' दण्डाकारादिकरणोत्तरं प्रोञ्छितमूलम्. 'रूक्षं' जलेन विनैव कृतम्. 'अवसह्यम्' असह्यम्. शेषं स्फुटम्.

यस्तु ''**न पादुकास्थो न आदर्शे न जले तु अवलोकयेत् न प्रावृतशिराः कुर्यात् तिलकं धर्मसाधनम्**'' (. ।) इति धर्मप्रवृत्तौ विष्णुवाक्ये आदर्शादिनिषेधः स पुण्ड्रान्तरपरः.

(ऊर्ध्वपुण्ड्रोपरि होमोत्तरभस्मधारणप्रकारः)

होमोत्तरन्तु ललाटादौ बिन्दुरेव विधेयः. **''न कदाचिन् मृदा तिर्यक् न्यसेद् ऊर्ध्वं न भस्मना''** (.   ।   ) इति संग्रहे भस्मोर्ध्वपुण्ड्र निषेधात् पूर्वोक्तपाद्मवचनेषु वैष्णववैदिकस्य त्रिपुण्ड्रस्यापि निषेधात्. स्कान्दे त्रयोविंशाध्याये **''ऊर्ध्वपुण्ड्रे त्रिपुण्ड्रं यः कुरुते स नराधमो भङ्क्त्वा विष्णुगृहं पुण्यं स याति नरकं ध्रुवम्. त्रिपुण्ड्रं यस्य विप्रस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रे प्रदृश्यते तं दृष्ट्वापि अथवा स्पृष्ट्वा सचैलं स्नानम् आचरेद्''** (स्क.पु.२३।   ) इति ऊर्ध्वोपुण्ड्रोपर्यपि तद्धारणे निन्दास्मरणात् च. नच बिन्दोः वर्तुलत्वाद् आनर्थक्यं शङ्क्यं पाद्मे वर्तुलानर्थकताबोधकस्य तिर्यगादि-समभिव्याहृतत्वेन प्रयत्नविशेषं निष्पाद्य तदानर्थक्यपरत्वात्. अन्यथा होमान्ते भस्मपुण्ड्रबाधापत्तेः. अतो यथा भस्मोर्ध्वपुण्ड्रस्य विहितप्रतिषिद्धत्वं स्वीकृत्य नृसिंहभट्टीये शिष्टाचारात् व्यवस्थापितो विकल्पः तथा शिष्टाचारादपि बिन्दुप्राप्तिः. अतएव कात्यायनगृह्ये **''त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणें अंसे हृदि च''** (कात्या.गृ.सू.   ।   ) इत्यनेन विहिते त्र्यायुषकरणे शिष्टाः बिन्दूनेव विदधति तथैव तैत्तिरीयाः च. तस्माद् एषैव व्यवस्था इति दिक्.

(पित्र्ये कर्मण्यपि ऊर्ध्वपुण्ड्रात्यागः)

पित्र्ये कर्मण्यपि ऊर्ध्वपुण्ड्रं न त्याज्यम्. **''ऊर्ध्वपुण्ड्रधरं विप्रं यः श्राद्धे भोजयिष्यति आकल्पकोटि पितराः तस्य तुष्टाः न संशयः. ऊर्ध्वपुण्ड्रधरो यस्तु श्राद्धं कुर्यात्, शुभानने!, कल्पकोटिसहस्राणि गयाश्राद्धफलं लभेद्''** (पद्मपुरा.उ.ख.२२५।८-९) इति पाद्मात्. **''मत्प्रियार्थं शुभार्थं च रक्षार्थं, चतुरानन!, मत्पूजाहोमकाले च सायं प्रातः समाहितो मद्भक्तो धारयेद् नित्यम् ऊर्ध्वपुण्ड्रं भयापहम्''** (स्क.पु.२ वै.ख.३।१५) इति स्कान्दात् च. यत्तु **''ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजातीनाम् अग्निहोत्रसमो विधिः श्राद्धकाले तु सम्प्राप्ते कर्ता भोक्ता च तत् त्यजेद्''** (.   ।   ) इति धर्मप्रवृत्तौ स्मृतिसमुच्चयवाक्यं, तद् अवैष्णवपरम्.

(प्रसंगात् निद्रासामयिकपुण्ड्रनियमाः)

यच्च **''निद्रासमयम् आसाद्य ताम्बूलं वदनात् त्यजेत्, पर्यंकात्**

प्रमदां, भालात् पुण्ड्रं, पुष्पाणि मस्तकाद्'' (. ।) इति विष्णुवाक्यं तदपि तथा, विशेषानुल्लेखात्, पुण्ड्रान्तरपरं वा. एतावान् परं विशेषो : रात्रौ स्वेदादिना निवृत्ते पुण्ड्रे भगवत्कर्माद्यभावे सति न कार्यं सायं-प्रातः इतिवद् रात्रौ अविधानात्, शिष्टाचाराभावाद्, रक्षादीनां स्मरणेनापि सम्भवात् च इति दिक्.

(निष्कर्षकारिका)

मतान्तराण्यपाकृत्य श्रुतिस्मृतिसयुक्तिभिः ।।
सच्छिद्रमत्र तिलकं निर्णीतं वैष्णवोचितम् ।।४।।

इति श्रीवल्लभाचार्य-मतवर्ति-श्रीपीताम्बरतनुज-श्रीपुरुषोत्तम-विरचितः
ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः षोडशः
समाप्तिम् अगात्

पाठभेदतालिका

१.प्रकारकस्य इति **ख घ च** पाठेषु २.स्नानेन इति **मु.घ** पाठयोः. ३.दृष्टान्ते 'केवलामृतविमोक्ष'पदेन दार्ष्टान्तिके केवला'ऽमृतविमोक्ष'पदाभावेन इति **मु** पाठः. दृष्टान्ते केवल'विमोक्ष'पदेन द्राष्टान्तिके केवल'विमोक्ष'पदाभावेन इति **ख घ ङ च ज** पाठेषु. पाठपरिग्रहस्तु स्वमत्या शोधनेन.

।। अवतारवादावल्यां ।।

सप्तदशः

।। तुलसीमालाधारणवादः ।।

(मंगलाचरणम्)

तुलसीकाष्ठमालाभिः सर्वदा भूषितान् नरान्।।
हरिनामाक्षरमुखान् नमामि भगवत्परान्।।१।।

(तत्र पूर्वोत्तरपक्षौ)

(को विशेषो हि तुलसी-काष्ठमालाविधारणे ? ।।
इत्येवं पूर्वपक्षेतु समाधानं विधीयते।।२।।
भगवत्प्रापकं ह्येतद् लिंगं भागवतं मतम्।।
विहितं हि पुराणादौ धारणीया ततः सदा।।३।।)

ननु तुलसीमालावद् अन्यासामपि धारणस्य विहितत्वात् को विशेषः तद्धारणे इति चेद्, भगवत्प्राप्त्युपायत्व-वैष्णवचिह्नत्व-पुण्यजनकत्व-नित्यत्वादिः इति वदामः.

तथाहि—स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये **''अतः परं प्रवक्ष्यामि तुलसीमालाफलं बहु, अन्यासामपि माहात्म्यं शृणु, ब्रह्मन्!, सुशोभनं'', ''तुलसीकाष्ठजां मालां कण्ठस्थां वहते तु यो, अप्यशौचो अप्यनाचारो मामेव एति न संशयः. धात्रीफलकृता माला तुलसीकाष्ठसम्भवा दृश्यते यस्य देहेतु सवै भागवतोत्तमः''** (स्क.पु.२ वै.खं.४।२-३) तथा **''तुलसीदलजां मालां ममोत्तीर्णां वहेत्तु यो, पत्रे पत्रे अश्वमेधानां दशानां लभते फलम्''**, तथा **''तुलसीकाष्ठसम्भूतां यो मालां वहते नरः फलं यच्छामि अहं तस्य प्रत्यहं द्वारकोद्भवम्''** (स्क.पु.२ वै.खं.मार्ग.मा.४।६-७), तथा **''तुलसीकाष्ठमालाभिः भूषितः पुण्यम् आचरेत् पितृणां देवतानां च पुण्यं कोटिगुणं कलौ. धारयन्ति न ये मालां हैतुका पापबुद्धयो नरकाद् न**

निवर्तन्ते दग्धाः कोपाग्निना मम'' (स्क.पु.२ वै.खं.मार्ग.मा.४।११-१५) इति भगवद्वाक्यात्. अधारणे प्रत्यवायबोधनात् च[पा.भे.१] नित्यत्वम्.

(अन्यमालातौल्यनिरसनम्)

नच * ''**ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमालाः ये बाहुमूलपरिशोभितशंख-चक्राः ये वा ललाटफलके लसदूर्द्ध्वपुण्ड्राः ते वैष्णवाः भुवनम् आशु पवित्रयन्ति''** (पद्मपुरा.उ.खं.२२५।७०) इति पाद्मोत्तरखण्डे दशमाध्याये शिववाक्ये पूर्वोक्तस्कान्दवाक्ये च मालान्तराणामपि उक्तेः सर्वासां तौल्यम् * इति वाच्यं, स्कान्दे ''**तुलसीकाष्ठसम्भूतं शिरसो बाहुभूषणं धारयेत् कण्ठदेशे तु तस्य नैवास्ति पातकम्''** (द्रष्ट.स्क.पु.२ वै.मार्ग.मा।४।८-१०) इति वाक्यात् तथा पाद्मोत्तरखण्डे कार्तिकमाहात्म्ये नारदवाक्यात् च, ब्रह्मवैवर्तप्रकृतिखण्डे ऊनविंशाध्याये तुलस्युपाख्याने ''**तुलसी काष्ठनिर्माणमालां गृह्णाति यो नरः पदे-पदे अश्वमेधस्य लभते निश्चितं फलम्''** (ब्रह्मवै.प्रकृ.खं.२१।४७) इति वाक्यात् च, तुलसीकाष्ठजा माला सर्वथा धार्या[पा.भे.२]. तुलसीकाष्ठमालामेव प्रस्तुत्य अनुपदमेव अधारणे प्रत्यवायबोधनाद् एतद्धारणस्यैव नित्यत्वनिश्चयात्. तद्दौर्लभ्यएव अन्यासां धात्रीफलादिकृतानां धार्यता, तिलकवद् वैष्णवचिह्नत्वात् च.

(निर्णयसिन्धूक्तिनिरसनम्)

यत्तु निर्णयसिन्धौ ''**निवेद्य केशवे मालाम्''** (नि.सि. ।) इत्यादीनाम् अनाकरत्वम् उक्तं तदपि ब्रह्मवैवर्तस्कान्दपाद्मादिवचसां साकराणां दृश्यमानत्वाद् अकिञ्चित्करमेव.

(पूजादिसमयएव धारणम् इति शंकायाः निरासः)

तर्हि अस्तु पूजादिसमयएव तद्धारणं न सर्वदा इति चेत्, न, तद्धारणस्य सर्वदा आवश्यकत्वात् पूर्वोक्तवाक्येभ्यः तथा निश्चयात्, ''**हरिनामाक्षरमुखं भाले गोपीमृदांकितं तुलसीमालिकोरस्कं न स्पृशेयुः यमोद्भटाः''** (स्क.पु.काशी.खं.२१।६९) इति काशीखण्डे एकोनविंशाध्यायवाक्यात् च. उचितञ्च एतत्, देहस्य क्षणभंगुरत्वात्. ''**न जह्यात् तुलसीमालां**

धात्रीमालां विशेषतो **महापातकसंहर्त्रीं धर्मकामार्थदायिनीम्**'' (पद्मपुरा.ब्रह्म.-खं.२२।१५) इति वाक्यस्यापि पाद्मस्थस्य क्वचिद् दृश्यमानत्वात्. हरिवल्लभसुधोदयादौ अन्येषामपि तादृशां वचसां दृश्यमानत्वात्.

(अगन्धताप्रयुक्तधारणानर्हतानिरसनम्)

नच *''**नागन्धां स्रजं धारयेद् ऋते हिरण्यमय्यां**[पा.भे.३] **स्रजम्**'' (. ।) इति स्मृतेः[पा.भे.४] धारणवचसां निर्बलत्वं शंक्यं, स्मृतेः लोहान्तरपरत्वात् क्रत्वर्थताबोधकत्वाद् वा. एतस्य वाक्यस्य मिताक्षरायां पाठभेदेन दर्शनात्, श्रुतित्वेन अलिखनात् च, श्रुतित्वस्यापि अत्र सन्दिग्धत्वात्. एतस्याः सर्वपरत्वादरे रुद्राक्षधारणस्यापि भवतां निषिद्धत्वापत्तेः, अगन्धत्वस्य तुल्यत्वात्. अनुद्भूतगन्धस्य तुलसीकाष्ठेऽपि सत्त्वात्.

(रुद्राक्षधारणावश्यकताविमर्शः)

नच *''**रुद्राक्षधारणाभावो ज्ञानानुत्पत्तिकारणम्**'' (सूतसंहि. ।) इति सूतसंहितावाक्याद् ज्ञानेच्छोः तद्धारणम् आवश्यकम्* इति वाच्यं, तस्य शैवपरत्वात्. ''**रुद्राक्षदेहसंस्थो यः कुक्कुरो म्रियते यदि सोपि रुद्रपदं याति किं पुनः मानवो गुह! सप्तविंशतिरुद्राक्षमालया देहसंस्थया यः करोति नरः पुण्यं सर्वं कोटिगुणं भवेत्. हस्ते च उरसि कण्ठे च शिरसा चैव धारयेद् अवश्यं सर्वभूतानां रुद्रवद् विचरेन् महीं, सुरासुराणां सर्वेषां वन्दनीयो यथा शिवः, उच्छिष्टो वा विकर्मस्थो युक्तो वा सर्वपातकैः मुच्यते सर्वपापेभ्यो रुद्राक्षस्य च धारणात्. शिखायां बाहुकण्ठे च कर्णयोः चपि यो नरो रुद्राक्षं धारयेद् भक्त्या स शैवं लोकम् आप्नुयाद्**'' (सदा.चन्द्रो. ।) इति सदाचारचन्द्रोदयस्थ-शिवकार्तिकेय-संवादेन तथा निश्चयात्.

ननु वैष्णवस्य तद्धारणनिषेधादर्शनात् तद्धारणे को दोषः इति चेद्, अविहितत्वमेव इति जानीहि. *ननु एवं सति मौक्तिकादिष्वपि तौल्यम्* इति वाच्यम्, ओम् इति ब्रूमो, रागविशेषादेव तद्धारणात्.

अतः ज्ञानस्य स्वतः अपुरुषार्थत्वाद् ''**मोक्षम् इच्छेद् जनार्दनाद्**'' (. ।) इति वाक्येन ज्ञानफलस्य भगवदधीनत्वात् च भगवत्प्राप्तीच्छोः तुलसीधारणस्यैव आवश्यकत्वात्. ''**मामेव एति न संशयः**'' (स्क.पु.२ वै.खं.-४।२-३) इति पूर्वोक्तवाक्यात्. ''**श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये तेषाम् असौ क्लेशलएव शिष्यते नान्यद्, यथा स्थूलतुषावघातिनाम्**'' (भाग.पुरा.१०।१४।४) इति श्रीभागवतवाक्येन भक्त्यपेक्षया ज्ञानस्य जघन्यत्वात्. अतो भगवदीयानां तुलसीकाष्ठमालाधारणमेव उचितम्. येच तुलसीधारिणं दृष्ट्वा निन्दन्ति तेषां स्वरूपं गारुडाद् ज्ञेयम् ''**कृष्णायुधांकितं विप्रं तुलसीकाष्ठभूषितं दृष्ट्वा निन्दापरो यस्तु स बौद्धो नतु वैष्णवः**'' (. । ।) इति तथा ''**धारयन्ति न ये मालां हैतुकाः पापबुद्धयः नरकाद् न निवर्तन्ते दग्धाः कोपाग्निना हरेः**'' (स्क.पु.२ वै.ख.४।१५) ''**तुलसीकाष्ठम् आलोक्य कण्ठे वा मस्तके करे निन्दां कुर्वन्ति ये मूढा म्लेच्छजाः ते न संशयः. अत्र अतिशयम् आलोक्य तुलसीं द्वेषयन्ति ये बहुना उक्तेन किं पार्थ सर्वे ते अन्यरेतजाः. तुलसीकाष्ठधृग्विप्रान् वैष्णवान् दूषयन्ति ये, सर्वे ते रौरवं यान्ति संशयो नास्ति नारद!**'' (ह.व.सु. ।) इति हरिवल्भसुधोदयस्थवाक्येभ्यः च.

(जपेऽपि तुलस्याः प्राधान्यम्)

जपोऽपि तन्मणिभिरेव साधीयान्, ''**तुलसीकाष्ठघटितैर् मणिभिर् जपमालिका सर्वकर्मणि सर्वेषाम् ईप्सितार्थफलप्रदा**'' (रामा.चन्द्रि. । - ।) इति रामार्चनचन्द्रिकावाक्यात्. ''**तुलसीसम्भवा यातु मोक्षं वितनुते अचिराद्**'' (गौत.तन्त्र.७।) इति गौतमीतन्त्रसप्तमाध्यायवाक्यात् पुरश्चरण-चन्द्रिकायां वैष्णवे ''**तुलसीमाला**'' (. ।) इति वाक्यात्. तत्र धर्मप्रवृतौ च ''**तुलसीमणिभिश्चैव गणितं च अक्षयं भवेद्**'' (ध.प्र. ।) इति, अगस्त्यसंहितायां षष्ठे अध्याये ''**यः कुर्यात् तुलसीकाष्ठैः अक्षमालां सुरूपिणीं कर्णमालां प्रयत्नेन कृतं तस्य अक्षयं भवेद्**'' (अग.संहि.६।) इत्यादिवाक्येभ्यः.

यद्यपि ''**रुद्राक्षैः च अनन्तम्**'' (शिवपुरा. । ।) इति शिवपुराणे अस्ति तथापि तत् सकामपरं शैवपरं वा (वाक्यं!) प्रकरणवशाद् बोध्यं वैष्णवपुराणादिषु वैष्णवनिबन्धेषु च तदादरस्य अदर्शनाद् इति.

(प्रासंगिकं जपमालामणिसंख्यानिरूपणम्)

अथ प्रासंगिकम् उच्यते : जपमालामणिसंख्याम् आह अथ आचारमाधवे प्रजापतिः ''**अष्टोत्तरशतं कुर्यात् चतुपञ्चाशकं तथा सप्तविंशतिकाः कार्याः ततो नैव अधिका हिताः. अष्टोत्तरशता माला उत्तमा परिकीर्तिता. चतुःपञ्चशिका वत्स मध्यमा परिकीर्तिता. अधमा प्रोच्यते नित्यं सप्तविंशतिसंख्यया**'' (आचा.माध. ।) इति. गौतमीयतन्त्रेऽपि ''**अष्टोत्तरशतमणिविर्निर्मिता यातु मालिका राज्यं वितनुते नृणां देहान्ते मोक्षम् अप्नुयाद्**'' (गोत.तन्त्र. ।) इति अलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या.

(निष्कर्षः)

तस्माद् वैष्णवैः साम्प्रदायिकैः तुलसीकाष्ठमालैव धार्या तदभावे धात्रीफलादिसम्भवा वैष्णवैकचिह्नत्वात्, जपेऽपि तस्याएव प्रशस्ततरत्वात् च. नच रुद्राक्षादिसम्भवा इति निश्चयः.

इति नानानिबन्धानां वैष्णवाचरितस्य च।।
दर्शनादत्र निष्कृष्टं तुलसीकाष्ठधारणम्।।४।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यमतवर्ति-श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतान-
श्रीपीताम्बर-तनुज-पुरुषोत्तम-विरचितः सप्तदशः
तुलसीमालाधारणवादः सम्पूर्णताम्
अफाणीत्

पाठभेदतालिका

१.केवलमपि फलावहं कर्मांगभूतं नित्यं च इति **ख ङ** पाठयोः. २.वैष्णवचिह्नत्वात् शिष्टपरम्पराप्राप्तत्वात् च. यद्यपि मालान्तरमपि अत्र उक्तं स्कान्दे तथापि इति **ख ङ** पाठयोः. ३.हिरण्य इति **मु** पाठः. ४.श्रुतेः इति **मु** पाठः.

।। अवतारवादावल्यां ।।

अष्टादशः

।। शंखचक्रधारणवादः ।।

(मंगलाचरणम्)

कृष्णं भजन्ति ये प्रेम्णा तदंगत्वेन तन्मृदा ।।
शंखादिचिह्नितांस्तान्वै ब्राह्मणान् प्रणमाम्यहम् ।।१।।

(विचार्यविषयोपक्रमपूर्वपक्षौ)

अत्र इदं विचार्यते : शंखचक्रादिधारणं ब्राह्मणादीनां सर्वेषां कर्तव्यं शूद्राणामेव वा इति. किम् अत्र युक्तम् ? शूद्राणामेव इति. कुतः ?

शंखचक्राद्यंकनं च नृत्यगीतादिकं तथा ।।
एकजातेः अयं धर्मो न जातु स्याद् द्विजन्मनः ।।२।।

''शंखचक्रं मृदा यस्तु कुर्यात् तप्तायसेन वा स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः. यथा स्मशानजं काष्ठम् अनर्हं सर्वकर्मसु तथा चक्रांकितो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः'' (विष्णु. । ।) इति विष्णुवाक्येषु शंखादिधारणस्य शूद्रधर्मताव्यवस्थापनपूर्वकं द्विजातिधर्मतानिषेधात्, धारणे कर्मबहिष्कारगर्हयोः स्मरणात् च. नच * **''शंखादिचिह्नरहितः पूजां यस्तु समाचरेत् निष्फलं पूजनं तस्य हरिश्चापि न तुष्यति''** (. । ।) इत्यादिवाक्येषु अधारणे प्रत्यवायस्मरणात् तत् नित्यमिति विहितप्रतिषिद्धत्वाद् ऐच्छिको विकल्पः* इति वाच्यम्, ईदृशां सामान्यवचसाम् ''एकजातेः अयं धर्मः'' इत्यनेन उपसंहाराद् अस्य ऐच्छिकविकल्पाप्रसञ्जकत्वात्. नच *निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वाद् विधिं विना च तदयोगाद् उपजीव्यविरोधेन **''न तौ पशौ करोति''** (श.प.ब्रा.१।५।३।२५) इतिवद् अनिवार्यो विकल्पः*

इति वाच्यं, ''**भूमौ अग्निः चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि**'' (.   ।   ।   ) इतिवत् निषेधस्य नित्यानुवादरूपत्वात्. नच * ''**चक्रलाञ्छनहीनस्य विप्रस्य विफलं भवेत् क्रियमाणं च यत् कर्म वैष्णवानां विशेषतः**'' (स्क.पु.वै.खं.मार्ग.खं.४।५८) इति स्कान्द-मार्गशीर्ष-माहात्म्य-वाक्याद् विप्रस्यापि धारणविधिप्राप्ते न निषेधस्य नित्यानुवादत्वम् * इति वाच्यम्, एतस्य अवैदिकतान्त्रिकपरत्वात्. ''**विष्णवागमादितन्त्रेषु दीक्षितानां विधीयते. शंखचक्रगदापद्मैर् अंकनं नान्यदेहिनां, वेदमार्गैकनिष्ठस्तु मोहेनापि अंकितो यदि पतत्येव न सन्देहस्तथा पुण्ड्रान्तरादपि, नांकनं विग्रहे कुर्याद् वेदपन्थानम् आश्रितः पुण्ड्रान्तरं भ्रमाद् वापि ललाटे नैव धारयेद्**'' (सूतसंहि.   ।   ) इति सूतसंहितावाक्येन तथा निश्चयात्. तस्मात् शूद्रैः तान्त्रिकैः च अवैदिकैः शंखचक्रादिकं धार्यं, नतु कथमपि वैदिकैः त्रैवर्णिकैः शिष्टैः, इति प्राप्ते—

(नित्यपूजांगत्वेन शीतलमुद्राः गोपीचन्दनमृदा धारणीयाः इति सिद्धान्तः)

उच्यते—

नित्यत्वे सति पूजांगत्वोपवीताऽतिदेशतः॥
केवले सेधतः शिष्टैर् धार्यं शंखादिकं मृदा॥३॥

तथाहि—''**शंखादिचिह्नरहितः पूजां यस्तु समाचरेत् निष्फलं पूजनं तस्य हरिश्चापि न तुष्यति**'' (.   ।   ।   )इति चक्रलाञ्छनहीनस्य इत्यादिवाक्येषु पूजांगत्वेन नित्यत्वं शंखादिधारणस्य उक्तम्. ''**प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेत् यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः**'' (नार.पुरा.   ।   ।   ) इति कालनिर्णयदीपिकायां नारदीयात्. ''**न विष्णवाराधनात् पुण्यं वर्तते कर्म वैदिकं तस्मादनादिमध्यान्तं नित्यम् आराधयेद् हरिं 'तद्विष्णोर्...' इति मन्त्रेण सूक्तेन पुरुषेण तु**'' (कूर्मपुरा.१।१८।९३-९४) इति आचारमाधवे कौर्मात् च, ब्राह्मणादीनां विष्णुपूजापि नित्या. एवं सति नित्यायाः पूजायाः नित्यम् इदम् अंगमिति तस्याः व्यंगत्वपरिहाराय इदं सर्वेषाम् आवश्यकम्. पौराणिकधर्मस्य श्रौतस्मार्तधर्मांगत्वात् च.

जन्माष्टम्यादिपूजानां पौराणत्वेन तस्य आवश्यकत्वात् च. तेन पूजांगबोधकवाक्यानां सामान्यत्वेऽपि शूद्रादिविषयत्वेन उपसंहारो अनवधानरमणीयएव. नच इदम् अप्रयोजकं निषेधनिन्दादिवाक्येषु केवलधारणस्यैव निषेधनिन्दयोः दर्शनात् तयोः पूजाकर्तरि पाखण्डतासम्पादनाशक्तत्वात्. अन्यथा तादृशमपि क्वचिद् निन्देत्. अतः शूद्रधर्मताव्यवस्थापनं द्विजातिधर्मतानिषेधनं धारकगर्हादिकं च केवलस्यैव इति निश्चेयम्.

किञ्च "**गोपीचन्दनमृत्स्नाया लिखितं यस्य विग्रहे शंखचक्रगदापद्मं तस्य देहे भवाम्यहम्. सौवर्णं राजतं ताम्रं कास्यं मृण्मयमेव वा चक्रं कृत्वातु मेधावी धारयेत विचक्षणः. उपवीतादिवद् धार्याः शंखचक्रगदादयः ब्राह्मणस्य विशेषेण वैष्णवस्य विशेषतः. उपवीतं शिखाबद्धं चक्रलाञ्छनसंयुतं विप्रत्वं सफलं तस्य वैष्णवत्वं विशेषतः. चक्रलाञ्छनहीनस्य विप्रस्य विफलं भवेत् क्रियमाणं च यत् कर्म वैष्णवानां विशेषतः**" (स्क.पु.वै.खं.मार्ग.मा.३।५-३।५७) इति स्कान्द-मार्गशीर्षमाहात्म्य-तृतीयाध्याय-वाक्ये च. 'ये मृदा' इति शंखादिधारणम् उपक्रम्य 'उपवीतादिवत्' तद् अतिदिश्यते. उपवीतञ्च देवलक्ष्म कर्मांगभूतं नित्यं च "**उपवीतञ्च देवानाम् उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते**" (तैत्ति.संहि.२।५।११) इति, "**तस्माद् यज्ञोपवीत्येव अधीयीत याजयेद् यजेत वा यज्ञस्य प्रसृत्या**" (तैत्ति.आर.२।१) इति श्रुतेः. "**सदा उपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च विशिखो व्युपवीतः च यत् करोति न तत् कृतम्**" (.   ।   ) इति स्मृतेः च. शिखाच आकुमारम् आत्रिदण्डि नित्या. तद्वद् इदमपि देवलक्ष्म कर्मांगं नित्यं च. तदेतद् आतिदेशिकं नित्यत्वादिकम् 'उपवीतं' 'शिखा' इत्यादि वाक्यद्वयेन दृढीक्रियते. 'ब्राह्मण'पदं 'विप्र'पदं च कण्ठतो अत्र पठ्यते. तेन अस्य वैष्णवद्विजातिधर्मत्वसिद्धौ तन्निषेधो न नित्यानुवादः इति निश्चीयते.

वस्तुतस्तु वैयासे दर्शने देवानां कर्माधिकारांगीकारात् तेषां योगादिबलेन अन्तरिक्षादावपि करणसम्भवात् प्राप्तिपूर्वकएव तत्रापि निषेधः. "**न कलञ्जं भक्षयेद्**" (.   ।   ) इतिवत्. व्यासस्य गुरुत्वेन तद्विरुद्धानां जैमिनीयानाम्

अनादरणीयत्वात्. नापि तान्त्रिकपरत्वं 'विप्र'पदात्. ''**वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः**'' (. । ।) इति तन्निर्वचनात्. वस्तुतस्तु निषेधादिवाक्येषु 'अंकन'पदात् तप्तधारणस्यैव निषेधः तान्त्रिकपरत्वं च. 'अंकन'पदेन तथा निश्चयात्. 'अंकन'पदस्य वृषोत्सर्गादौ दाहनएव प्रसिद्धत्वात्. अन्यथा पुण्ड्रइव अत्रापि 'धारण'पदमेव वदेत्. अतएव ''**यस्तु संतप्तशंखादिलिंगचिह्नतनुः नरः स सर्वयातनाभोगी चण्डालो जन्मकोटिषु द्विजन्तु तप्तशंखादिलिंगांकिततनुं नरः संभाष्य रौरवं याति यावदिन्द्राः चतुर्दश**'' (बृह.नार.पुरा. । ।) इति पृथ्वीचन्द्रोदयस्थे बृहन्नारदीयवाक्ये 'तप्ता'दिपदोक्तपूर्वकमेव निन्दास्मरणम्.

नच * विष्णुना मृदा धारणस्यापि निषिद्धत्वात् न इदं साम्प्रतम् * इति वाच्यं, तत्र तन्निषेधस्य अविवक्षिततत्वात्. यथा श्रुतौ ''**निर्यासस्य नाश्यं ब्रह्महत्यायैहि एष वर्णः**'' (तैत्ति.संहि.२।५।१।२) इति उपक्रम्य अग्रे ''**यएव लोहितो यो वा आव्रश्चनाद् निर्येषति तस्य नाश्यम्**'' (तत्रैव) इति पर्यवसानवचनात् तस्यैव निषेधः विवक्षितो न निर्यासमात्रस्य इति निर्णयः; तथा, प्रकृतेऽपि तप्तायसे पर्यवसानात् तन्निषेधस्यैव निवक्षितत्वनिर्णयेन मृदा धारणनिषेधस्य अविवक्षितत्वनिश्चयात्.

नच * श्रुतौ सामान्यविशेषभावप्रतीतेः युक्तो विशेषे निषेधोपसंहारः, प्रकृतेतु उभयत्र विशेषोल्लेखाद् वैरूप्यम् * इति वाच्यम्, अबोधाद्. भक्षणस्य रागतः प्राप्तेः तत्र तथाकथनस्य युक्तत्वात्. प्रकृतेतु तदभावाद् उल्लिखितोऽपि विशेषो अस्य शास्त्रीयत्वज्ञापनपरइति सामान्यतानपायेन वैरूप्याभावात्. एतेनैव ''**चक्रांकिततनुः यस्तु मृदा कार्ष्णायसेन वा स शूद्रवद् बहिष्कार्यः**'' (पारा. । ।) इति पराशरमाधवीयपाठोऽपि दत्तोत्तरो ज्ञेयः. किञ्च 'अंकन'पदस्य साधारणत्वांगीकृतौ पूर्ववाक्ये सामान्यनिषेधस्य इहापि सत्त्वात् न वैरूप्यं प्राप्तावसरम्. ''**लोहितान् वृक्षनिर्यासान्**'' (मनु.स्मृ.५।६) इतिवद् वाक्यान्तरे मृद्धारणनिषेधादर्शनात्. सत्त्वेऽपि केवले सावकाशत्वात् कथमपि पूजांगस्य मृदा धारणस्य निषेधो न सम्भवदुक्तिकः. किञ्च ब्राह्मणस्य निषिद्धं वैष्णवस्य विहितं तत्र ब्राह्मणः चेद् वैष्णवो भवति तदा ''पूर्वात्

परबलीयस्त्व''न्यायादपि तत्प्राप्तेः निषेधो न शक्यवचनः. ''**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः भक्ताः**'' (भग.गीता.९।३३) इति वाक्याद् भक्तिप्रयुक्तस्य ब्राह्मणवैष्णवत्वस्य अतिप्रशंसनात्, सिद्ध्यति पूर्वस्मात् कार्ये परविधानवैयर्थ्यापातात् च. वैष्णवत्वस्यच संस्काररूपत्वेन परत्वात् भक्तेरपि पुंस्त्वादिवत् सत्याअपि उत्तरकालएव प्रादुर्भावात्. तत्र वैष्णवत्वम् ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादएव विवेचितम्. नच तस्य ब्राह्मणत्वापेक्षया पूर्वत्वं सम्भवति ब्राह्मणत्वस्य वर्णत्वेन साहजिकत्वात्. ''**दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणः**'' (तैत्ति.ब्राह्म.१।२।७) इति श्रुतेः.

इदमपि त्वद्रीत्या उक्तम् यदिच 'ब्राह्मण'पदेन ब्रह्मज्ञो अभिप्रेयते तदातु निषेधगन्धो न उपैति, निषेधादिवाक्येषु 'ब्राह्मण'पदाभावात्; प्रत्युत, विधिवाक्यएव 'ब्राह्मण'पदात्. एतेनैव ''**शिवकेशवयोः चिह्नान् शूलचक्रादिकान् द्विजो न धारयेत मतिमान् वैदिके वर्त्मनि स्थितः**'' (आश्व. । ।) इति आश्वलायनवचनमपि प्रत्युक्तं 'ब्राह्मण'पदाभावात् 'द्विज'पदस्य वर्णवाचकत्वादरणेऽपि शिवकेशवपदात् समुच्चित्य उभयलिंगधारणस्य कुत्रापि अविधानेन भ्रान्तप्रतिपन्नत्वात् तथा धारणएव निषेधसंक्रमेण केवलकेशवचिह्नधारणे निषेधाप्रसक्तेः. अन्यथा उपजीव्यविरोधेन विकल्पप्रसक्तेः दुर्वारत्वात्, तप्तधारणे निषेधोपसंहारस्य शक्यवचनत्वात् च. नच * निषेधानाम् उपसंहारो नास्ति * इति वाच्यं, वृन्ताक-श्वेतवृन्ताकनिषेधे माधवहेमाद्रिभ्यां तदंगीकाराद् उक्तश्रुतेः च.

(तप्तमुद्राधारणविचारः)

*ननु भवतु एवं तथापि तप्तधारणम् इतोऽपि प्रशस्तं, पाद्मोत्तरखण्डे सुदर्शनमाहात्म्याध्याये ''**शंखचक्रांकनं कुर्याद् उभयोः बाहुमूलयोः, हुताग्निनातु संतप्य सर्वपापापनुत्तये. वह्निनैव तु संतप्तं चक्रम् आदाय वैष्णवो धारयेत् सर्ववर्णानां हरिसालोक्यकाम्यया**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।२९-३०) तथा ''**चक्रचिह्नविहीनस्तु यः पूजयति केशवं तत् सर्वं निष्फलं याति पूजामन्त्रजपादिकम्**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।३२-३३) ''**चक्रं वा शंखचक्रे**

वा तथा पञ्चायुधानि वा, **धारयित्वैव विधिवत् सर्वकर्म समाचरेत्**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।३०-३१) ''**अधृत्वा विधिना चक्रं ब्राह्मणः प्राकृतो भवेत् न तस्य किञ्चिद् अश्नीयादपि क्रतुसहस्रिणः**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।४०-४१) इत्यादिवाक्यैः. तथा सति विहितप्रतिषिद्धत्वात् प्राप्ते विकल्पे स्मार्तवैष्णवपरत्वेन उभयव्यवस्थापनम् उचितम् ''**तस्मात् चक्रादिहेतीनाम् अंकनं वैष्णवं स्मृतं चक्रादिचिह्नहीनत्वाद् वैष्णवत्वं न लभ्यते**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।८०) इति तत्रैव वाक्यात्. बृहन्नारदीयाश्वलायनवाक्यवि-रोधस्तु मृदा धारणविचारएव सिद्धान्तिना परिहृतः. उचितः च असौ रूद्रसाधारणबुद्ध्या भगवन्तं जानतएव शूलादिधारणसम्भवात्, तादृशबुद्धिमतः च ''**यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेत् सदा**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२३५।९) इति पाद्मोत्तरखण्डे पाषण्डोत्पत्तिकथना-ध्याये पार्वतीं प्रति शिववाक्याद् * इति चेत्, न इदं युक्तं, विष्णुवाक्यविरोधस्य दुष्परिहरत्वात्. नच विकल्पो युक्तः पुराणापेक्षया स्मृतेः बलवत्त्वात्. ''**श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते तत्र श्रौतं बलिष्ठं स्यात् तयोः द्वैधे स्मृतिः वरा**'' (व्याससंहि.१।४) इति व्यासस्मरणात्.

किञ्च पाद्मे सुदर्शनमाहात्म्यतृतीयाध्याये ''**सर्वेषामेव देवानां ममापि पुरुषोत्तमः पूजनीयो हरिः नित्यं ब्राह्मणानां विशेषतः. तस्मात्तु ब्राह्मणो नित्यं विधिवत् पूजयेद् हरिं, तच्चिह्नैर् अंकितः श्रीशपदं प्राप्नोति असंशयः**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।२७,२८,२९) इति उपक्रमात् ''**तस्मात् चक्रादिहेतीनाम् अंकनं वैष्णवं स्मृतं, चक्रादिचिह्नहीनत्वात् वैष्णवत्वं न लभ्यते**'' इति उपसंहारात्, मध्ये च ''**द्विविधं वैष्णवं प्रोक्तं बाह्यम् आभ्यन्तरं तथा शंखचक्रादिभिर् बाह्यम् आन्तरं वीतरागता. बाह्याभ्यन्तरसाम्यं यत् तद् वैष्णवम् उदाहृतम्**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।७६-७७) इति वाक्यात् च चक्रादिधारणस्य पूजाद्यंगत्वं वैष्णवीय-बाह्य-चिह्नत्वं च सिद्ध्यति, नतु मुख्यत्वं तत् च मृदा धारणेऽपि तुल्यम्. यत्तु *नृसिंहपरिचर्यायाः शिवलिंगाकितवृषवद् अनन्याधीनतायै तप्तचक्रादीनि धारयेद् * इति उक्तं, तदपि एतेनैव निरस्तं ज्ञेयम्, अनन्याधीनतायाअपि आन्तःकरणिकायाएव

मुख्यत्वाद् , भेदवादस्य श्रुत्यनभिमतत्वात् च. लोकसंग्रहार्थानां कर्मणां संन्यासात् पूर्वम् आदरणीयत्वाद् भक्त्यविरुद्धत्वात् च इति. किञ्च कालो अयं कलिः बुद्ध्यादयः च अन्नादिवशाइति बुद्धेः विपर्यासे तावन्मात्रेण सिद्ध्यभावाद् अंगीभूतायाः पूजायाः कालादिवशाद् अकरणे पाक्षिकदोषस्यापि प्रसक्तिः. अतोऽपि मृदैव धारणम् उचितम्.

केचित्तु शंखचक्रधारणं हारीतेन उक्तम् इति आहुः, यदि तत् तथा तदापि विकल्पप्रसक्तेः पूर्वोक्तरीत्यैव व्यवस्थापनम् उचितम्. तदा शिष्टाचारप्राप्तत्वात् तौल्यमेव पक्षद्वये. यत्तु *पुराणेषु ध्रुवाम्बरीषादीनां तप्तधारणम्* उक्तं, तदपि सेवकानां ''**करौ हरेः मन्दिरमार्जनादिषु**'' (भाग.पुरा.९।४।१८) इत्यादिवाक्यैः पूजकत्वेन प्रसिद्धानामेव उक्तम्. नतु पूजारहितानामिति न तेनापि तप्तधारणस्य आधिक्यसिद्धिः. यत्तु रामार्चनचन्द्रिकायां ''**अतप्तनूः न तदामो अश्नुते**'' (ऋक्संहि.९।८३।१) इति श्रुतिम् उपन्यस्य धारणस्य श्रौतत्वम् उक्तं, तत् न, अत्र विध्यभावात्. ''**ऐन्द्र्या गार्हपत्यम् उपतिष्ठते**'' (मैत्रा.संहि.३।२।४) इतिवद् एतद्विनियोजकश्रु-त्यन्तराभावात् च. किञ्च इयं श्रुतिः ''**पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुः गात्राणि पर्येषि विश्वतः**'' (ऋक्संहि.९।८३।१-तैत्ति.आर.१।२।१) इत्यस्य उत्तरार्द्धभूता पवमानसोमदेवताके षोडशे पञ्चर्चसूक्ते अस्ति, तेन तमेव प्रकाशयति. ''**सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति**'' (कठोप.२।१५) इति श्रुतिम् आदाय भगवत्परत्वेन व्याख्यानेतु रासस्थवृत्तान्तं वक्तीति न अत्र युज्यते.

तथाहि—हे 'ब्रह्मणस्पते'=अक्षरस्वामिन्! ''**प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुद्भवः**'' (त.दी.नि.२।१०२।१) इति, 'ते विततं'=विस्तारः ''**कृत्वा तावन्तम् आत्मानम्**'' (भाग.पुरा.१०।३०।२०।) इत्यादिरूपः. 'पवित्रं'=कामादिशबलनिवर्तकम्. तत्र हेतुः 'प्रभुः'=समर्थो भवान् 'गात्राणि'= भक्तानां शरीराणि 'विश्वतः पर्येषि'=अन्तर्बहिः व्याप्नोषि. यतः एवम् अतः ताअपि वह्न्ययोगोलन्यायेन व्याप्ताः निष्कामाः भवन्तीति तथा. एवं तत् स्तुत्वा तस्य दुर्लभत्वम् आह 'अतप्ततनूः'=विरहतापरहितः 'तत्'=पूर्वोक्तं

'न अश्नुते'=न विशेषेण आप्नोति. कथम् एवं ज्ञायते? इति आकांक्षायां वैधर्म्यदृष्टान्तम् आह 'शृतासः' "**सिंच अंग!...**" (भाग.पुरा.१०।२६।३५) इत्युक्तप्रकारेण पक्वाः वहन्तः सम्प्रापयन्तः तत्समासतः प्राप्तवन्तः इति अवधारणे तथा इति अर्थः. "तयोः पवित्रम्" इति अग्रिमन्तु तदाग्रिमऋगारम्भइति न किञ्चिद् एतद्.

एवमेव हरिवल्लभसुधोदयेऽपि ऋक् पूर्वोक्तसूक्तीया शंखचक्रादिधारणपरत्वेन लिखिता "**चमूषत् श्येनः शकुनो बिभृत्वा गोविन्दु ईप्स आयुधानि बिभ्रद् अपाम् ऊर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति**" (ऋक्संहि.९।९६।१९) सापि नरकासुरवधोद्युक्तस्य भगवतो वृतान्तं वक्ति. तथाहि : 'चमूषत्'=चमूः नरकसेनाः अवसादयन् 'श्येनः'=शंसनीयः शूरैः युद्धद्रष्टृभिः देवादिभिः वा 'शकुनः'=शक्तो, हेतुगर्भ विशेषणं, 'बिभृत्वा'=युद्धहतैः असुरादिदेहैः विशेषेण पूरयित्वा, 'गोविन्दुः'=भगवान्, उप्रत्ययान्तो निपातः, 'ईप्सः'=सेनाविद्रावणशीलः, अन्तर्भावितण्यर्थः, 'आयुधानि'=बिभ्रत् सुदर्शनादीनि धारयन्, हेतुगर्भं विशेषणम्, 'अपाम्'=उदकानाम् 'ऊर्मि'=प्रेरकं 'समुद्रम्'= उदधिम् अन्तरिक्षं वा 'सचमानः'=सेवमानः, 'महिषः'=महीयान् 'तुरीयं'=संकर्षणं, चतुर्व्यूहेषु अन्यतमं, 'धाम'=स्वतेजः 'विवक्ति'=विशेषेण वक्ति, तादृशपराक्रमेण ज्ञापयति इति अर्थः.

"**चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतः तरति दुष्कृतानि तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानम् अरातिं तरेम**" (महाना.उप.५।१०) इति तैत्तिरीयश्रुतिस्तु 'पवित्र'त्वलिंगेन त्रिविक्रम'चरणं' बोधयन्ती, 'तेन'=ब्रह्मणा प्रक्षालनात् 'शुद्धेन'=सता यत् 'पवित्रं'=गांगम् अम्भः 'तेन पूता' इति वक्ति इति बोध्यम्. 'पवित्र'-'चरण'पदयोः अत्र दर्शनात् सुदर्शनपक्षे पुनरुक्त्यापत्तेः च. "**सुदर्शनं सहस्रारं पवित्रं चरणं पविः**" इति निघण्टौ, "**पवित्रं चरणं नेमिः हरेः चक्रं सुदर्शनं सहस्रारं प्राकृतघ्नं लोकद्वारं महौजसं नामानि विष्णुचक्रस्य पर्यायेण निबोध मे**" (पद्मपुरा.उ.खं. २२४-६३,६४) इति पाद्मे श्रीशास्त्रे च पर्यायताकथनात् तथापि तप्तलिंगदर्शनात् च.

तथाच अनयापि न निर्वाहः.

यातु ''**प्र तद् विष्णो अब्जचक्रे सुत**''(. ।) इति, याच ''**धृतोर्ध्वपुण्ड्रः कृतचक्रधारी**'' (. ।) इति क्वचित् लिखिते ते श्रुती इदानीम् अप्रसिद्ध्यमानेअपि पाद्मे सुदर्शनाध्याये ''**तथैव साम्नि यजुषि ऋषिप्रोक्तं शुभानने**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४-५८) इति उक्त्वा किञ्चित् पाठवैषम्येण उक्ते, ताभ्यां श्रौतं भवतु. एताभ्यामेव अन्याअपि श्रुतयो व्याख्याताः ज्ञेयाः. भगवच्छास्त्रोपात्तत्वेन कल्पाद्युपात्त-यज्ञोपवीतादि-मन्त्रवत् प्रामाण्येऽपि तेषाम् उपक्रमादिसन्दंशपतितत्वात्. तत्रापि उपक्रमे पूजांगतामेव उक्त्वा धारणस्य फलान्तरस्य च उक्तत्वात् तदंगत्वेनैव धारणं फलावहं नतु केवलम्, ''**अंगे फलश्रुतिः अर्थवादः**'' (न्या.बि.४।३।१) इति न्यायात्. एवं सति पूजादिव्यंगतापरिहारो वैष्णवबाह्यचिह्नता फलानुकूलता च मृदाधारणेऽपि तुल्या. अतः कालदोषसंसर्गभिया इदमेव कार्यम्.

ननु अस्ति भगवानेव रक्षकइति न कालभीतिः इति चेत्, सत्यं, परं तत्र तादृशी भक्तिः अपेक्ष्यते तस्याः च ज्ञापको देहगेहादिषु रागाद्यभावइति यावत् न तथा तावद् इदमेव साधीयः. ये पुनः धारणं तप्तैः पूर्वम् आग्रहेण कुर्वन्तः, पूजादिकं कदाचित् कुर्वन्ति न कुर्वन्ति च, तेषाम् आशयं तएव विदन्ति, इति अलम् उक्त्या. एवञ्च पूजांगधारणोत्तरं श्राद्धे प्राप्ते तत्स्थापनम् उचितमेव. तथा उक्तं स्कान्दे मार्गशीर्षमाहात्म्ये मृदा धारणं प्रकृत्य ''**शंखायुधांकितो भक्त्या श्राद्धं यः कुरुते सुतो विधिहीनन्तु सम्पूर्णं पितृणाम् अक्षयं भवेद्**'' (स्क.पु.२।वै.खं.मार्ग.मा.३।३९) इति ''**शंखांकिततनुः विप्रो भुङ्क्ते वै यस्य वेश्मनि तदन्नं स्वयम् अश्नाति पितृभिः सह केशवः**'' (स्क.पु.२।वै.खं.मार्ग.मा।३।४५) इति च. 'शंख'पदम् आयुधान्तराणामपि उपलक्षणार्थकम् इतितु प्रकरणादेव स्फुटति. एवमेव पाद्मे तप्तचक्रधारणं प्रकृत्य ''**विष्णुचक्रविहीनन्तु यः श्राद्धे भोजयिष्यति व्यर्थं भवति तत् सर्वं निराशाः पितरो गताः**'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।३५-३६) इति. अग्रेच ''**अचक्रधारिणं विप्रं दूरतः परिवर्जयेत् श्वपाकमिव नेक्षेत**

लोके विप्रम् अवैष्णवम्. वैष्णवो वर्णबाह्योऽपि पुनाति भुवनत्रयम्'' (पद्मपुरा.उ.खं.२२४।५२-५३) इति उक्तम्. तेन श्राद्धेऽपि वैष्णवएव ब्राह्मणः शंखचक्रोर्ध्वपुण्ड्रवानेव भोजनीयः. यानि निषेधनिन्दावाक्यानि तानि शैवस्मार्तादिपराणि इति दिक्.

(शंखादिमुद्राधारणप्रकारनिरूपणम्)

तद्धारणप्रकारस्तु स्कान्दपाद्मादिषु. तथापि सारसंग्रहे ब्राह्मे ''यस्य नारायणी मुद्रा देहं शंखादिचिह्नितं सर्वांगं चिह्नितं यस्य शस्त्रैः नारायणोद्भवैः प्रवेशो नास्ति पापस्य कवचं तस्य वैष्णवम्. चक्रं च दक्षिणे बाहौ शंखं वामेऽपि दक्षिणे गदां वामे गदा अधस्तात् पुनः चक्रं च धारयेत् शंखोपरि तथा पद्मं पुनः पद्मं च दक्षिणे. उभयोः नाममुद्रान्तु सम्प्रदायानुसारतः'' (ब्रह्मपुरा. । ।) इति सनत्कुमारवाक्येन उपसंहाराद् यथासम्प्रदायं व्यवस्था. सच प्रकारः स्फुटएवेति उपरम्यते.

(श्रीभट्टोजीदीक्षितोद्भावितानामाक्षेपाणां निरासः)

यत्तु भट्टोजिदीक्षिताः * तन्त्राधिकारिणो निरूप्य ''तप्तमुद्रा हि अन्त्यजाय हरिणा निर्मिता पुरा, भूदेवः तप्तमुद्रान्तु चिह्नं कृत्वा विगूढधीः इह जन्मनि शूद्रः स्याद् मृतः श्वा च अभिजायते'' (ब्रह्मपुरा. । ।) इति ब्राह्मदशमाध्यायवाक्यम् ''शृणु राम महाबाहो लिंगचक्रादिधारिणां शूद्रधर्मरतानां हि तेषां नास्ति पुनर्भवः. विप्रस्य एतद् विगर्ह्यत्वात् प्रायश्चित्तम् उदीरितम्'' (पद्मपुरा. । ।) इति पाद्मं वाक्यं, ''शिवकेशयोः चिह्नं शूलचक्रादिकं द्विजो न धारयेत मतिमान् वैदिके वर्त्मनि स्थितः. त्यक्तवैदिककर्माणो नास्तिका नटनर्तकाः, ते धारयेयुः चिह्नानि शिवयोः भिन्नबुद्धयो, वेदाक्षरविहीनानां नास्तिकानां द्विजन्मनां विहितं धारणं नित्यं चिह्नानां केशवेशयोः. तेषां भिन्नधियां किञ्चित् सुगत्यर्थे शिवः पुरा. कृपया तत् चकार इह पुराणेषु उदितं च तद्'' (आश्व.६।) इति आश्वलायनषष्ठाध्याय वाक्यानि ''वेदमूलतया नित्यं प्रवृत्ताअपि सत्तम!

क्वचित् कदाचित् स्मर्तारः तन्त्रार्थं च ब्रुवन्ति वै. क्वचित् तन्त्रानुरोधेन धर्मं पौराणिकाअपिः वदन्ति तादृशो अंशस्तु ग्राह्यः तन्त्रावलम्बिना. पुराणे धर्मशास्त्रे च यो अंशः श्रुत्या विरुद्धयते, स तन्त्रार्थस्तु विज्ञेयः समासेन मनीषिभिः'' (पारा.पुरा.१०। ।) इति पराशरीयपुराण-दशमाध्याय-वाक्यानि, **''तन्त्रावलम्बनेनैव पुराणानि च कानिचित् साक्षाद् वेदविरुद्धार्थं प्रवदन्ति क्वचित्क्वचिद् अधिकारिविभेदेन नैव वेदपरं प्रति''** (स्क.पु. । - ।) इति स्कान्दवाक्यं च उदाहृत्य, **''अतएव वैदिकान् प्रति तप्तमुद्रादिनिषेधकं, तद्धारणे प्रायश्चित्तविधायकं प्रायश्चित्ताननुष्ठाने नरकादि-बोधकं वचनसहस्रं तत्र-तत्र उपलभ्यते''** इति च उक्त्वा बृहन्नारदीय-सूतसंहिता-वायवीय-लैंगा-ऽऽदित्या-ऽऽग्नेय-कौर्म-मानवीपुराण-पराशरोपपुराण-वाक्यानि पूर्वोक्तं विष्णुस्मृतिवाक्यं, **''अंगेषु नांकयेद् विप्रो देवतायुधलाच्छनैः अंकयेद् यदि वा मोहात् पतत्येव न संशयः''** (विष्णुस्मृ. ।) इति, शातातपीयं **''रागसन्दग्धगात्राणां न स्यात् पारत्रिकं शुभम्''** (शाता.स्मृति. ।) इति, हारीतं **''नांकनाय दहेद् देहं दहेत् चेत् कामकारतो नाधिकुर्वन्ति दग्धांगाः श्रौतस्मार्तेषु कर्मसु''** (हारि.स्मृति. ।) इति, बोधायनीयं तादृशं याम्यं पराशरमाधवीयं च उदाहृतं भ्रष्टादीनामेव आगमोक्तदीक्षायाम् अधिकारः, तप्तमुद्रादिविधिप्रशंसादिकमपि तद्विषयः, निषेधास्तु वैदिकविषयकाः * इति उक्तवन्तः.

तदिदं श्रीमतो रुक्मांगदस्य प्रतारणार्थमेव, ग्रन्थप्रतिज्ञायां **''श्रीमतो रुक्मांगदस्य प्रीतये पञ्चरात्राद्यधिकारी निरूप्यते''** इति कथनात्. उपसंहारदशायां सर्वागमेष्वपि वेदविरुद्धांशस्यैव स्वरसप्राप्तस्यैव च अप्रामाण्यव्यवस्थापनेन प्रकृते तदभावात्, प्रत्यक्षश्रुतिषु मुद्राधारणनिषेधाद्यनुपलम्भेन श्रुतिविरुद्धत्वस्य अशक्यवचनत्वात्. पौराणिकत्वेन धारणे स्वाररिकत्वाभावात् च. नच इदम् अप्रयोजकम् उक्तस्कान्दे साक्षात्त्वेन तच्छ्रुतेः विशेषितत्वात्. नच 'साक्षात्त्वम्' अर्थविशेषणमिति शक्यशंकम्, उक्तस्कान्दे 'साक्षाद्'पदवैयर्थ्यापातात्. **''असूर्यंपश्या राजदारा''** इत्यादौ 'पश्य'पदार्थस्य असूर्यपदार्थैकदेशेन नञान्वयात् पदार्थः पदार्थेन अन्वेति नतु पदार्थैकदेशेन इति मर्यादायाः भंगस्य

सर्ववादिसम्मतत्वेन अत्रापि शक्यवचनत्वात्. अतः पूर्वोक्तैव व्यवस्था सदादरणीया इति दिक्.

(निष्कर्षः)

इत्येवं भगवत्पूजाशेषं शंखादिधारणम्।।
निबन्धोक्तपथोवाच निश्चित्य पुरुषोत्तमः।।४।।

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यमतवर्ति-श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतान-श्रीपीताम्बर-
तनुज-पुरुषोत्तमविरचितः शंखचक्रधारणवादः
अष्टादशः समाप्तिम् अगमत्

पाठभेदतालिका

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

ऊनविंशतितमो

।। भक्तिरसत्ववादः ।।

।। श्रीकृष्णाय नमः ।।

।। श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।।

।। रसप्रकाशिका ।।

अशन्यादिरूपेषु मल्लादयो यं
हृयनेकैः रसैः भावयन्तः समापुः ।
स्वलीलार्थमाविष्कृतानेकरूपं
भजे तं परं ब्रह्म श्रीकृष्णदेवम् ।।
भक्तिस्तु भजनं यो हि भज्यते भगवान् हि सः ।
भक्तो हि भजते तस्य स्थायी भावो रसो मतः ।।
भक्तसंगोपदेशाद्या उद्दीपनविभावकाः ।
अनुभावास्तु श्रवणादयो भक्तिप्रयोजिताः ।।
भक्त्यै त्वनुष्ठिताः कर्मरूपाः सञ्चारिणोऽपि वा ।
अन्येषामपि शास्त्रोक्तधर्माणामिह योजनम् ।।
रसिको रससामग्री आस्वाद्यालम्बने तथा ।
ब्रह्मानन्दो हृयेकएव नैकवत् समजायत ।।
भजनञ्चेद् अनुभावकं भगवतो भक्तस्य भक्तेरपि
तद्भक्तेर्हि रसत्वसाधनपराद् वादात्तु किं सिध्यति ?
भक्तिश्चेन्न रसात्मिका नहि परं ब्रह्मानुभूयेत् तथा
तस्मात्तद्रसरूपसाधनपरे वादे परं वेद्यते !।।

ननु इह भक्तेः प्रतिपाद्यमानं रसत्वं तावत् सम्भवति नवा ? इति विचिकित्सायां तस्याः लक्षणप्रमाणाभिनयार्हताद्यनुपपत्तेः 'न' इति पूर्वपक्षः. यस्मात् सर्वेऽपि

रसाः हि तावत् स्वहृद्गतातिशयितास्वाद्यभावविशेषतया तदनुव्यवसायबुद्धिगोचरस्वरूपाः, तेषाञ्च अतिशयितास्वाद्यत्वरूपसामान्यधर्मवत्त्वेऽपि स्वस्वासाधारणविभावानुभावसञ्चारिभावनिष्पाद्यत्वरूपाणि असाधारणधर्मवत्त्वरूपलक्षणान्यपि रसिकैः आलोचकैः उपस्थाप्यन्ते, भरतादिभिः च नाट्याद्यादिशास्त्रेषु तत्तद्रसानां निष्पादकसामग्रीप्रतिपादनेन तदभिनयार्थम् आंगिकवाचिकाहार्यरूपाणाम् उपायानामपि उपदिष्टत्वेन प्रमाणाभिनयार्हतेअपि प्रतिपादिते. तथोपलम्भाभावादपि न भक्तेः रसरूपतासिद्धिः.

तथाहि : कः तावद् 'भक्ति'पदाभिहितो विशेषः पदार्थः? कानि वा स्वरूपकारणकार्यप्रयोजनलक्षणानि अतिव्याप्त्यादिदोषत्रयरहितानि तस्याः किल मन्तव्यानि ?

यस्मात् पाराशर्यगर्गशाण्डिल्यनारदबादरायणादिषु प्राक्तनेषु ऋषिषु केचन "**परमेश्वरपूजादिविषयकानुरक्तिरूपत्वम्**" इति भक्तेः लक्षणं प्रतिपादयन्ति. अपरे "**तत्कथादिविषयकानुरक्तिरूपत्वम्**", इति. अन्ये "**परमात्मविषयकपरमानुरक्त्यविरोधेन तत्पूजाकथादिविषयकानुरक्तिरूपत्वम्**" इति. इतरे "**तदर्पिताखिलाचारत्वे सति तद्विस्मरणे परमव्याकुलतारूपत्वम्**" (ना.भ.सू.१५-१९) इति एकत्र, अपरत्रतु "**भगवत्परहृषीकैः निरुपाधिकहृषीकेशसेवनरूपत्वम्**" (नार.पञ्च. ।) इत्यपि. परेतु पुनः "**निखिलभूतगुहाशयस्थभगवद्गुणश्रवणहेतुकत्वे सति अव्यवहितत्वे सति तद्विषयकाविच्छिन्नमनोगतिरूपत्वम्**" (भाग.पुरा.३।२९।११-१२) इति आहुः. सति चैवं परमाप्ततया समादृतानां ऋषीणामपि मिथो विसंवादोपलब्ध्या ऐकमत्याभावात् च भक्तिस्वरूपो दुरवबोध्यएव अवभाति.

अथ उपनिषद्गीतादिभाष्यकृत्सु आधुनिकाचार्येषु श्रीशंकररामानुजप्रभृतिष्वपि [१] केचन "**भगवद्भजनपरेषु अर्थार्थ्यार्तजिज्ञासुज्ञानिषु अन्तिमस्य ज्ञानलक्षणरूपत्वम्**" (गी.शां.भा.१८।५४) इति प्रवदन्ति. [२] अपरे "**परमेश्वरविषयकात्यर्थप्रियानुभूतिरूपत्वम्**" (गी.रा.भा.१८।५४) इति. [३] अन्ये "**सर्वेशे भगवति तद्धर्माद् द्रुतस्य मनसो धारावाहिकवृत्तिरूपत्वम्**" (भक्ति.रसा.१।३) इति प्रतिपादयन्ति. [४] इतरे

पुनः ''**अन्याभिलाषशून्यत्वे सति ज्ञानकर्माद्यनावृतत्वे सति आनुकूल्येन श्रीकृष्णानुशीलनरूपत्वम्**''. (भ.र.१।१।११) इति अनुशीलयन्ति. [५] वैशेषिकास्तु ''**आराध्यत्वप्रकारकज्ञानरूपत्वम्**'' (द्रष्ट. : किर.प्र.मंग.) इति अभिप्रयन्ति.

इह एतेषु आधुनिकाचार्योक्तलक्षणेषु [१] प्रथमे तावद् लक्षणे लक्ष्यीभूतायाः भक्तेः अननुष्ठेयतादोषानुषंगो, गीतासु ''**मन्मना भव मद्भक्तो**'' (भग.गीता.९।३४) इति भक्तेः कृत्यर्हतायाः उपदेशोपलम्भात्, ज्ञानस्य च विध्यगोचरत्वाभ्युपगमादपि. नच * नेह भक्तेः किमुत भगवति मनोयोजनस्यैव भक्तिसाधनभूतस्य अनुष्ठेयतायाः उपदेशः * इति वाच्यं, ''**भक्त्या सञ्जातया भक्त्या**'' (भाग.पुरा.११।३।३१) इति वचने भक्तिसाधनेष्वपि 'भक्ति'पदप्रयोगोपलम्भात्. नच सो भाक्तः इति वाच्यं, 'भक्ति'पदस्य ज्ञानार्थकतायाः अभाक्तत्वे 'ज्ञान'पदेनैव प्रयोजनसिद्धेः 'भक्ति'पदस्य विशेषार्थाप्रतिपादकत्वापत्तेश्च. तस्मात् न विध्यगोचरं कर्माजनकं वा निष्प्रकारकं ज्ञानं भक्तिः. [२] द्वितीये ''**परमेश्वरविषयकात्यर्थप्रियानुभूतिरूपत्वम्**''इति लक्षणेऽपि येषां साधनावस्थायां भगवति तथाविधो अत्यर्थप्रियानुभवो न भवति न ते भक्ताः भवेयुरिति, भक्तिः तावद् इह लोके अशक्यैव स्याद्, वैकुण्ठादिलोकेष्वेव तस्याः शक्यत्वात्. [३-४] तृतीयचतुर्थलक्षणेअपि अव्याप्तिग्रस्तेएव, '**धारावाहिकत्व**'-'**अन्याभिलाषशून्यत्व**'रूपयोः धर्मयोः उल्लेखात् साधनावस्थेषु भक्तेषु तयोः अशक्यत्वात्. तस्माद् ''**आराध्यत्वप्रकारकं ज्ञानमेव भक्तिः**'' इति फलसाधनोभयावस्थासाधारणं लक्षणमेव युक्तम् उत्पश्यामः.

* ननु उक्तं तावद् भजनं हि भक्तिः इति, तस्यतु प्रीत्यनुकूलव्यापाररूपत्वेन कर्मरूपतैव अंगीकर्तव्या न पुनः ज्ञानरूपता * इति चेत् न, आराध्यप्रीत्यनुकूलव्यापारस्य आराध्यत्वप्रकारकज्ञानजन्यत्वेन अन्यथोपपत्तेः. तस्माद् आराध्यत्वप्रकारकज्ञानस्य आराध्यप्रीत्यनुकूलव्यापारजनकत्वेन परार्थत्वाद्, रसानान्तु पुनः स्वात्मनि जायमानसुखानुभूतिचर्वणाहेतुत्वेन स्वार्थत्वादेव न भक्तेः रसत्वं युक्तम्. एवं भक्तेः स्वार्थत्वानभ्युपगमे तस्याः रसस्वरूपत्वानुपपत्तिवद् लक्षणप्रमाणानुपपत्तीअपि बोध्ये.

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणरजःपुञ्जकृपयाप्तः ।।
भक्तिरसस्य स्थायी स्नेहो मन्मानसे जयति ।।१।।

(पूर्वपक्षः)

*ननु अपूर्वम् इदं कुतः उच्यते? कथम्?

[१] अश्रुतत्वाद् [२] असिद्धत्वाद् [३] अनुभूतेरभावतः ।।
[४] अन्तर्भावाच्चातिरिक्तो रसो भक्तिः [५] न कुत्रचित् ।।२।।

तथाहि—

[१]नहि वेद-पुराण-काव्येषु क्वचन भक्तिरसः श्रूयते.

तथाहि रूपादिचाक्षुषप्रत्यक्षवत् स्वविषयशूराणि हि प्रमाणानि. तस्माद् ज्ञानेच्छासुखविशेषाणां रसत्वारसत्वनिर्धारणे हि भरतादिमुनिकृतं रसशास्त्रमेव तावत् प्रमाणपदवीम् अश्नुते. नहि इकः स्थाने अचि परे गुणादेशो युक्तः; किन्तु व्याकरणे यणादेशएव, तद्वद् रसशास्त्रे अप्रतिपादितत्वाद् भक्तेः रसरूपतापि न प्रामाणिकी.

किञ्च स्वाराध्यप्रीतिजनिकायाः भक्तेर्हि तावत् सामाजिकानां पुरतो अभिनये भक्तिभांवाभावाद् नटने दम्भे वा पर्यवसानम्. अभिनयार्हत्वाभावेतु अनुभावाभावादेव न रसरूपता. तद् उक्तं "**विभावेन आहृतो यो अर्थस्तु अनुभावेन गम्यते वागंगसत्त्वाभिनयैः स भावः इति संज्ञितः. वागंगमुखरागैः च सत्त्वेन अभिनयेन च कवेः अर्न्तगतं भावं भावयन् 'भावः' उच्यते. नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसान् इमान् यस्मात् तस्माद् अमी भावाः विज्ञेयाः**" (भर.नाट्य.७।१-२) इति, व्यर्थोऽयं वागाडम्बरः इत्येवमाक्षेपकं पूर्वपक्षम् अवतारयितुं तावद् मंगलाचरणेन उपक्रामन्ति **श्रीमद्** इत्यारभ्य **भक्तिरसस्य स्थायी स्नेहो मन्मानसे** इत्यादिकं, भक्तिभावेन भृशम् आर्द्रीभूते मनसि स भावः रसतया उत्कर्षम् अश्नुतइति. पूर्वपक्षीयसंग्रहकारिकायां **अश्रुतत्वाद्** इति रसस्वरूपानुपपत्तिः द्योत्यते. **असिद्धत्वाद् अनुभूतेः अभावतः** इति लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिनियमात् लक्षणासिद्धेः

[२]किञ्च "विभावादिभिः अभिव्यज्यमानः स्थायी भावो रसः" इति रसशास्त्रे प्रसिद्धम्. भक्तिस्तु आराध्यत्वेन ज्ञानं वा, निदिध्यासनरूपम् उपासनं वा,

---

लक्ष्यीभूतायाः भक्तेः रसत्वासिद्धिः. **अनुभूतेः अभावतः** इति तथाविधप्रमात्मकानुभूत्यभावाद् भक्तिरसरूपप्रमेयानुपपत्तिः इति आशयः. **अन्तर्भावात् च** इत्यादि, नाट्यशास्त्रे हि निरूपितेषु अभिनेयेषु रसेषु अन्तर्भावाद् इति अभिप्रायः. *ननु वेदेषु भक्तेः रसत्वप्रतिपादनस्य विप्रतिपत्तिग्रस्तत्वेऽपि पुराणेषु काव्येषु च भक्तेः रसत्वप्रतिपादनोपलम्भादेव कथम् अस्य पूर्वपक्षस्य प्रसक्तिः ? * इति चेत् सा हि एवं भवित्री : तैत्तिरीये तावद् ब्रह्मवल्ल्यां सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः शिरोदक्षिणोत्तरपक्षात्मानः प्रियत्वमोदप्रमोदानन्दरूपाः सर्वान्तरभूताः इति निरूप्य तस्माद् ब्रह्मणो बहुभवनरूपसृष्टेः च प्रादुर्भावोऽपि निरूप्य "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति तस्य रसरूपतापि प्रतिपादिता. सेयं रसरूपता न भरतादिमुनिप्रतिपादिता इति वक्तुं युक्ता, अत्र वाक्ये विभावानुभावसञ्चारिभावनिष्पाद्यत्वानिरूपणात्, "**रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति. को ह्येव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्याद्! एष ह्येव आनन्दयाति**" (तत्रैव) इति उत्तरवाक्ये तस्यैव ब्रह्मणो निजात्मनि उपलब्धौ आनन्दोपलब्धिः. तस्यास्तु अज्ञातायाअपि सर्वप्राणिनां जीवनहेतुत्वेऽपि, ज्ञातायास्तु द्वैतहेतुकनिखिलभीतिनिवर्तकत्वं ब्रह्मात्म्यैक्यानुसन्धानरूपं परमफलरूपत्वमपि प्रतिपादितम्. रसशास्त्रीयानुभूतिस्तु विभावादिद्वैतमूलिकेति किं केन सम्बद्ध्यते? हठात् तत्परिकल्पनेऽपि नाट्यशास्त्रविरोधस्य दुष्परिहरत्वात्.

तस्माद् अन्योहि अर्थो 'रस'पदस्य उपनिषदि; अन्यश्च नाट्यशास्त्रइति नोभयोः साधारण्यं कल्पनीयम्. तस्माद् भक्तिः किल रसात्मकस्य ब्रह्मणः आराध्यत्वप्रकारकं त्रिक्षणावस्थायि ज्ञानं वा भवतु, चित्तस्य धारावाहिकैकाग्र्यरूपं स्थायि ध्यानरूपं निदिध्यासनं वा भवतु, कस्यामपि अवस्थायां विभावाद्यजन्यत्वेन नवै भक्तिः रसरूपा. ननु श्रवणादिनवकरूपायाः एकाग्रभक्तेः बहुकालानुष्ठानसम्भवेन स्थायितापि सम्भवत्येवेति आराध्यभगवद्रूपस्य आलम्बनविभावता, गुरोः इतरभक्तानां च संगतेः उद्दीपनविभावता भवितुम् अर्हति. तत्र श्रद्धारुचिपूर्विका आराध्यस्य भगवतो रूपगुणलीलादिषु अनुरक्तिः, इतरत्र विरक्तिः, आसक्तिभ्रमन्यायेन सर्वत्र

श्रवणादिनवकं वा तत्र-तत्र स्थितम्. तत्र आद्ययोः स्थायिभावो न क्वचित् सिद्धः, ज्ञानस्य त्रिक्षणावस्थायित्वात्. न अन्त्यः श्रवणादिनवकपक्षो, अनेकेषाम् एकस्य स्थायिनो विरुद्धत्वात्, कीर्तनवन्दनादीनां वागादिधर्मत्वेन भावत्वाभावेन रसत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च.

तस्य भगवतः कादाचित्कानुभूतिः इत्येवं सञ्चारिभावाअपि सम्भवन्त्येवेति का अनुपपत्तिः भक्तेः रसत्वे? तदेतत् पूर्वपक्षी न क्षमते इति आहुः **न अन्त्यः श्रवणादिनवक...** इत्यारभ्य **वागादिधर्मत्वेन भावत्वाभावेन रसत्वस्य अशक्यवचनत्वात् च** इत्यन्तेन भागेन. श्रवणादिनवसु श्रवणकीर्तनस्मरणानि भगवत्स्वरूपगुणलीलाविषयकानि श्रवणवाणीमनोरूपेन्द्रियजातानि, आराध्यभगवद्विग्रहस्य पादसेवनार्चनवन्दनानि स्वदैन्यालौकिकोपचारप्रयुक्ततदुत्कर्षविशेषद्योतकानि हस्तमस्तकाद्यंगजातानि क्रियारूपाण्येवेति न तत्र रसरूपतासम्भवनापि. अन्तिमे हि त्रिके दास्यसख्यात्मनिवेदनेषु यद्यपि तादृग्भावोचितव्यवहाररूपतेव आभ्यन्तरभावरूपतापि काचित् सम्भवति तथापि न रसरूपता, दास्यसख्ययोः इतरेतरविरोधिभावतया भक्तौ रसाभासप्रसञ्जनसम्भवात्.

*ननु "**रम्यं जुगुप्सितम् उदारम् अथापि नीचम् उग्रं प्रसादी गहनं विकृतं च वस्तु यद्वा अप्यवस्तु कविभावकभाव्यमानं, तद् नास्ति यद् न रसभावम् उपैति लोके**" (दशरूप.४।८५) इति "**विरुद्धैः अविरुद्धैः वा भावैः विच्छिद्यते न यः आत्मभावं नयति अन्यान् स स्थायी**" (दशरूप.४।३४) इत्यपि अंगीकाराद् भक्तेरपि रसत्वे का बाधा?* इति चेद् न, "**प्रीतिभक्त्यादयो भावाः... हर्षोत्साहादिषु स्पष्टम् अन्तर्भावाद्**" (दशरूप.८३) इति दत्तोत्तरत्वादेव. तद् उच्यते **एकस्य स्थायिनः** इति. तथाहि अनेकेषां मिथो विरुद्धानां सञ्चारिभावानां हि एकस्मिन् विरुद्धधर्माश्रयभूते स्थायिनि अविरोधेऽपि श्रवणादिनवके तथाविधैकभावस्य असम्भवात्. सम्भवेऽपि हर्षोत्साहादिषु अन्तर्भावांगीकारात् च भक्तेः न रसत्वसिद्धिः इति आशयः. तदेतद् उपपादितं रसगंगाधरकारेण—

> **"अथ कथम् एतएव रसाः? भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिः अनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैः अनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वाद्,**

नापि स्नेहो भक्तिः, तस्य इच्छाविशेषरूपत्वेन तत्र भक्तित्वस्य अप्रसिद्धेः. नच अतिरिक्तएव स्नेहः इति वाच्यम्, इष्यमाणएव 'स्निग्धः' इति प्रयोगदर्शनेन तत्र तथात्वनिश्चयात्. अतो न स्नेहातिशयो भक्तिरसः.

[3]नापि अनुभूयते रसिकैः. नच *परमप्रियायाम् अनुभूयतएव स्नेह(हातिशय!)ः* इति वाच्यं, तस्य स्त्रीपुम्प्रतियोगित्वेन नायिकानायकालम्बनकत्वेन शृंगारएव अन्तर्भावात्. पित्रादिस्नेहस्यतु तदभावेन तद्भक्तेः

भगवदनुरागरूपा भक्तिश्च अत्र स्थायिभावः. नच असौ शान्तरसे अन्तर्भावम् अर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वाद्. उच्यते : भक्तेः देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः. 'रतिः देवादिविषया व्यभिचारी तथा अञ्जितो भावः प्रोक्तः तदाभासाः हि अनौचित्यप्रवर्तिताः' इति हि प्राचां सिद्धान्तात्. नच तर्हि कामिनीविषयायाअपि रतेः भावत्वम् अस्तु, रतित्वाविशेषात्. अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वं कामिन्यादिरतीनां भावत्वं, विनिगमकाभावाद् इति वाच्यं, भरतादिमुनिवचनमेव अत्र रसभावत्वव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्... रसानां नवत्वगणना मुनिवचननियन्त्रिता भज्येतेति यथाशास्त्रमेव ज्यायः''.

(रस.गंगा.आन.१) इति.

नन मा भूद् भक्तिः आराध्यत्वप्रकारकज्ञानं वा तत्प्रकारकध्यानं वा, यस्मात् सा तावद् आराध्यतया अभिमते भगवत्स्वरूपे खलु अनुरक्तिरूपा. तस्याश्च रतित्वेन भावत्वं निर्बाधमेव. स रतिभावो स्नेहभावो विभावादिभिः निष्पद्यमानः सन् रसरूपतामपि आवहेत्. तत्र आहुः **नापि स्नेहो भक्तिः** इत्यादि. सुखजनकविषयिणी इच्छा वा सुखरूपिणी इच्छा वा 'स्नेह'/'प्रीति'पदवाच्या भवति तादृगिच्छायाः भक्तिरूपत्वांगीकारो अयुक्तएव, स्नेहकर्त्रपेक्षया स्नेहभाजनस्य क्वचिद् अपकृष्टत्वसम्भवेन तादृगपकृष्टे स्नेहवतो भक्तिमत्त्वस्य अनभ्युपगमनीयत्वात्. एवं स्नेहापरपर्यायरतिरूपत्वाभावे स्नेहातिशयरूपतायाअपि सुतराम् असम्भवात्. *ननु नायम् अस्ति नियमो यत् प्रियेण वा स्निग्धेन वा प्रेमकर्त्रपेक्षया अपकृष्टेनैव भाव्यं, नहि प्रेयस्यां प्रियतमे वा अन्यतरयोः अपकृष्टताबुद्धिः* इति चेत्

रसत्वस्य अशाक्यवचनत्वात् च. नापि भगवद्भक्तेः तथात्वं, उक्तबाधकस्य तत्रापि तौल्यात्, पुंसामपि तथा दर्शनात् च, ''**गोप्यः कामाद्, भयात् कंसो, द्वेषात् चैद्यादयो नृपाः, सम्बन्धाद् वृष्णयः, स्नेहाद् यूयं, भक्त्या वयं विभोः**'' (भाग.पुरा.७।१।३०) इति सप्तमस्कन्धीये नारदवाक्ये स्नेहभक्त्योः भिन्नतया निर्देशात् च.

[४]अतः कंसादिभयस्य भयानकस्थायिनीव गोपिकादिकामस्य शृंगारस्थायिनि रत्याख्ये अन्तर्भावात्. तदितरस्याः रतेस्तु ''**रतिर्देवादिविषया 'भाव' इति अभिधीयते**'' (.   ।   ) इति अभियुक्तोक्तेः भावे अन्तर्भावाद्.

न, तद् आहुः **तस्य** इत्यारभ्य **शृंगारएव अन्तर्भावाद्** इत्यन्तेन. तथाहि निखिलदोषवतो अपकृष्टम्मन्यमानस्य भक्तस्य निखिलहेयप्रत्यनीकगुणरहिते स्वोत्कृष्टतयाभिमते भगवति शृंगारात्मिका रतिस्तु आभासरूपैव. * ननु प्रकटितबालरूपे भगवति वात्सल्यभावात्मकस्नेहस्यापि सम्भवेन न उत्कर्षापकर्षान्यतरबुद्धिसम्भावनेति नायं दोषः * इति चेत्, न वात्सल्यात्मकस्नेहस्य भावत्वसम्भवेऽपि रसत्वानभ्युपगमात्. भागवते भक्तिस्नेहयोः पृथगुल्लेखादपि न भक्तेः स्नेहरूपता इति. पृथक्पठितयोरपि भक्तिस्नेहयोः ऐक्याभ्युपगमेतु भीत्यात्मिका द्वेषात्मिका वापि भक्तिः कुतो न अभ्युपेयते?

तस्माद् यद्यपि भक्तिस्वरूपविमर्शानुरोधात् तस्याः रसत्वं नैव सम्भवति तथापि कथञ्चित् तदुपपादनेतु रसशास्त्रांगीकृतेषु रसेषु अन्तर्भावसम्भवेन ''**गोप्यः कामाद्...**'' इत्यादिषु निरूपितेषु भगवद्विषयकभावेषु कामभावस्य शृंगारे, भीतिभावस्य भयानके, द्वेषभावोहि ''**रक्षो-दानवोद्धत-मनुष्यप्रभवः संग्रामहेतुकः. सच क्रोधधर्षणाधिक्षेपावमानानृतवचनवाक्पारुष्यद्रोहमात्सर्यादिभिः विभावैः समुपजायते**'' (भर.नाट्य.६।६३) इति निरूपणाद् रौद्रोद्दीपनविभावे अन्तर्भवति. एवमेव अन्येषामपि बन्धुबान्धवानां वृष्णिपाण्डवानां स्नेहस्य भक्तेः च यथायथं तेषु-तेषु अन्तर्भावो बोध्यः इति पूर्वपक्षी भक्तेः रसत्वं निराकरोति **अतः** इत्यादिना **भावे अन्तर्भावाद्** इत्यन्तं यावत्. एवं अश्रुतत्वासिद्धत्वानुभूत्यभावान्तर्भविभ्यो हेतुभ्यो भक्तेः अतिरिक्तरसत्वाभावं प्रसाध्य पूर्वपक्षीयकारिकोक्तम् अन्तिमं हेतुम् उपपादयन्ति

[5]भरतादिप्रणीते नाट्यशास्त्रे शृंगारादीनाम् अष्टानां निरूपणाद्, अभियुक्तैः शान्तस्यापि नवमस्य अंगीकाराद्, द्वादशरसवादिनो भोजस्यापि मते भक्तेः अगणितत्वात् तावन्तएव रसाः. नतु अतिरिक्तो भक्तिरसोऽपि इति प्राप्ते—

अतिरिक्तो रसो भक्तिः न कुत्रचिद् इत्यादिना. यद्यपि भरतनाट्यशास्त्रे "**शृंगारवीरकरुणहास्यरौद्रभयानकाः बीभत्साद्भुतसंज्ञौ च इति अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः. एते हि अष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना**" (भर.नाट्य.६।१५-१६) इत्यत्र अष्टावेव रसाः स्वीकृताः. तथापि अपरे पुनः न तत् क्षमन्ते : तथाहि शान्तरसस्य शमसाध्यत्वेन नाटकेषु शमदमादिसाधनायाः अप्रसक्तत्वेन अष्टावेव रसाः इति वादिभिः एतदेव आलोच्यं यत् नहि नाटके नटेषु वा शमादिसाधनापेक्षा. यतः शमाद्यभावेऽपि तदुचिताभिनयेनापि सामाजिकानां हृदयेषु शान्तरसः आविर्भूतो भवत्येव. अन्यथा नटेषु क्रोधविस्मयादेरपि अभावात्तु रौद्राद्भुतादयोऽपि रसाः न स्युः. तस्मात् शान्तरसोऽपि काव्ये नवमो अंगीकरणीयएव. तद् उक्तं मम्मट-विश्वनाथ-निःशंकशार्ंगदेवादिभिः —

> "**निर्वेदस्य... प्रथमम् अनुपादेयत्वेऽपि उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताभिधानार्थम्...निर्वेदस्थायिभावो अस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः**".
>
> "**इति अष्टौ रसाः शान्तः तथा मतः**".
>
> "**शान्तस्य शमसाध्यत्वाद् नटेच तदसम्भवात् अष्टावेव रसाः नाट्येष्विति केचिद् अचुचूदन्, तद् अचोद्यं यतः किञ्चित् न रसं स्वदते नटः सामाजिकास्तु लिहते रसान् पात्रं नटो मतः, ते शुद्धहृदयाः शान्तं स्वविभावविभावितम्**".
>
> (का.प्र.४।४७, सा.द.३।१८२, संगी.रत्ना.७।१३५९-१३६१) इति.

साहित्यदर्पणेतु "**स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः, स्थायी वत्सलतास्नेहः, पुत्राद्यालम्बनं मतम्**" (सा.द.३।२५१) इति वात्सल्यभावस्यापि रसत्वम् उपपादितम्. मूलेतु द्वादशरसवादिनो भोजस्यापि मते भक्तेः रसत्वस्य अगणितत्वादेव न कुत्रचिदपि तस्याः रसत्वांगीकारोपलम्भाद् अपूर्वमेव इदं विधानम्

(उत्तरपक्षसंग्रहकारिका)

अभिधीयते—

[१] श्रुतत्वाद् [२] लोकसिद्धत्वाद् [३] अनुभूतेश्च भेदतः ।।
तेभ्योऽ[४] तिरिक्तो मन्तव्यः [५] सांगो भक्तिरसो बुधैः ।।३।।

इति आरम्भे आक्षिप्तं समुपपादितम्. तस्मात् स्वरूपकारणकार्यप्रयोजनलक्षणानां वा प्रमाणस्य वा निरूपयितुम् अशक्यत्वेन अनुचितं भक्तेः रसत्वम् इति प्राप्ते—

एतं पूर्वपक्षं निराचिकीर्षवः उत्तरपक्षहेतून् कारिकया संगृह्य आहुः **श्रुतत्वाद्** इत्यादिना. यत् तावत् पूर्वपक्षिणा उक्तं लक्षणप्रमाणाभिनयाशक्यतया भक्तेः रसत्वानुपपत्तिः, तत्र श्रुति-पुराण-सूत्रेषु लक्षणरसत्वयोः श्रावणाद्, लोकेऽपि रघुवंशकुमारसम्भवादिकाव्येषु कालीदासादिकविभिः रामकृष्णशिवाद्यवतारलीलानां च भासादिनाटककारैरपि तदभिनयार्थं नाटकविरचनात् च तथाविधचित्रपद्याद्युपलम्भादपि तज्जन्यविलक्षणरसानुभूतेः आस्वाद्यमानतोपलम्भात् चापि विभावानुभावसंचारिभावनिष्पाद्यो भक्तेः स्थायी भावो विलक्षणो अनुभूयतएव इति समुदितार्थः.

यस्तु शाण्डिल्यनारदाद्यभिमतेषु भक्तिसूत्रोक्तेषु लक्षणेषु ऐकमत्यादर्शनाद् भक्तेः स्वरूपलक्षणासम्भवो दर्शितः सोऽयं निखिलमहर्षिप्रतिपादितेषु लक्षणेषु ऐकमत्यसत्त्वादेव अनुपपन्नः.

तथाहि भक्तिस्वरूपलक्षणेषु एतेषु 'परमात्मा'-'परमेश्वर'-'भगवान्'-'हृषीकेशः'इत्यादिपदैः उद्दिष्टे भक्त्यालम्बनविभावे माहात्म्यातिशयस्य उपपादयितुम् इष्टत्वेन महनीयस्य तस्य च पूजाकथाभजनादिषु अनुरक्तेः च प्रतिपादनेन माहात्म्यज्ञानविषयीभूते तत्र नैकैः मनइन्द्रियादिभिः निरुपधिस्नेहो भक्तिः इति लक्षणं लभ्यते. इह स्नेहस्य अनौपाधिकत्वन्तु अग्रे व्युत्पाद्यम्. ततो भक्तेः स्वरूपलक्षणं भक्तिमीमांसकमहर्षिषु अतिविवादं सामान्येन अभिमतं च परिलक्ष्यतइति, न तेषु विसंवादलेशोऽपि. तथैव कारणकार्यप्रयोजनलक्षणान्यपि भक्तेः शक्यन्तएव.

भक्तिकारणलक्षणमीमांसायां सत्यां प्रथमं तावत् ''**नायम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः, तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्**'' (मुण्ड.उप. ३।२।३) इति श्रुतेः अनुग्रहापरपर्यायवरणैकलभ्यत्वं परमात्मनो वेद्यम्. गीतायान्तु पुनः ''**नाहं वेदैः न तपसा न दानेन नच इज्यया शक्यः एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवान् असि मां यथा. भक्त्यातु अनन्यया शक्यो अहम् एवंविधो अर्जुन ! ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च**'' (भग.गीता. ११।५३-५४) इति भगवतो अनन्यभक्त्येकलभ्यत्वमपि निरूपितम्. अतोहि उभयोः वचनयोः विरोधाभासपरिहारायः भक्त्यनुग्रहयोः तादात्म्यं स्वीकर्तव्यम्. तच्च वैयधिकरण्याद् न सम्भवति चेत् तदा तदुभयोः जन्यजनकभावं विना तादात्म्यम् अनुपपन्नं सद् अनन्यभक्तेः भगवदनुग्रहैकजन्यत्वं प्रसाधयति. अतः ''स्वविषयकानन्यरागानुकूलानुग्रहविशेषजन्यत्वं'' भक्तेः कारणलक्षणम्.

ननु किमिदम् अनुरागे अनन्यत्वम् ? कथञ्च अहन्ताममतास्पदीभूतेषु निखिलेषु विषयेषु अनुरागवतो जीवस्य तत्सम्भावना ? इति चेत् तदपि श्रुतिगीतयोः प्रतिपादितमेव. तथाहि ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत... मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वम् इदम् अभ्यात्तो अवाक्यनादरः... एष म आत्मा अन्तर्हृदये अणीयान् व्रीहेः यवाद् वा ... ज्यायान् एभ्यो लोकेभ्यः**'' (छान्दो.उप. ३।१४।१-३) इत्यस्मिन् वचने निरूपितं यद् ब्रह्मणः सर्वरूपत्वं बाह्याभ्यन्तरवर्तित्वं अणीयज्ज्यायस्त्वरूपविरुद्धधर्माश्रयत्वादिकं तएते उपासनार्थं कल्पिताः धर्माः उत अकल्पिताः पारमार्थिकाः ? इति सन्देहे भगवतैव उपदिष्टं ''**पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशो अथ सहस्रशो नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च... इह एकस्थं जगत् सर्वं पश्य अद्य सचराचरं... नतु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगम् ऐश्वरम्**'' (भग.गीता.११।५-८) इति. अत्र भगवतः सर्वानन्यरूपं सर्वथा तत्प्रदत्तदिव्यदृष्ट्यैकबोध्यम् इति फलितम्. एतेन ''**तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः**'' (ब्र.सू.२।१।१४) इति ब्रह्मसूत्रोक्तम् अनन्यत्वं च भगवान् साधयति. अतो हि एतादृशे अनन्ये भगवति प्रीतिः हि अनन्यभक्तिः उच्यते.

तदेतद् विश्वरूपदर्शनयोगोपसंहारेऽपि भगवता "**मत्कर्मकृद् मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः**" (भग.गीता.११।५५) इति प्रतिपादयता नारदोक्तं "**तदर्पिताखिलाचारत्वे सति तद्विस्मरणे परमव्याकुलतारूपत्वम्**" (ना.भ.सू.१५-१९) इति लक्षणमपि उपोद्बलितम्.

भक्तेः कार्यलक्षणमपि परमभक्तिसंहितायां श्रीभागवते भगवतापिच निजमुखारविन्देन न नैकत्र मकरन्दायितं—

> "**यो अनुग्रहार्थं भजतां पादमूलम् अनामरूपो भगवान् अनन्तः नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिः भेजे**", "**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ! पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**", "**मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा. मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयं नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतो अन्यत् कालविद्रुतम्**".
> (भाग.पुरा.६।४।३३, ३।९।११, ९।४।६६-६७) इत्येवमादिवचनेषु.

एतेन "भजनीयभगवतो निजमनोरथानुकूलस्वरूपघटने पर्यवसायिनि तद्वशीकारधर्मरूपत्वे सति इतराकांक्षाराहित्येन च तथाविधमनोरथानुविधायिनो भगवतः स्वरूपसेवानुरक्तिः" हि भक्तेः कार्यलक्षणं पर्यवस्यति.

एतावता प्रयोजनलक्षणमपि भक्तेः महाप्रभूक्तदिशाया अवगन्तुम् अर्हामः. तथाहि "**ब्रह्मरूपं जगद् ज्ञातव्यं (ब्रह्म) जगतो अतिरिच्यतइति न तत्र आसक्तिः कर्तव्या**","**भक्तेः च शुद्धतासिद्ध्यै प्रपञ्चाद् विनिवारणम् आसक्तिः आत्मनि तथा निरोधार्थं न संशयः. प्रपञ्चविस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिः च वर्ण्यते**" (सुबो.२।९।३५, त.दी.नि.३।१०।१७-१८) इति वचनाभ्यां "प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवदासक्तिरूपत्वं" हि जगति भक्तानां भगवति निरोधः इति

प्रयोजनलक्षणमपि स्पष्टम्. तदेतद् प्रार्थितं वृत्रेण "**मनः स्मरेत असुपतेः गुणान् ते गृणीत वाक्, कर्म करोतु कायः, न नाकपृष्ठं नच पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं न योगसिद्धिः अपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे**" (भाग.पुरा.६।११।२४-२५) इति. एवं सति भक्तेः स्वरूपकारणकार्यप्रयोजनलक्षणानां तारतम्यविवेकेन पूर्वपक्षे आपादितानां भक्तेः विधिगोचरतानुपपत्तिः वा कृत्यनर्हता वा, ज्ञानस्य प्रकारविशेषे अन्तर्भावो वा, साधनावस्थायां वा अव्याप्तिः इत्येवमादीनां दोषाणां प्रसंगोऽपि निवारितप्रायएव.

ननु "माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिः" इति भक्तेः स्वरूपलक्षणेन प्रतिपिपादयिषितो निरुपाधिकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहोऽपि साधनदशायान्तु नैव सम्भवति इति चेत् न, एतद्वचनाभीष्टभक्तिस्वरूपानवबोधात्.

तथाहि उपनिषदि तावद् "**नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**", "**एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति**" (बृह.उप.२।४।५,४।३।३२) इति श्रावणात् सन्देहो भवति किं जीवात्मनः उत परमात्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति? इति. किं जीवात्मनः उत परमात्मनः आनन्दस्य मात्राः सर्वाणि भूतानि उपजीवन्ति? इति. तमेतं सन्देहं यावत् स्वयं भगवान् न निराकुर्यात् न तावद् अपगच्छति, शरीरे उभयोः विद्यमानत्वेन एकतरनिर्धारस्य कर्तुम् अशक्यत्वात्. तथाच "**अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः**" (भाग.पुरा.३।९।४२) इत्येवं निराकृतेतु सन्देहे ममतास्पदेषु देहादिष्विव अहंकारास्पदे जीवात्मन्यपि रती ममताहन्तोपाधिकेएव. अतथातु परमात्मनि "**कोह्येव अन्यात् कः प्राण्याद् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्याद् एष ह्येव आनन्दयाति**" (तैत्ति.उप.२।७) इति वचनात् तदज्ञानवत्स्वपि तद्रतिमूलिकैव जीवदेहगेहादिषु अनेकविधाः रतयः अहन्ताममतोपाधिकाः सम्भवन्ति. सिद्धं तर्हि परमात्मनितु सर्वेषां तज्ज्ञानाज्ञानान्यतरवतां प्राणिनां निरुपाधिका सुदृढा सर्वतोऽधिका च सा. नच एतावता भक्तेः अन्यथासिद्धिः शंकनीया, भगवद्वरणापरपर्यायेन अनुग्रहणैव

तथाहि —

(शास्त्रेषु श्रुतत्वेन स्नेहत्वेन च भक्तेः अतिरिक्तत्वम्)

[१]भक्तिः तावद् गोपालतापनीये श्रूयते ''**भक्तिः अस्य भजनं तद् इह अमुत्र फलभोगनैराश्येन अस्मिन् मनःकल्पनम्**'' (गो.पू.ता.उप.१।३) इति. तत् मनःकल्पनं किंस्वरूपम् इति जिज्ञासायां नारदपञ्चरात्रे तत् निष्कृष्यते ''**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो 'भक्तिर्' इति प्रोक्तस् तया मुक्तिर् नच अन्यथा**'' (नार.पञ्च. ।) इति. शाण्डिल्यसूत्रेऽपि ''**अथातो भक्तिजिज्ञासा**'' (शाण्डि.भ.सू.१।१।१) इति प्रतिज्ञाय ''**सा परा अनुरक्तिः ईश्वरे**'' (शाण्डि.भ.सू.१।१।२।) इति तस्याः लक्षणं क्रियते.

जीवद्वारिका देहगेहादिपर्यन्तं संक्रामन्ती रतिः कस्यचिदेव परमभाग्यवतः परमात्मनि भगवति स्वभजनीये निखिलरत्यालम्बनभूते निरुणद्धि. परमात्मनि स्वरूपतः सिद्धा हि इयम् आत्मानन्दात्मिका आत्मरतिः तिरोहिततदानन्दांशेभ्यो लीलार्थाविर्भूतनामरूपेभ्यः परावृत्य तत्तन्नामरूपात्मके तस्मिन् अंशिनि परमानन्दात्मनि अवलम्बमाना सती 'भक्ति'पदाभिधेया भवति. तद्धेतुस्तु तदनुग्रहएव. तदवान्तरव्यापाररूपाः च श्रवणादिनवकसमुच्चिततत्सेवाकथादयः जीवात्मभिः अनुष्ठेयाः क्रियारूपाः भवन्ति. अतो भक्तिविधायकवचनानां निरवकाशापत्तिपरिहारोऽपि कैमुतिकन्यायेन सिद्ध्यत्येव. *ननु कुतोहि अंशिनि परमात्मनि जीवकर्मकं अनुग्रहात्मकं करणं, कर्तरि स्वव्यापारं न जनयति; कुतस्तरां कर्मरूपे जीवात्मनि तं जनयति?* इति चेद् यथाहि अरविन्दविकसनव्यापारकरणरूपाः हि विवस्वद्रश्मयोऽपि न कर्तरि व्यापारं प्रकटीकुर्वन्ति किमुत स्वकर्मभूते अरविन्दएव तथा इहापि ज्ञेयम्!

तस्माद् बहुषु श्रुतिगीतासूत्रपुराणेषु श्रुतत्वेनैव पूर्वपक्षे उपदर्शितं **अश्रुतत्वाद्** इति हेतुं निराकुर्वन्तः आहुः **श्रुतत्वाद्** इति. गोपालतापनीय-शाण्डिल्यसूत्रवचनयोः ''इहामुत्रफलभोगनैराश्येन परमात्मनि मनःकल्पनस्य'' अथच ''परमेश्वरविषयकपरमानुरागस्य'' इति उभयत्रापि माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहस्यैव अवबोधनात्

भक्तेः लक्षणप्रमाणे नैकशास्त्रश्रुतत्वेन सुप्रसिद्धेएव. तथापि यत्तु * भक्त्यभिनये भक्तिस्वरूपहान्या, दम्भपर्यवसानेन वा अभिनयानर्हत्वेन, अनुभावाजन्यत्वात् न भक्तिः रसः * इति उक्तं, तत्तु शृंगारादिरसेष्वपि शक्यापादनम्. यस्माद् रत्याद्यभिनये रत्याद्याभासो अनभिनीतेषु च रत्याद्यालम्बनविभावादिषु न रत्याद्याविर्भावइति समानो योगक्षेमः. अतएव रसत्वसम्पत्तिप्रक्रियायाः प्रतिपादने ''**कथम् इदानीम् एते स्थायिनो अष्टौ भावाः रसत्वम् आप्नुवन्ति?... यथाहि समानलक्षणाः तुल्यपाणिपादोदरसमानाः समानप्रत्ययाअपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ताः राजत्वम् आप्नुवन्ति. तत्रैव च अन्ये अल्पबुद्धयः तेषामेव अनुचराः भवन्ति. तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावान् उपासृताः भवन्ति; आश्रयत्वात् स्वामिभूताश्च स्थायिनो भावाः. तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूताः अन्ये भावाः तान् गुणवत्तया आश्रयन्ते परिजनभूताः व्यभिचारिणो भावाः... यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् सएव नाम लभते, नान्यः सुमहानपि पुरुषः. बहुषु गच्छत्सु पृच्छति 'को अयम्?' इति. सच तम् आह 'राजा' इत्येव. तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो 'रस'नाम लभते**'' (भर.नाट्य.७।८) इति. ननु किम् एतावता यदि केचन भावाः स्थायिनो भूत्वा रसत्वं लभन्ते चेद्? भक्तिरूपो स्थायी भावोऽपि एवमेव रसत्वम् आपद्यताम्! का बाधा?

तथाहि भक्तेः आलम्बनतया विभावयितुम् अभीष्टस्य भगवद्विग्रहस्य, भगवदवतारकाले कृतानां तज्जन्मशैशवबाल्यपौगण्डकैशोर्यादिलीलानां कीर्तनश्रवणभा-वनप्रचुरेषु उद्दीपनविभावरूपेषु सत्सु, नित्योत्सवर्तुक्रमानुसारिलीलानाम् अनुकारितया सज्जितेषु भगवत्सेवास्थलेषु विग्रहस्यापि तथावस्त्रालंकरणेषु च सत्सु, तत्तल्लीलासम्बन्धिजनानां हृदयान्तरोद्गताः विविधाः ये सञ्चारिभावाः तदनुगानजेषु सञ्चारिभावेष्वपि सत्सु, तल्लीलासम्बन्धिजनानाम् अनुकरणतयाच कृतेषु भगवतो विविधोपचाररूपेषु भजनविधिष्वपि सत्सु, भगवद्विग्रहएव तथातथाभूताः अनुभावाः प्रादुर्भूयन्ते, यैः भगवतो निरुपधिभजनपराणां हृदयेषु विलक्षणचमत्कारजनको भक्तिभावो स्थायित्वं लभते. नच एतत् सर्वं सामाजिकानां पुरतो निजभजनीयभगवत्स्वरूपस्य भजनस्य प्रदर्शनायैवेति कुतो अत्र दम्भकापट्याद्देः आशंकापि! ननु अधुनातु

स्वसाम्प्रदायिकैः निखिलमपि इदं निजोदरपूरणाय अर्थोपार्जनतयैव अनुष्ठीयते इति चेद् 'ओम्' इति ब्रूमो, तथापि बहूनां पुरुषाणां निषिद्धाचरणपरायणत्वेऽपि शास्त्रीयो निषेधो न जातु धर्म्यो विधिः सम्पद्यते! सिद्धान्तोपदेशपरेषु ग्रन्थेषु नैकशः प्रतिषेधास्तु —

> **''गुप्तो हि रसो रसत्वम् आपद्यते''—''अगुप्तो रसो रसाभासः स्यात्''** (सुबो.१०।१८।५—१०।५६।४४).
>
> **''स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्''** (सा.दी.१०८).
>
> **''भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद्... लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन्नेव भजेद्''** (ब्र.सू.वा.भा.३।४।४९).
>
> **''११ अपराधो अवैष्णवस्य स्वसेव्यप्रदर्शनं, फलं वार्षिकसेवानिष्फलत्वम्''** (६६ अपराधाः तत्फलानि).

एवंविधाः श्रूयमाणाअपि देवलकानां हृदयेषु नानुनदन्ति चेद् नहि भक्तिमार्गदिवाकरस्य एषो दोषो यद् दिवान्धाः स्फीतालोकवति दिवसे निजापराधं द्रष्टुं न क्षमन्ते इति! अलं तावद् भक्तिरसाभासजनकेन देवलकदुष्चरित्रचिन्तनेन.

प्रकृतम् अनुसरामः. उक्तं पुरस्ताद् भगवतो हि नामरूपगुणलीलादिषु **''तस्य प्रियमेव शिरो, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोदः उत्तरः पक्षः, आनन्दः आत्मा...''**, **''नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''**, **''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (तैत्ति.उप.२।५, बृह.उप.२।४।५,४।३।३२) इति श्रुतिनिर्दिष्टनिजानन्दविषयिणी मात्रारूपा सेयं प्रियता, यां भक्ताः उपजीवन्ति इति. साचैषा विभावादिपरिकरोपचिता रसतामपि प्राप्नोति. यद्यपि श्रीभरतमुनिना भक्तेः रसत्वं नांगीकृतं तथापि यादृशस्य भावस्य रसरूपतापत्तिः अंगीकृता तस्य प्रकारस्तु —

> **''बहवो अर्थाः विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रिताः अनेन यस्मात्**

तेन अयं 'विभाव:' इति संज्ञित:. वागंगाभिनयेन इह यश्च अर्थो अनुभाव्यते वागंगोपांगसंयुक्तस्तु अनुभाव: तत: स्मृत:. लोकस्वभावसंसिद्धा: लोकयात्रानुयायिन: अनुभावविभावा: च ज्ञेयास्तु अभिनयै: बुधै:. यो अर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भव: शरीरे व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिव अग्निना. तत्र रति: नाम आमोदात्मको भाव:. ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण-प्रियजनपरभवनानुभवनाप्रातिकूल्यादिभि: भावै: समुत्पद्यते''.

(भर.नाट्य.७।४-९) इति.

एवं प्रतिपादित:. सति चैवं लौकिकपुरुषाश्रितेषु नाटकेष्विव यादृशी रसाभिव्यक्तिरीति: तादृश्येव अलौकिकभगवत्स्वरूपाश्रिते भजनेऽपि. अतो भक्तिबीजभाववतां जीवशरीरेषु भक्तिरसस्य व्यापने का बाधा? नच एवं सति * ''**काव्यादीनाम् असत्यत्वात् नोपयोग: कथञ्चन धर्मे... काव्यादीनाम्... असत्यत्वम् उत्प्रेक्षाजन्यत्वाद्**'' (त.दी.नि.प्र.२।८०) इत्युक्तरीत्या उत्प्रेक्षाजन्यत्वाविशेषेण नाटकाद् भक्तिसाधनायां न कोऽपि विशेषो अवशिष्येत * इति आशंकनीयं, काव्यनाटकादिषु वर्णनीयानां पुरुषाणां सामाजिकदेशकालवैयधिकरण्येन तत्र-तदा तदभिनयकर्तृषु नटेषु अविद्यमानत्वादेव. भक्तिरसालम्बनविभावस्यतु देशकालस्वरूपप-रिच्छेदरहितत्वात् सर्वदेशकालयो: सर्वविधनामरूपकर्मोपादानतया भगवद्विग्रहेऽपि अन्तर्व्याप्यमाणतैवेति असत्त्वं कल्पयितुमपि अशक्यमेव. तदपि श्रीभागवते निरूपितं ''**सएव हि पुन: सर्ववस्तुनि वस्तुस्वरूप: सर्वेश्वर: सकलकारणकारणभूत: सर्वप्रत्यगात्मत्वात् सर्वगुणाभासोपलक्षित: एकएव**''(भाग.पुरा.६।९।३८), ''**स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व: आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षिता एक:, तं सत्यम् आनन्दनिधिं भजेत**''(तत्रैव २।१।३९), ''**यो अनुग्रहार्थं भजतां पादमूलम् अनामरूपो भगवान् अनन्तो नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभि: भेजे**''(तत्रैव ६।४।३३), ''**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु, नाथ!, पुंसां यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपु: प्रणयसे सदनुग्रहाय**'' (तत्रैव ३।९।११) इत्यत्र. तदेतदेव श्रीमदाचार्यचरणैरपि ''**हरे: मूर्तिं कृत्वा भजेत्... यद् मूर्तौ कृतं (तत्) सर्वं भगवति कृतं भवति. तत्र मूर्ते: भगवत्त्वं त्रेधा निरूपयति**

(लोकसिद्धस्य स्नेहस्य न इच्छादिषु अन्तर्भावइति स्नेहरूपायाः भक्तेरपि अतिरिक्तत्वम्)

[२-३-४]अनुरक्तिश्च स्नेहएव, ''स्निग्धएव अनुरक्तः'' इति

'तद्रूपम्' इति. वस्तुविचारेण सर्वस्य भगवद्रूपत्वाविशेषाद् विशेषस्तु अयं : 'एनम् उद्धरिष्यामि' इति तदा मृदादेः प्रादुर्भूतः. भक्तिमार्गानुसारेण आह 'तत्रच स्थितम्' इति'' (त.दी.नि.प्र.२।२२८) इत्यत्र उपपादितम्.

तस्माद् भक्तिरसेतरोदाहरणेष्वेव आलम्बनविभावादेः सामाजिकदेशकालयोः असत्यत्वं; न जातु भक्तेः तथा सम्भवति, भजनविधौ नाट्यप्रक्रियासमाश्रयणेनापि. किञ्च नवधा भक्तौ पादसेवनार्चनवन्दनदास्याद्यसम्भवे येहि श्रवण-कीर्तन-स्मरणोपायाः तेषु भगवल्लीलाभिनयस्य चापि निश्चलभक्त्यवाप्तिहेतुतया **''श्रद्धालुः मे कथाः शृण्वन् सुभद्राः लोकपावनीः, गायन् अनुस्मरन् कर्म जन्म च अभिनयन् मुहुः... लभते निश्चलां भक्तिं मयि''** (भाग.पुरा.११।११।२३-२४) इति वचने भगवतापि उपदेशाद् अभिनये प्रमाणाभावोऽपि परिहृतः. उक्तं च पुरस्ताद् भासादिमहाकविभिरपि लोके भगवल्लीलाश्रितनाटकादेः विरचनादेव. किञ्च पातञ्जलमहाभाष्येऽपि **''इहतु कथं वर्तमानकालता — 'कंसं घातयति', 'बलिं बध्नाति' इति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ ? अत्रापि युक्ताः... केचित् कंसभक्ताः भवन्ति केचिद् वासुदेवभक्ताः''** (पा.म.भा.३।१।२६) इति लोके भक्तिभगवतोः लीलाभिनयाप्रसिद्धौ नैतादृक् निरूपणम् उपपद्येत. तस्मात् लोके भक्तिरसाभिनयो वा तस्याः रसत्वानुभवो वा तौतु अप्रसिद्धौ इति न केनापि वक्तुं शक्यम्. नच *वाच्यं तेषां भक्तीतररसाभिनयार्थमेव नाटकनिर्माणे तत्कर्तॄणां प्रवृत्तिः* इति, षण्डानां शृंगाररसनाटनावलोकनेऽपि यथा न तद्भावोदयो तथा अभक्तानां खलु भगवल्लीलादर्शनेऽपि भगवद्भावानुदयस्य अविरुद्धत्वादेव. भक्तानान्तु परं भगवतः शृंगारादिलीलादर्शनेनापि भक्तिभावस्यैव समुदयो न शृंगारादिभावानाम्. तद् उक्तं **''विक्रीडितं व्रजवधूभिः इदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितो अनुशृणुयाद् अथ वर्णयेद् यो, भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगम् आशु अपहिनोति अचिरेण धीरः''** (भाग.पुरा.१०।३०।४०) इति.

तस्माद् गौणभक्तेस्तु लोकसिद्धत्वमपि निष्प्रत्यूहम्. तद् आहुः **अनुरक्तिः च** इत्यादिना. लोकेऽपि अनुरक्तेः न इच्छादिषु अन्तर्भावो वर्णयितुं शक्यः. तस्माद् भगवदनुरक्तिरूपायाः भक्तेरपि नेतररसेषु मनोबुद्ध्यहंकारचित्तधर्मेषु केषुचन अन्तर्भावः शक्यवचनः इति अभिप्रायः. तदेतत् प्रतिपादितं श्रीमदाचार्यैः —

> ''**नवा इच्छाविशेषो रतिः, विशेषस्य निर्वक्तुम् अशक्यत्वात्. सुखविषयिणी इच्छा न रतिः, स्वर्गकामनायाः तथात्वप्रसंगात्, पुत्रादिषु तदभावप्रसंगात् च. अतः स्नेहः पदार्थान्तरं, स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह अतिनैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेन अन्यत्र**'' (सुबो.१।१९।१६).
>
> ''**प्रीतिस्तु भगवद्धर्मः. भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यः तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम्. अतः यत्रैव प्रीयते तत्सुखं भवति. ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति**'' (सुबो.२।२।७).

*ननु कथम् एतादृगप्रसक्तोपपादनं यावता प्रतिवादिनो भक्तेरेव असिद्धत्वापादनम् अभिप्रेतम्. समाधानेतु वादिना पुनः अनुरक्तेः इच्छादिरूपतायाः निरसनं क्रियते! नच *भक्तिरपि भगवदनुरक्तिरूपेति तस्याः अन्तःकरणधर्मेषु ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिषु अनन्तर्भावे हि साधिते अतिरिक्ता भक्तिः सिध्येत* इति वाच्यं, उक्तानन्तर्भावे हि यत्र-कुत्रापि उक्तव्यतिरेकस्यैव, नतु उक्तव्यतिरिक्तायाः परमात्मधर्मभूतायाः भक्तेरपि, सिद्धिः. अपिच परमात्मधर्मत्वे भार्यासुतवित्तगेहादिविषयिण्याः अनुरक्तेरपि 'भक्ति'पदाभिधेयता कुतो न? इत्यपि विचारणीयम्?* इति चेत् न, बुद्धिमनोऽहंकारधर्मभूतेषु ज्ञानेच्छाप्रयत्नादिषु अनुरक्त्यनन्तर्भावोपपादने हि लौकिकानुरागविषयेषु निजानुरागानुव्यवसायेनैव अनुरक्तानां अन्तःकरणाभिव्यक्तायाः अनुरक्तेः सिद्धिः शक्या. सिद्धायाञ्च तस्यां यत्र क्वापि सा अनुरागविषयाणां माहात्म्यज्ञानेन परिपुष्टा वा प्रकटा वा चेत् तदा तादृगनुरागे सुखेन 'भक्ति'पदप्रयोगोपपत्तेः. यथा 'स्वामिभक्ताः कंसानुचराः', 'गुरुभक्तो वरतन्तुशिष्यः' 'पितृभक्तः श्रवणः'

प्रयोगदर्शनात्. स्नेहश्च न इच्छाविशेषो, विशेषस्य निर्वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच सुखविषयिणी सा स्नेहः इति युक्तं, स्वर्गकामनायामपि तथात्वप्रसंगात्, पुत्रादिविषयकस्नेहस्य इच्छारूपत्वाभावेन तस्य स्नेहत्वाभावप्रसंगात् च. * ननु उक्तम् इष्यमाणविषयिणी सा स्नेहः * इति, तत् न, स्वर्गस्य शत्रुहननादेः च इष्यमाणत्वात् तद्विषयकेच्छायां 'स्नेहा'दिपदप्रयोगस्य क्वापि अदर्शनात्, ''स्निह्यामि! प्रीणामि!! अनुरज्यामि!!! न इच्छामि'' इति विरुद्धानुव्यवसायात् च.

इत्यादिषु 'भक्ति'पदप्रयोगो निर्दुष्टएव. माहात्म्यज्ञानं विनातु जायमाना अनुरक्तिः न 'भक्ति'पदवाच्या भवितुम् अर्हति. * ननु किम् इदं माहात्म्यं नाम यद् अनुरक्तिं भक्तिं भावयति * इति चेद्,

अत्र ब्रूमः : क्षुद्रेभ्यो बहुभ्यो हि साधारणानुरक्तिविषयेभ्यः कस्यचिद् निजानुरागास्पदस्य अधिकं महत्त्वं यदैव कश्चन विजानाति तदैव विशेषानुरक्तिः भवन्ती सा भक्तिः सम्पद्यते इति. नच * कथंनु तद् विज्ञातव्यम्? * इति आशंकनीयं, यतो भगवतैव ''**यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेव अवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्**'' (भग.गीता.१०।४१) इति निरूपयता जगत्यपि अनेकेषु निजमाहात्म्यांशानां प्रकटीकरणात् तत्र-तत्र च तथा बोधादपि ममत्वोपाधिक्याम् अनुरक्तौ माहात्म्यविशेषबोधे औपाधिकभक्तेरपि सम्भवात्. सर्वथातु अंशिरूपस्य भगवतो निरुपधिकमाहात्म्यं निरुपधिकस्नेहास्पदत्वं च स्वतःसिद्धमिति तद्भक्तिरपि निरुपाधिका भवति. * ननु भो परमात्मनि जायमाना भक्तिः किं निरुपाधिकैव भवति * इति चेत् न इति वदामः. यद्यपि भक्तिस्तु पञ्चमपुरुषार्थरूपेति तदंगत्वेन पुरुषार्थचतुष्टयानुष्ठानेऽपि न काचिद् बाधा तथापि भक्तीतरफलकामोपाधिकातु परमात्मन्यपि जायमाना सा सोपाधिकैव. अतो भक्तेस्तु स्वेतरफलांगत्वेन जातत्वे ध्रुवमेव सोपाधिकत्वम् इति सिद्धान्तः. तस्माद् जगति पूर्वसिद्धैव परमात्मानुरक्तिरपि अहन्ताममतौपाधिकी भूत्वा लौकिकेषु विषयेषु विशकलिता परमात्माभिमुखी भवितुं न शक्नोति. भगवतो हि अनितरसाधारणमाहात्म्यज्ञानेनतु भगवदाभिमुख्यसम्पत्तौ तत्र आनन्दात्मनः तस्य नामरूपगुणलीलायाम् अनुभूयमानैः प्रेम-मोद-प्रमोदैः सा अनुरक्तिः निजां निरुपधिभक्तिरूपतां शनकैः अभिव्यनक्ति. तस्मात् सुष्ठूपपादितं

लोकसिद्धत्वाद् इति.

*ननु माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहस्य भक्तित्वाभ्युपगमे, माहात्म्यज्ञानं च सुदृढस्नेहः च इति, उभे मिलित्वा किं भक्तिः भवतः? किञ्च अतो यदि एवम्! यदा हि नैकतरं तदा भक्तिः न भवित्री इति. अथ माहात्म्यज्ञानाद् जायमानो वा किं सुदृढस्नेहो भक्तिः? ननु कः प्रभेदः पूर्वस्मात्! मातापितृभ्यां जाता हि सुता तयोः पञ्चत्वंगतत्वेऽपि सुतात्वं न जहाति एवमेव भक्तिम् उत्पाद्य निवृत्तेऽपि माहात्म्यज्ञाने भक्तिः समवतिष्ठेत. तत्र एकतरकल्पस्तु आचार्योक्तिविरोधाद् अशक्यएव. तद् उच्यते "**माहात्म्यज्ञानस्य उपयोगम् आह... भक्तिसिद्ध्यर्थम् इति. भक्तेः अंशद्वयम्... रतिः देवादिविषयिणी भावः इति अभिधीयते. रतिः स्नेहो देवत्वं माहात्म्यम्. तद् आत्मत्वेन ज्ञाते भवति. तेन भजनार्थमेव आत्मत्वेन तन्निरूपणं माहात्म्यं च उच्यते... ब्रह्मस्वरूपज्ञानेनैव पुरुषार्थसिद्धेः. तच्छाब्दज्ञानम् अप्रयोजकम्, इदानीन्तनेषु व्यभिचारदर्शनात्. साक्षात्कारस्तु ब्रह्माधीनः, प्रसन्नं तद् आविर्भवति... तदाविर्भावार्थं प्रेमसेवां निरूपयन्ती (श्रुतिः) अवज्ञानादिदोषाभावाय माहात्म्यं च सुदृढस्नेहाय आत्मत्वं च आह**" (त.दी.नि.प्र.१।४२) इति* चेत् न, भावानवबोधात्. जीवात्मसु पूर्वसिद्धैव परमात्मानुरक्तिः भगवदाभिमुख्यजननोपयोगिना माहात्म्यज्ञानेन भक्तिपदवीम् आरोहन्ती तत्र भगवतो भक्तभावानुरोधिनं स्वरूपं घटयन्ती च अन्यविधमाहात्म्यनिरपेक्षापि स्वभजनीयभगवत्स्वरूपस्य तद्भक्तैकगोचरम् अनिर्वचनीयं कमपि माहात्म्यविशेषं निर्वहत्यपि इति रहस्यम् अत्र.

स्याद् एतद् *भक्तेः खलु लोकसिद्धत्वेतु शास्त्रोपदिष्टविध्यानर्थक्यम्. भक्तौ खलु, माहात्म्यज्ञानस्य च सुदृढस्नेहस्य चेति, उभयव्यपेक्षायान्तु माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढस्नेहविषये आराध्यताप्रकारकबोधनैयत्येन "आराध्यत्वप्रकारकं ज्ञानं भक्तिः" इति लक्षणांगीकारापत्तिः च* इति, यदि लोकसिद्धायां भक्तौ निरुपाधिकत्वम् असम्मतं न स्याद्; भक्तिज्ञानयोः च ऐक्यञ्चापि अनंगीकृतं न स्यात्. *ननु अनिर्ज्ञातविषये यथा प्रीत्यसम्भवः तथा अनिर्ज्ञातमाहात्म्ये बद्धा प्रीतिरपि भक्तिः भवितुं नार्हति.

अथ ज्ञातेतु प्रीतिविषयस्य माहात्म्ये आराध्यत्वं तत्र प्रकारतया भायादेव* इत्यतः आहुः **अतएव न आराध्यत्वेन ज्ञानम्** इति. तथाहि भक्तेः लोकसिद्धत्वेऽपि निरुपाधिकायाः तस्याः लौकिकविषयेषु असम्भवादेव, तादृग्विशेषणविशिष्टायाः भक्तेस्तु परमात्मन्येव कर्तुं शक्यत्वेन, सोपाधिकायाः सकामभक्तेस्तु शास्त्रीयोपदेशं विना स्वतोऽपि परमात्मनि व्यापारयितुं शक्यत्वेनापि, तादृश्यां निरुपाधिकभक्तावेव शास्त्रोपदेशानां प्रधानो भरः. तद् उक्तं **''अकामः सर्वकामो वा मोक्षकामः उदारधीः तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्''** (भाग.पुरा.२।३।१०) इति. *ननु साधनदशायां कथन्नु अकामत्वसम्भवः* इति शंका चेद् अवेहि : नहि 'अकाम'पदेन सर्वकामनारहितएव जनो निरुपाधिकभक्तौ अधिक्रियते, अनेकविधकामैः ग्रस्तस्यापि पुरुषस्य भगवद्भक्त्यनुष्ठाने कामनिरपेक्षत्वसम्भवाद्. भगवदितरेभ्यः च निजकामपूर्त्यलिप्सोरपि भगवतः सकाशाद् अनेकविधकामपूर्त्यै भगवद्भजने प्रवृत्तिसम्भवात् च. तस्मात् सर्वकामोऽपि पुरुषो कामपूरकतया अपश्यन् तीव्रेण भक्तियोगेन तं यजति चेत् तद्भक्तिः निरुपाधिक्येव. *ननु **''न मयि आवेशितधियां कामः कामाय कल्पते, भर्जिताः क्वथिताः धानाः भूयो बीजाय नेशते''** (भाग.पुरा.१०।१७।२६) इति वचनाद् भगवति बद्धे कामभावेऽपि दोषराहित्यांगीकारात् न निष्कामसकामभक्त्योः दृढः कश्चन प्रभेदः* इति चेत् शृंगारालम्बनविभावभूतस्य तद्भाववतीषु तन्निवृत्तिपूर्वकभक्तिभावजननेच्छोः भगवतो वचनम् इदं भक्त्यात्मिकायाः रतेः शृंगारान्तर्भावनिराकरणपरमेव. तस्मात् साधारण्येन सर्वजनगोचरीभूय भक्तिजनकस्य भगवतो भूमौ अवतारकालिकी इयं व्यवस्था, नतु पुरुषविशेषं प्रति भगवत्प्राकट्यकारिभक्तिमार्गीयेति. तथाच अनवतारकालेऽपि भगवति आराध्यताबुद्धिः निष्कामस्येव सकामस्यापि पुरुषस्य सम्भवति. तस्माद् उभयविधबुद्धिभ्यां जाते रतीअपि उभयविधे भवितुम् अर्हतएव. तदेतद् अभाणि भगवता—

''चतुर्विधाः भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो... आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च... तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः एकभक्तिः विशिष्यते. प्रियोहि ज्ञानिनो अत्यर्थम् अहं, सच मम प्रियः... उदाराः सर्वएव एते ज्ञानीतु आत्मैव मे मतम्... बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान्

मां प्रपद्यते 'वासुदेवः सर्वम्' इति... कामैः तैस्तैः हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते अन्यदेवताः, तं-तं नियमम् आस्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया''.

(भग.गीता.७।१६-२०) इति.

ततः सिद्धम् एतत् क्वचित् अर्थप्राप्तिकामनाजन्या भगवति आराध्यताबुद्धिः. क्वचिद् दुःखनिवृत्तिकामनाजन्या सा. क्वचित्तु ज्ञानावाप्तिकामनाजन्यापि. एतास्तु आराध्यत्वप्रकारिकाः हि बुद्धयो न भक्तिप्रभेदाः किमुत भक्त्याभासाः. नच * ''चतुर्विधाः भजन्ते मां... उदाराः सर्वेएव एते'' इति चतुर्विधभजनकर्तॄणामपि एकवाक्योपात्तप्रशंसायामपि सत्यां कुतोहि इमाः बुद्धिभेदाः कुतस्तरां च न भक्तिभेदाः * इति आशंकनीयं, चतुर्थस्य ज्ञानित्वोक्त्या त्रयाणाम् अज्ञानित्वसूचनाद् ज्ञानिनः च स्वात्यर्थप्रियत्वोक्त्या च अन्येषाम् अतथात्वद्योतनात् च. औदार्योक्तिस्तु **''अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः''** (भग.गीता.९।३०) इति सुदुराचारिप्रशंसान्यायेन अवगन्तव्या. तदेतद् उपोद्बलितं—

''जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु वेद दुःखात्मकान् कामान्, परित्यागेऽपि अनीश्वरः. ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुः दृढनिश्चयः जुषमाणः च तान् कामान् दुःखोदर्कान् च गर्हयन्. प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा असकृत्... कामाः हृदय्याः नश्यन्ति सर्वे, मयि हृदि स्थिते. न किञ्चित् साधवो धीराः भक्ताः ह्येकान्तिनो मम वाञ्छत्यपि मया दत्तं कैवल्यम् अपुनर्भवम्''.

(भाग.पुरा.११।२१।२७-३४) इत्यत्र.

वस्तुतस्तु सकामभक्तौतु 'भक्ति'पदस्य प्रयोगो ''घटं कुरु'' इतिवद् भाविनीं वृत्तिम् आदाय भाक्तएव. अतोहि कामनाजन्या श्रद्धा वा श्रद्धाजन्या भक्तिपर्यवसायिनी

भजनक्रिया वा न भक्तिरूपैव. क्वचित्पुनः ''**वासुदेवः सर्वम्**'' इत्येतादृशी बुद्धिरपि ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत**'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुत्युक्तरीत्या केवला तत्तादात्म्यप्रतीतिजनिका शान्तरसात्मिकापि सम्भवति. नच तस्याः भक्तित्वं नियतं तद् आह **ज्ञानान्तरं वा** इति.

एतेन —

> ''**संसारभीरुता दोषदर्शनं विषयेषु च योगिसंगो मुनीनां च श्रुताः शमदमक्षमाः, अध्यात्मविषया गोष्ठी... भक्ताः भक्तिरसोन्मत्ताः शंकरस्य हरेरपि विष्णुभक्तिप्रभावाद्या विभावाः यत्र संमताः, मन्दस्पन्दो बहिश्चित्तम् आनन्दाश्रुप्लुते दृशौ रोमाञ्चकञ्चुका मूर्तिः मोक्षशास्त्रार्थचिन्तनं, ब्रह्मविद्योपदेशः च संवादः तत्त्वगोचरो नासाग्रानुगतेः नेत्रे ज्ञानमुद्राप्रदर्शनम्, इत्यादयो अनुभावाः स्युः. इमेतु व्यभिचारिणः उन्मादः परमानन्दरसपानसमुद्भवो हर्षो धृतिः समीचीनो विबोधः च स्मृतिः मतिः. निर्वेदः तत्त्वबोधोत्थः स्थायी शान्तो भवेद् असौ, रत्यादिभेदविधुरो विषयोपप्लवोज्झितः, परानन्दघनैकात्मनिर्भासः 'शान्तः' उच्यते. स्वतो विषयवैमुख्यं शमः स्थायी अथवा भवेत्**''.
>
> (संगी.रत्ना.७।१५०४-१५१३).

इति यद् भक्तेः शान्तरसे अन्तर्भावो दर्शितः सोऽपि अनभिमतो बोधितः, श्रीभागवतपुराणोदिताभ्यः कर्म-ज्ञान-भक्त्यधिकारिताभ्यो वैपरीत्यात्. तथाहि तत्र ''**योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च**'' इति उपक्रम्य ''**निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनाम् इह कर्मसु, तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनां, यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः**'', ''**तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो**

वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह'' (भाग.परा. ११।२०।६-८,३१) इति एवं संगीतरत्नाकरोक्तायाः भक्तेः वैपरीत्येन तत्स्वरूपाधिकारितयोः निरूपणात्.

यदातु पुनः सर्वत्र भगवत्तादात्म्यप्रतीत्या भगवन्माहात्म्यं गौणभावं नाप्नोति; नापि तन्माहात्म्यप्रतीत्या सर्वत्र तत्तादात्म्यप्रतीतिरपि गौणभावम् आप्नोति, तदैव हि पूर्वसिद्धायाएव निरुपाधिकायाः परमात्मरतेः पुनश्च उदयो हृदये भक्तिरसात्मकः सम्भवति. तद् उक्तं **''पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते** रतिः प्रसंगः च **तदाश्रयेषु महत्सु यां-याम् उपयामि''** (भाग.पुरा.१।१९।१६) इत्यस्य व्याख्याने **''...विरुद्धधर्माश्रयत्वात् च भगवति रतिरेव अस्तु... जन्मतु अवश्यम्भावि देहजातिक्रियासु न कोऽपि रसो, अतो यां-यामेव सृष्टिम् उपयामि तत्र-तत्र भगवति रतिः अस्तु. ननु सर्वस्यापि भगवत्त्वात् पुत्रादिषु रतिः सिद्धैव तद् अलं प्रार्थनया इत्यतः आह 'अनन्ते' इति. देशकालवस्त्वपरिच्छिन्ने, तादृशत्वं न पुत्रादिषु''** (सुबो.१।१९।१६) इति. इह भक्तिसंसृत्योः साहचर्यम् इतरेतराविरोधि यथा तथा भगवन्माहात्म्यतादात्म्यप्रतीत्योरपि भक्तिरसएव सामानाधिकरण्यं समुपपद्यते.

ततश्च नेह शान्तरसात्मिकायाः बुद्धेः प्रशंसा किन्तु 'ज्ञानी'-'भजते' इति पदद्वयसमभिव्याहारेण भगवन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकेन भगवत्तादात्म्यबोधाभिव्यक्तेन स्नेहेन च यस्य भगवद्भजने प्रवृत्तिः सएव भगवतः प्रियः; तस्यैव च भगवान् अत्यर्थं प्रियइति, सएव इह **''ज्ञानीतु आत्मैव मे''** इति स्तूयते.

तस्मात् परमात्मस्वभावसिद्धा खलु आत्मरतिः, तदंशभूते तन्माहात्म्याभिज्ञे जीवात्मनि भक्तित्वेन अंकुरिता सती, भक्तस्य बुद्ध्यहंकारचित्तमनस्सु कन्दलपल्लवकलिकाप्रसूनक्रमेण विकसमाना च, कदाचिद् भगवन्तं बाह्येन्द्रियगोचरमपि करोति तदा फलायते. अतो न सा विषयवैराग्यमात्रेण भगवदेकाग्रतारूपं ध्यानं वा आराध्यत्वेन ज्ञानमात्रं वा इति भावयितुं शक्या, आत्मरतिमूलत्वादेव तस्याः. लोके तावद् अनिर्ज्ञाते वस्तुनि सोपाधिकरतिः जायमाना नोपलभ्यते. तथापि **''अहम् आत्मा आत्मनां... प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि; अतो मयि रतिं कुर्याद्, देहादिः यत्कृते प्रियः''** (भाग.पुरा.३।९।४२) इति वचनेन आभक्तिभावोदयं

अतएव न यत्नोऽपि सः. अनुकूलबुद्धिवेद्यत्वात् च न द्वेषादिरपि. सविषयकत्वात् न लौकिकसुखरूपोऽपि. प्रत्यक्षत्वात् च अदृष्टरूपोऽपि न.

सर्वरत्याधारभूते अनिर्ज्ञातेऽपि परमात्मनि निरुपाधिकायाः रतेस्तु सिद्धत्वादपि तथा.

*ननु मा भूद् भक्तेः ज्ञानविशेषरूपता, जीवात्मनः प्रति स्वरूपप्राकट्यन्तु भगवतो यथा तदुन्निनीषारूपवरणापरपर्यायप्रसादप्रयुक्तं तथा भक्तिद्वारकं दिव्यलोकप्रापणपूर्वकं भगवद्दर्शनमपि भगवत्प्रसादहेतुकमेव. तथाच उपलभ्यते श्रुत्यादिषु **''यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः. तस्य एषः आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''** (कठोप.१।२३), **''एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः ऊर्ध्वम् उन्निनीषते, एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते''** (कौषि.उप.३।८), **''अणोः अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितो अस्य जन्तोः तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादाद् महीमानम् ईशम्''**(श्वेता.उप.३।२०), **''भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यः च अस्मि तत्त्वतः, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं, सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयो मत्प्रसादाद् अवाप्नोति शाश्वतं पदम् अव्ययम्''** (भग.गीता.१८।५५-५६) इत्येवमादिषु. तस्माद् उद्दिधीर्षितजीवस्य यत् साधुकर्मणि भक्तौ वा प्रवर्तनं तदपि भगवन्निष्ठजीवोद्धारप्रयत्नरूपम् इति स्वीकरणीयम्. तत्तु तत्त्वदीपनिबन्धारम्भेऽपि **''सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह''** (त.दी.नि.प्र.१।१) श्रीकृष्णस्तुतिव्याजेन आचार्यैः ध्वनितं च. भगवतोऽपि जीवोद्धारे कर्तृत्वाभ्युपगमेन ज्ञानेच्छाप्रयत्नावश्यंभावात्. तथा सति मर्कटशावकन्यायेन जीवस्यापि तत्र भगवद्यत्नानुविधायियत्नरूपया भक्त्या भाव्यम्. सति चैवं कृपाभक्त्योः उभयोरपि यत्नरूपत्वावगमेन भक्तेः यत्नरूपत्वं कुतो न अंगीक्रियते?* इति चेत् तत्र आहुः **अतएव न यत्नोऽपि सः** इति. आत्मरतिर्हि आत्मानन्दस्वभावरूपा भगवतः च कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यन्तु अकरणकत्वे सति कर्तृत्वरूपम्. जीवात्मनितु ज्ञानस्य बुद्धिकरणकत्वं, इच्छायाअपि बुद्धिमनःकरणकत्वं, यत्नस्य पुनः बुद्ध्यहंकारमनोरूपत्रितयकरणकत्वम्. एतद्वैपरीत्येन स्नेहस्यतु भगवदात्मरत्यंशतया आत्मधर्मतया जीवचित्तादिषु आविर्भावेऽपि तज्जन्यत्वाभावादेव न तद्यत्नरूपतेति. ततो स्नेहात्मिकायाः भक्तेरपि न यत्नरूपत्वं सम्भवदुक्तिकम्. शिष्टौ द्वेषादृष्टविषयकौ तु कल्पौ निगदव्याख्यातौ.

*ननु "...**मनो बुद्धिरेव च अंहकारः इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः**" (भग.गीता.७।४) इति वचने मनोबुद्ध्याद्यन्तःकरणानामपि स्वांशत्वस्य भगवतैव अंगीकृतत्वेन भक्तेः मनोबुद्ध्याद्यन्तःकरणजन्यत्वे का बाधा?* इति चेद् अत्र ब्रूमः : सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सदंशरूपाणि हि एतानि मनोबुद्ध्यंहकारचित्तानि, जीवात्मातु चिदंशरूपो, भक्तिस्तु पुनः आनन्दांशसम्भूता, पूर्वनिर्दिष्टाभ्यां "**नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**", "**एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति**" (बृह.उप.२।४।५, ४।३।-३२) इति श्रुतिभ्यामिति. इह साधारणरतेरपि आनन्दांशत्वं स्वीकृतं तत्र आनन्दरूपस्य भगवतः प्रसादेन सञ्जातायाः तदेकविषयिण्याः भक्तेः आनन्दांशत्वे शंका अनवसरपराहतैव.

नच *"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इति प्रतिपादनात् कामस्य च "**कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मनएव**" (बृह.उप.१।५।३) इति कामायैव सर्वस्य प्रियता प्रतिपादिता. अतो मनसिजः कामएव प्रियतामूलम्. नापि कामस्य अब्रह्मधर्मत्वम् आशंकनीयं, "**सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय**", "**कामः तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्**" (तैत्ति.उप.२२।६, ऋक्संहि.१०।१२९।४) इत्यादिवचनेषु कामस्यापि सृष्टौ हेतुत्वनिरूपणात्. "**आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते...**" (तैत्ति.उप.३।६) इति वाक्यान्तरेण संवादेतु कामस्य आनन्दात्मकत्वमपि निष्प्रत्यूहमिति भक्तेः कामरूपताप्रतिषेधपुरस्सरं रतिरूपत्वस्थापने न किमपि तारतम्यं सिध्यति. किञ्च भक्तेः रतित्वेऽपि "**रतिः मनोऽनुकूले अर्थे मनसः प्रवणायितम्**" (साहि.दर्प.३।१७६) इति परिभाषया न कामेन प्रभेदः कश्चन* इति वाच्यं,

ब्रह्मणः स्वरूपकोटौतु निखिलानामपि धर्माणाम् आनन्दात्मकत्वमेवेति न तत्र कोऽपि विरोधइति. तत्कार्यकारणकोट्योस्तु तएव उत्पत्त्यादयो धर्माः अतथाभूताः. सदंशेषु "**अन्यो अन्तर आत्मा विज्ञानमयः... अन्यो अन्तर आत्मा**

आनन्दमयः'', ''**तद्धा इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत**'' (तैत्ति.उप.२।४-५, बृह.उप.१।४।७) इति वचनाभ्यां सच्चिदानन्दे ब्रह्मणि इदंकारास्पदजडसृष्ट्युत्पत्तेः नामरूपाभ्यामेव व्याकरणस्य उक्तत्वेन, चिदानन्दांशतिरोभावात्. ये पुनः द्रष्टृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो जीवधर्माः, ते ब्रह्मणितु आनन्दात्मकाअपि सन्तः तच्चिदंशभूतजीवेषु, आनन्दांशतिरोभावसमानाधिकरणाः भवन्ति. तस्माद् ब्राह्मो हि कामः सत्यतया सच्चिदानन्दात्मकोऽपि जीवेषु वाक्योत्तरार्धांशेन ''**सतो बन्धुम् असति निरविन्दन् हृदि...**'' (ऋक्संहि.१०।१२९।४) इति अतथैव. सृष्टौहि **सतो** जीवस्य **असति** अनुत्पन्ने उत्पत्त्यर्थम्, अप्राप्ते प्राप्त्यर्थम्, अभुक्ते च भोगार्थं वा इत्येवमादिरूपे असद्विषये **बन्धुं** बन्धनकारिणं असत्यविषयकं **हृदि** मनसि **निरविन्दन्** अवधारितवान् इति अन्वयः.

नच *एकस्मिन् अद्वितीये ब्रह्मण्यपि बहुभवनकामना कुतो न तथैव असद्विषयिणी* इति शंक्यं, ''**दुरवबोधइव तव अयं विहारयोगो... आत्मनैव अविक्रियमाणेन सगुणम् अगुणः सृजसि पासि हरसि... नहि विरोधः उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये... विवादानवसरे उपरतसमस्तमायामये केवलएव आत्ममायाम् अन्तर्धाय कोनु अर्थो दुर्घटइव भवति स्वरूपद्वयाभावाद्**'' (भाग.पुरा.६।९।३४-३३) इत्यत्र अविकृतात्मपरिणामवादाभ्युपगमात् स्वस्यच आत्मकामस्य परमात्मनः असत्त्वासम्भवात् च. जीवेषु जायमानः कामस्तु न आत्मकामः स्वेतरवस्तूनाम् अनित्यसंगादेव अनिष्टोत्पत्तेः श्रवणात्. तथाहि ''**ध्यायतो विषयान् पुंसः संगः तेषु उपजायते. संगात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधो अभिजायते, क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः, स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**'', ''**जहि शत्रुं... कामरूपं दुरासदम्**'' (भग.गीता.२।६२-६३, ३।४३) इति. आतश्च भगवत्प्रापिकायाः भक्तेः कामरूपता नोचितेति सा भगवदात्मरतिरूपैव अंगीकार्या. साहित्यदर्पणोक्तायां रतिपरिभाषायामपि 'मनोऽनुकूले' इति मनःप्रिये इत्येव अर्थः. द्विष्टोऽपि जनो कदाचिद् वधार्थं मनसा काम्यो भवेदेवेति न यस्मिन्कस्मिन्नपि वस्तुनि कर्मणि वा तत्र अभिप्रायः. अतएव निगदितं विश्वनाथेन रत्यादेः ''**सुखादितादात्म्यांगीकारे च आस्माकीं**

(तत्र स्नेहस्य मनोधर्मान्तरत्वं स्थायित्वं च)

अतो मनोधर्मान्तरमेव सः इति निश्चयः. सोऽपि न क्षणिकः, कालान्तरे तत्कार्यस्य दर्शनात्. तद्विषयकसंस्कारे मानाभावात् च स्थाय्येव.

सिद्धान्तशय्याम् अधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्राम् उपेयाः'', ''**अविरुद्धाः विरुद्धाः वा यं तिरोधातुम् अक्षमाः आस्वादांकुरकन्दो असौ भावः स्थायी''** (साहि.दर्प.३।२८, १७४) इति, कामस्यतु निर्वेदादिभिः शक्यएव तिरोभावः.

*ननु कामरूपताभावे भक्तिः मनस्यपि नोदीयाद् अनुदितायान्तु तस्यां मनसि ''**त्रीणि आत्मने अकुरुतेति मनो वाचं प्राणम्... अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम् अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति, मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति... अयम् आत्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः**'' (बृह.उप.१।५।३) इति श्रुत्या तस्याः मनोधर्मत्वाभावे श्रवणादिनवकेऽपि भक्तो असमर्थएव स्यात्. तथात्वेच विभावाद्यभाद् भक्तेः रसत्वमपि अपेयादिति वृद्धिम् इच्छतो मूलमपि नष्टमिति किं न कष्टतरम्!* इति चेत् तत्र आहुः **अतो मनोधर्मान्तरमेव... सोऽपि न क्षणिकः, कालान्तरे तत्कार्यस्य दर्शनाद्** इत्यादिना.

*ननु सम्भवेद् लौकिक्याः रतेः इह मनोधर्मान्तरता कथंकारन्तु घट्टकुट्यां प्रभातवृतान्तानुवर्तनी पारमात्मिक्याः आनन्दधर्मभूतायाः अनुरक्तेः मनोधर्मान्तरता नाम? नूनं भागवती इयम् इति विज्ञाय सन्तोष्टव्यम् : तथाहि—

''**'मम एते' मनसा यद्-यद् 'असौ अहम्' इति ब्रुवन् पुमान् गृह्णीयात् तद् राद्धं कर्म येन पुनर्भवः... सर्वे क्रमानुरोधेन मनसि इन्द्रियगोचराः आयान्ति वर्गशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः. सत्त्वेकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि तमः चन्द्रमसीव इदम् उपरज्य अवभासते**''(भाग.पुरा.४।२९।६२-६९).

''**शृण्वतः. श्रद्धया नित्यं गृणतः च स्वचेष्टितं कालेन नातिदीर्घेण**

अतएव काव्यादावपि उच्यते "**आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस् तनीयानपि, क्षीयेतापि नच अपराधविधिना, नत्या न यद् वर्धते, पीयूषप्रतिवेदिनस् त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं प्रेम्णस् तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्!**" (श्रीरूप.गो.पद्या.) इत्यादौ.

भगवान् विशते हृदि. प्रविष्टः **कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहं** धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरद्. धौतात्मा पुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति" (भाग.पुरा.२।८।३-६).

"**यथा-यथा आत्मा परिमृज्यते असौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः तथा-तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुः यथैव अञ्जनसम्प्रयुक्तम्. विषयान् ध्यायतः चित्तं विषयेषु विषज्जते माम् अनुस्मरतः चित्तं मय्येव प्रविलीयते**" (भाग.पुरा.११।१४।२६-२७).

तथाहि स्वमहिम्नि प्रतिष्ठितः आत्मानन्दः आत्मरतिः आत्मक्रीडो भगवान् भजनपरायणस्य श्रवणादिनवकैः असकृद् आवर्तितैः माहात्म्यज्ञानरूपेण बुद्धौ, तया दैन्यभावोपेते अहंकारे, 'अहं भगवतो भगवान् च मदीयो' इति भक्त्यात्मकाहंकारेण चित्तेऽपि आविष्टो भवति. तादृशस्य भक्तस्य चञ्चलमपि मनो भजनविधौ भगवत्स्वरूपे च तदितरविषयकं स्वचाञ्चल्यं परित्यज्य पुनःपुनः तत्रैव परिभ्रमद् भवति. तदा भक्तिभावः स्थायी भूत्वा रसताम् उपेतीति सूपपादितम् **अतो मनोधर्मान्तरमेव सः... सोऽपि न क्षणिकः... तद्विषयकसंस्कारे मानाभावात् च स्थाय्येव** इति. इह लौकिकेषु विषयेषु मनसा बद्धस्य अनुरागस्य ज्ञानेच्छाप्रतिभास्मृतियत्नाद्यनन्तर्भावे प्रसाधिते कैमुतिकन्यायेन भगवति मनसा बद्धायाः अनुरक्तेरपि केवलमनोबुद्ध्यहंकारचित्तधर्मता दुरुपपादैव. तथापि सर्वोपादानतया सर्वांशिनः स्मृतिज्ञानाज्ञानादिसर्वप्रेरकस्य सर्वविधानन्दमूलस्य भगवतो निजात्मानन्दधर्म-रूपायाः आत्मरतेरेव भक्तेषु भक्तित्वेन प्रादुर्भावांगीकाराद् भक्तमनोबुद्ध्यहंकारचित्तप्रा-णेन्द्रियदेहादिषु आवेशानुषंगिका तत्तद्धर्मरूपतापि अविरुद्धैव, भगवतः सर्वत्र विद्यमानत्वादेव. तद् उक्तं "**चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्. ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति. यथा रसनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यामानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति**" (सुबो.२।६।३३) इति.

अतएव निःशंकशार्ङ्गदेवोऽपि आह **"अतो निरन्तरायत्वात् परां विश्रान्तिम् आश्रिता प्रतिभानुभवस्मृत्याद्यन्यबोधविलक्षणा ब्रह्मसंविद्विसदृशी नानारत्यादि संगामात् सुखरूपा स्वसंवेद्या संविदास्वादनाभिधा रसः स्याद् अथवा स्थायी रसः तद्गोचरीभवन्"** (संगी.रत्ना.७।१३५४-१३५६) इति. इह 'ब्रह्मसंविद्विसदृशी सुखरूपा' इति पदयोः व्याख्याने कल्लिनाथोऽपि **"नानारत्यादिसंगमाद् बहुधाभूतरत्यादिस्थायिभावसम्बन्धाद् हेतोः ब्रह्मसंविदो वैसादृश्यम् उक्त्वा अंशान्तरैः सच्चिदानन्दरूपैः सादृश्यमपि आह... 'सुखरूपा' इत्यनेन आनन्दरूपता, 'स्वसंवेद्या' इत्यनेन चिद्रूपता, 'संविदास्वादना...' इत्यनेन सद्रूपता च दर्शिता इति अवगन्तव्यम्"** (तत्रैव) इति उपपादितवान्. तदिह लौकिकविषयकानां स्थायिभावानां रसभावापत्तौ एतादृक् माहात्म्यं चेत् परमात्मविषयिण्याः भक्तेः रसभावापत्तौ किन्नु अशक्यम्!

तस्मात् प्रतिभानुभूतिस्मृतिविलक्षणायाः भक्तेरपि रसत्वे नूनम् एतत् निखिलम् अविरुद्धमेव. अतएव सर्वनिर्णयनिबन्धे प्रतिपादितं **"यथा-यथा हरिः कृष्णो मनसि आविशते निजे तथा-तथा साधनेषु परिनिष्ठा विवर्धते. श्रवणकीर्तनादिना हरिः चेद् हृदये निविशते तदा पूजा सर्वदा निर्वहति इति अर्थः"** (त.दी.नि.प्र.२।२४०) इति. भक्तिज्ञानयोः फलानुभूतौ **"ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा, संघातस्य विलीनत्वाद्. भक्तानान्तु विशेषतः सर्वेन्द्रियैः तथाच अन्तःकरणैः आत्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते"** (त.दी.नि.१।५०-५१) इति प्रभेदो भक्तिमार्गाब्जमार्तण्डभूतैः श्रीमदाचार्यचरणैः प्रकाशितः.

तस्माद् भक्तिभावेन यस्य-कस्यापि अहन्ता-ममतास्पदस्य देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादेः वा भवतु दारागारपुत्राप्तवित्तादेः वा भवतु भगवद्भजने विनियोगे सम्पादिते **"गंगात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णना गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वद् अत्रापि चैवहि"** (सिद्धा.रह.९) इति न्यायेन सर्वेषां भजनोपयोगितया सर्वत्र भक्तेः आवेशाद् न केवलं मनोधर्मान्तरता किमुत सर्वबाह्याभ्यन्तरकरणधर्मान्तरता प्राणधर्मान्तरता देहधर्मान्तरता च. पितृमातृभ्रातृकलत्रपुत्रवित्तगेहादिधर्मान्तरतायामपि भक्तेः उत्कर्षएव न जातु अपकर्षः कश्चन! तद् उक्तं **"चक्षुर्भ्यां मनसा च तद्रूपामृतम्**

(स्नेहस्य स्थायिमनोधर्मत्वाद् रसत्वम्)

एवं स्थायित्वे तस्य सिद्धे मातुः पुत्रदर्शनादौ तदभिव्यक्तिः उत्कर्षः च भवतीति रसत्वमपि तस्य सुघटमेव. अतएव तत्स्मरणादौ दुग्धस्रावः यथासम्भवं व्यभिचारिणः च तत्र प्रसिद्धाएव. अतएव श्रीमदुद्धवागमने उक्तं "**यशोदा आकर्ण्य नामानि कृष्णस्य आचरितानि च शृण्वन्ति अश्रूणि च अस्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा**" (भाग.पुरा.१०।४३।२८) इति. एवमेव पितृभ्रातृमित्रादिष्वपि द्रष्टव्यम्. अतएव श्रीनन्दादीनां तादृशानि तत्र-तत्र वचांसि, शौनकस्य च "**तद् अश्मसारं हृदयं बत इदं यद् गृह्यमाणैः हरिनामधेयैः न विक्रियेत अथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः**" (भाग.पुरा.२।३।२४) इति.

अनुभवतः सः कोऽपि उत्कटभावः समजनि येन प्रभुणा सह सर्वेन्द्रियव्यापारकृतीच्छा... एवं सति 'वाङ् मनसि सम्पद्यते (मनः प्राणे, प्राणः तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्)' **... एवं सति वाङ् मनसि संगता सती भगवदानन्देन सम्पद्यते"** (ब्र.सू.भा.४।२।१) इति वचने "**शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेन उक्ताः हि गृहाः सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन... एतादृशानां गृहाः भगवद्गृहाएव**" (ब्र.सू.भा.३।३।३९) इत्यत्र च.

एवं स्नेहसामान्यस्य स्थायिभावत्वम् उपपाद्य तं स्नेहविशेषप्रभेदेषु निगमयितुम् उपक्रमन्ते **एवं स्थायित्वे** इत्यारभ्य **गात्ररुहेषु हर्षः** इत्यन्तं यावत्. तस्मात् मातृपितृभ्रातृपुत्रमित्रादिष्वपि यः स्नेहभावः सोऽपि विभावानुभावसञ्चारिभावैः निष्पन्नः सन् स्थायी भवति चेत् तदा तादृशानां स्नेहभावानामपि रसरूपता समानयोगक्षेमत्वाद् अंगीकार्यैव. यदि नाट्यशास्त्रे तेषां रसत्वानुक्तिः बाधिका चेत् तदा नायकयोः स्त्रीपुरुषयोः रतिः अन्येषां रतिप्रकाराणाम् उपलक्षणं भवतु , प्रातिशाख्यव्याकरणसंगीता-युर्वेदादिशास्त्रवद् लक्ष्यं प्रधानीकृत्य नाट्यशास्त्रेणापि खलु ज्ञापकतयैव भाव्यं नतु लक्षणं प्रधानीकृत्य विधायकतयेति.

*आस्तां तावद् लोकविषयणीनां वात्सल्यादिरतीनां रसत्वारसत्वविचिकित्सा

ब्रह्मसूत्राणुभाष्य-भागवतसुबोधिन्योस्तु भगवतो रसरूपता शांगारिक्येव प्रतिपादिता. तथाच शृंगाररसमूर्तेः भगवतो हि आनन्दानुभाविका भक्तिः चेत् तस्याः शृंगाररसएव अन्तर्भावो अंगीकरणीयो नतु स्वतन्त्ररसरूपता. तथाहि **''लीलामध्यपातिभक्तानामपि 'कृष्णोऽहम्' (भाग.पुरा.१०।२७।१९) इति भावः... रसात्मकत्वाद् भक्तेः संयोगविप्रयोगात्मकत्वात्'', '''रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति...'(तैत्ति.उप.२।७) अत्र रसात्मकभगवल्लाभे सति आनन्दवत्त्वम् उक्त्वा तस्यैव जीवनहेतुत्वं परमानन्दहेतुत्वं च उच्यते... स रसस्तु संयोगविप्रयोगाभ्यामेव पूर्णो भवति अनुभूतो नैकतरेण''** (ब्र.सू.भा.३।३।३७, ४।२।१३) इत्यत्र तस्य शृंगाराधिष्ठानरूपसंयोगविप्रयोगोभयात्मकत्वम् उररीकृतम्. तस्माद् भगवतः स्वरूपे शृंगारविभावतैव मन्तव्या. तामसप्रमेयसुबोधिन्यामपि शृंगाररसम् अधिकृत्य **''दुर्लभत्वञ्च एतस्य रसस्य ज्ञापितम्. परमकाष्ठापन्नस्वतन्त्रमहाफलदित्सया एवं कृतवान् प्रभुः...उद्बुद्धपूर्णशृंगाररसात्मकं... अनुभूतं भवति... रसो हि द्विविधो धर्मसहितः केवलः च. केवलो नाट्ये प्रसिद्धो धर्मसहितः सम्भोगे. भगवतो वपुः उभयविधम्''** (सुबो.१०।१८।५) इति प्रतिपादनात् परमकाष्ठापन्नस्वतन्त्रमहा-फलदित्सोः उद्बुद्धपूर्णशृंगाररसात्मकस्य भक्तिः शृंगाररसानुविधायिन्येव संयोगविप्र-योगात्मिका भवितुम् अर्हतीति तत्रैव भक्तेः अन्तर्भावो भावयितुं योग्यः. तस्मादपि न भक्तेः स्वतन्त्ररसता* इति प्राप्ते, अभिदध्महे नायम् आचार्यचरणानां वा प्रभुचरणानां वा आशयः.

तथाहि भगवतो रसात्मकत्वविषये तावद् **'''रसो वै सः' (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या 'सर्वरसः' (छान्दो.उप.३।१४।२) इति श्रुत्या च सर्वरसात्मकत्वं ब्रह्मणो निर्णीतम्. तथाच यस्य रसस्य ये विभावानुभावादिरूपाः तैः च रसः सम्पद्यते, आतानवितानात्मकतन्तुभिरिव. अतः तत्तादात्म्यं रसस्येति सर्वाभेदो निष्प्रत्यूहः''** (ब्र.सू.भा.३।३।१०) इत्यत्र सर्वरसान्तर्गतया भगवान् शृंगाररसात्मको अभ्युपगतो नतु शृंगाररससञ्चारिभावतया सर्वरसात्मकता प्रतिपादिता. नच * **''सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वम् इदम्''** (तत्रैव) इति समानवाक्योपात्तेन घ्राणग्राह्यार्थक'गन्ध'पदेन समभिव्याहारात् 'रस'शब्दोऽपि रसनाग्राह्यमधुराम्ल-

कट्वादिरसवाचको भवतु * इति शंकनीयं, 'कर्म-काम'-'परिदृश्यमानसर्व'मध्योपात्ततया मनोभाववाचकत्वेऽपि बाधाभावात्. अथवा "'रसः' इति कः पदार्थः? अत्र उच्यते आस्वाद्यत्वात्. कथम् आस्वाद्यो रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् अन्नं भुञ्जानाः रसान् आस्वादयन्ति... तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः. तस्माद् नाट्यरसाः इति व्याख्याताः" (भर.नाट्य.६।३१) इति वचनेन आस्वाद्यमानतारूपधर्मसामान्याद् 'रस'शब्दस्य मनोभावोपलक्षणत्वांगीकारेऽपि न बाधकं किञ्चित्. सुबोधिन्यामपि—

> "भक्तिमार्गं प्रकटीकुर्वन् सामान्यतो दशविधलीलायुक्तम् आह... दशविधामेव लीलां करोति. अवतीर्णस्तु अधिकमपि करोति... दशविधलीलावद् भक्तिः एकैव स्वतन्त्रा... एवं परमार्थतो नमस्कारं कृत्वा मोहकलीलासहितमपि भगवन्तं लौकिकरसार्थं नमस्यति... 'स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये'... 'स्वाः'= भक्ताः, तेषां 'छन्दः'=इच्छा, तेषाम् इच्छापूर्त्यर्थम् 'उपात्तो देहो' येन. तेहि यथा भावयन्ति तथा रूपं करोति नटवदेव. रूपन्तु 'वि'शेषेण 'शुद्धं'=चिद्रूपमेव... ननु विशुद्धस्य अभिलषितरूपत्वं कथं?... सर्वरूपएव जातः तत्र अभिलषितरूपभवने कः प्रयासः!"
>
> (सुबो.१०।२४।१०-११) इति.

* ननु साक्षात् श्रीमदंगसंगतासु भगवत्प्रियासु प्रकटितस्य भगवद्रूपस्य मोहकत्वं कथं तावद् उपपद्येत? * नहि भगवद्भक्तानां तथाविधायां भगवल्लीलायां वा स्वरूपे वा मोहो वक्तुं केनापि शक्यो, नच एतावता प्रेयसीनां तासां मोहो असम्भवः "का स्त्री, अंग!, ते कलपदायतमूर्च्छितेन संमोहिता आर्यचरितात् न चलेत्?", "बृहदुरःश्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुः अतिस्पृहा मुह्यते मनः" (भाग.पुरा.१०।२९।४०, ३८।१७) इत्येवमादिवचनेषु तथा निरूपणोपलम्भात् च.

तदेतद् उपोद्बलितम्—

"किञ्च लोकाः भ्रान्ताः भवन्त्येव नियतसम्बन्धाअपि भ्रमन्ते... 'तं मेनिरे अबलाः मूढाः स्त्रैणं च अनुव्रतं रहो अप्रमाणविदो भर्तुः ईश्वरं मतयो यथा' 'अबलाः'=ज्ञानजनकक्रियाकरणे असमर्थाः. अतएव 'मूढाः'=ज्ञानरहिताः. अन्यार्थं भगवत्कृतं भगवदर्थं मन्यन्ते. तद् आह 'स्त्रैणं'=स्त्रीलम्पटम्. 'च'कारात् तद्वशमपि. तत्र हेतुः 'रहः अनुव्रतम्' इति, एकान्ते अनुव्रतं यस्य. यदैव एकान्तस्थानं तदैव भगवान् सन्निहितः. अतो निरन्तरम् एकान्तशीलत्वात् स्त्रैणं मेनिरे. ननु एवमेव स्याद् इत्यतः आह 'अप्रमाणविदो भर्तुः' इति, भर्तुः भगवतः प्रमाणं न जानन्तीति. यथा अन्धाः हस्तिनं मन्यन्ते स्पर्शेन. सहि चक्षुषैव ज्ञेयः. तथा भगवान् भगवच्छास्त्रेणैव विज्ञेयो नतु अवस्थाविशेषेण क्रियामात्रेण... सर्वेषाम् एतेषां मूलप्रमाणाज्ञानात् स्वोत्प्रेक्षया तथात्वं तथा एतासामपि".

(सुबो.१।११।३९).

तथैव भक्तिविषयेऽपि "**भक्तिस्तु विहिता अविहिता चेति द्विविधा : माहात्म्यज्ञानयुता ईश्वरत्वेन प्रभौ निरुपधिस्नेहात्मिका विहिता. अन्यतो अप्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सातु अविहिता. एवम् उभयविधायाअपि तस्याः मुक्तिसाधकत्वम्... भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात्. 'आदि'पदात् पुत्रत्वसम्बन्धित्वादयः. स्नेहाभावेऽपि अविहितत्व-भगवद्विषयकत्वयोः अविशेषाद् द्वेषादिरपि संगृह्यन्ते. तेन भगवत्सम्बन्धमात्रस्य मोक्षसाधकत्वम् उक्तं भवति**" (ब्र.सू.भा.३।३।३९) इत्येतेन निरूपणेन नहि सर्वापि भक्तिः शृंगारात्मिकैव नापि भजनीयोऽपि सर्वदा शृंगारात्मैव इति नियमः. अतोहि महद् एतद् भक्तेः माहात्म्यं यद् तद्वन्तः सर्वासां भगवल्लीलानां श्रवण-कीर्तन-चिन्तनैः, कदाचित् च दर्शनेनापि, मुग्धाः न भवन्ति. स्वकीये भक्तिभावे प्रत्युत प्राचुर्यमेव अनुभवन्ति. तस्माद् भक्तानान्तु कृते भगवान् भक्तिरसात्मकएव हृद्यन्तःस्थितो बहिःस्थिततया च अनुभूयमानस्तु तदालम्बनविभावात्मकोऽपि वा. यदा पुनः ते तद्बाह्यानुभूतिरहिताः तदा "**बाह्याभावेतु आन्तरस्य व्यर्थता**" (सुबो.१।६।०।२) इति न्यायेन जगति निजसत्तायाः वैयर्थ्यं मन्वानाः

ते विरहमपि अनुभवन्ति. कदाचित् पुनः भावौत्कट्ये निजान्तःकरणे भगवन्तं तल्लीलां च अनुभवन्तो विस्मृतबाह्यविरहाअपीति "**बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरन्तु परं फलम्**" (सुबो.१०।२६।०५) इति न्यायेन भक्तेः परमफलतामपि अश्नुवते. भगवतस्तु "**यच्च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**", "**यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात्**" (महाना.उप.११।६, ब्र.सू.४।१।११) इति श्रुतिसूत्राभ्यां उभयत्र अविशेषण अवस्थितत्वेन यत्र-कुत्रापि अनुभूतौ परमफलरूपतैव. तद् आहुः भाष्यकाराः "**'यत्र'=भक्तेषु 'एकाग्रता'=भगवत्स्वरूपे प्रकटएव एकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा, नतु अन्तर्बहिर्विज्ञानम्. 'तत्र'=उभयोः अन्तःपश्यतो बहिःपश्यतः च भावे भगवत्स्वरूपे च, विशेषाभावात् न तारतम्यम् अस्ति**" (ब्र.सू.भा.४।१।४) इति. अतएव दशमतामसफलप्रकरणोपसंहारे श्रीमदाचार्यैः "**ज्ञानन्तु गुणगानं हि परोक्षे तत् प्रतिष्ठितं, प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठम् एवं चेद् रोधने स्थिरं, पुरुषाणां तथा स्त्रीणां रात्रौ च दिवसे तथा ज्ञानं भक्तिः च सततं चक्रवत् परिवर्तते**" (त.दी.नि.३।१०।११०-१११) इति वचने गोपीनां गोपानां चेति उभयोरपि परोक्षे वियोगजस्य ज्ञानरूपगुणगानस्य प्रत्यक्षे संयोगजस्य भक्तिरूपसेवनस्य चक्रवद् आवर्तनं प्रतिपादितम्. न तेन संयोगविप्रयोगौ शृंगाररसात्मकावेव इति नियमः. स्नेहस्य सर्वेषु प्रकारेषु संयोगविप्रयोगौ सम्भवतएवेति पुष्टिभक्तावपि तयोः सम्भवादेव रसभावापत्तावपि तद्रसालम्बनविभावेन शृंगारात्मकतयैव भाव्यमिति न नियतिः. तस्मात् तस्य सर्वरसात्मकतैव सर्वत्र प्रतिपादिता प्रशस्ता च. **अन्यथा "मूढाअपि वैष्णवाः विष्णुगतिं जानन्ति नतु अत्यन्तं निपुणाअपि अवैष्णवा"** (सुबो.१०।२७।४) इति मूढत्वेऽपि विष्णुगतिविज्ञानां वैष्णवानां कृते प्रभुचरणैः "**प्रार्थये रसिका स्वैरं पश्यन्तु इदम् अहर्निशम् एतद्रसानभिज्ञस्तु मा द्राक्षिदपि वैष्णवः**" (प्रेमा.विव.३५।३) इति उक्तं न स्यात्. तस्मात् सुष्ठूक्तं श्रीयशोदानन्दादीनामिव अन्येषामपि भक्तानां भगवद्विप्रयोगे अश्रुपातादिसञ्चारिभावाः सम्भवन्ति इति.

* ननु "[१] **श्रीभागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमः** [२] **तत्सारभूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रहः** [३] **सानिध्यमात्रदत्तश्रीकृष्णप्रेमा विमुक्तिदो रासलीलैकतात्पर्यः कृपया एतत्कथाप्रदः**

(स.स्तो.१६-१७) इति नामसु [१] शास्त्राणाम् आचयनं [२] स्वाचारे स्थापनं [३] शिष्येभ्यः च उपदेशनम् इति आचार्यत्वनिर्वाहकाः त्रिविधाअपि धर्माः द्योतिताः. तेन भागवते प्रधानतया प्रतिपादितस्य भगवतः शृंगारमूर्तिता, तद्रासलीलार्थम् अभिसारिकानां गोपीनां शांर्गारिकरतिमत्ता, तदनुभावनया अनुष्ठितायां भगवत्सेवाकथादौ श्रीमदाचार्याणां भरश्चापि निगदितः. तेन तदुपदिष्टभक्तेरपि शृंगारात्मकता निष्प्रत्यूहा [*] इति चेत् न, रासपञ्चाध्याय्यां संकीर्तितानां लीलानां तात्पर्यनिर्धारकोपक्रमादिषड्विधलिंगविमर्शे न शांर्गारिकरतेः प्राधान्यम्. भूतले प्रादुर्भूतस्य भगवतो रसशास्त्रानुरोधिरमणे व्यापृतत्वेऽपि न आत्मरतिशीलतापराहतिः इति आत्मरत्यद्वैतप्रतिपादनएव तस्याः भरः. तस्यैतस्य एकस्यैव अद्वितीयस्य भगवतो लीलाविस्तारो अयं प्रपञ्चो यथाच —

''सर्वं खलु इदं ब्रह्म... सर्वकर्मा सर्वकामः... सर्वम् इदम् अभ्यात्तो अवाकी अनादरः. एष म आत्मा अन्तर्हृदये एतद् ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१-४).

''यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति...यत्र नान्यत् पश्यति नान्यद् विजानाति स भूमा... सएव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः सएव इदं सर्वम्... सवा एष एवं पश्यन् एवं विजानन् आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति'' (छान्दो.उप.७।२३-२५).

''रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति... को ह्येव अन्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाशे आनन्दो न स्यात्. एष ह्येव आनन्दयाति'' (तैत्ति.उप.२।७).

इत्यादिश्रुतिवचनैः प्रतिपाद्यते. तद् एतद् उपबृंहितं श्रीमद्भागवतेऽपि रासलीलायां जारभाववतीनां प्रवेशानर्हतानिरूपणेन सर्वात्मभाववतीनां तदर्हाणां च गोपीजनानां हि वचनैरपि **''अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्यो अलब्धविनिर्गमाः... तमेव परमात्मानं**

जारबुद्ध्यापि संगताः जहुः गुणमयं देहम्'', ''सन्त्यज्य सर्वविषयान् तव पादमूलं प्राप्ताः... प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां किल बन्धुः आत्मा'' (भाग.पुरा.१०।२६।११-३२) इति. तथा श्रीशुकवचनेनापि ''रेमे तया च आत्मरतः आत्मारामोऽपि अखण्डितः कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्'' (तत्रैव.२७।३४) इति. किञ्च आचार्याणामपि ''आत्मन्येव रतिः यस्य. तेन निष्कामएव तस्याः यथेच्छं कामं पूरितवान्. अस्यामपि दशायाम् आत्मरतएव... आत्मन्येव रमणं क्रीडा च यस्य, यतो अखण्डितः इन्द्रियैः अन्तःकरणैः विषयैः वा'', ''क्रिया सर्वापि सैव अत्र परं कामो न विद्यते... कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः कामाभावेन पूर्णस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः'' (सुबो.१०।२७।३४, २६।४२।१७-१९) इति. नच *अत्र, अतएव, निष्कामः शृंगारो अंगीकरणीयः* इति वाच्यं, तस्य भगवति श्रुतिऋषिरूपासु गोपिकासु शक्यत्वेऽपि प्रेक्षकेषु रसभावजननोद्देश्यकत्वाभावेन नाट्यशास्त्रानुरोधिरसात्मकत्वासम्भवात्. तद् उक्तं ''नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः तस्मात् नाट्यरसाः इति व्याख्याताः'' (भर.नाट्य.६।३१) इति. नच *नभोमण्डलावस्थितविमानस्थसस्त्रीकाः देवगणाः प्रेक्षकाः सन्त्येव* इति वाच्यं, रासलीला हि तावद् 'रेमिरे अहस्सु तच्चित्ताः तन्मनस्काः महोदयाः'' (भाग.पुरा.१०।३२।२६) इति वचनाद् गोपिकानां हि भगवति मनोनिरोधोद्देश्यका नतु नभोमण्डलगतदेवनिरोधोद्देश्यकेति.

तस्माद् ''रसात्मकः श्रुतिशिरःसिद्धः स पुरुषोत्तमः. रसः शृंगारएव अस्ति नाट्यसिद्धान्तसम्मतो, अन्येषु रसता नैव मन्यन्ते भरतादयः. शृंगाररससम्बन्धाद् अन्येऽपि स्युः रसाः इति... स शास्त्रे द्विविधः प्रोक्तः संयोगो विरहः तथा... लोकवेदप्रसिद्धो हि पूर्वः तस्मात् तथा मतः श्रुतिसिद्धाखिलब्रह्मधर्माधारो जगत्कृतिः... उत्तरो गूढभावत्वाद् भक्तैकहृदयस्थितो अनुभूतिप्रमाणैकवेद्यो मानान्तरातिगो अनन्तकोटिलीलानाम् आश्रयो नित्यनूतनः'' (श्रीपु.स्व.आ.नि.२-१२) इति यद् महानुभावानां श्रीमद्धरिरायाणां प्रतिपादनं तत्र भरतनाट्यशास्त्रे ''तद् एषां रसानाम्... उत्पत्तिहेतवः चत्वारो रसाः. तद् यथा शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्सः इति. शृंगाराद् हि भवेद् हास्यो, रौद्रात्तु करुणो रसो, वीरात् चैव अद्भुतोत्पत्तिः बीभत्सात्

च भयानकः'' (भर.नाट्य.६।३८-३९) इति वचनेतु सुस्पष्टमेव चत्वारो हेतुभूताः रसाः चत्वारः च कार्यभूताः रसाः निरूपिताः. शृंगारेतररसानां रसत्वानभ्युपगमोऽपि भरतमुनिना कुत्र कृतः इतितु अन्वेष्टव्यमेव भाति. किञ्च भरतमुनिना उपदिष्टाः रसाअपि नाट्यावलोकनरसिकाधिष्ठानकाः नाट्ये अभिनयायैव उपयुक्ताः नहि वस्तुतः प्रणयियुगलाधिष्ठानकाः. तथाहि **''आस्वादयन्ति भुञ्जानाः भुक्तं भुक्तविदो जनाः भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावाः ततो बुधाः आस्वादयन्ति मनसा तस्मान् नाट्यरसाः स्मृताः... नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसान् इमान् यस्मात् तस्माद् अमी भावाः विज्ञेयाः नाट्ययोक्तृभिः''** (भर.नाट्य.६।३२-३४) इति प्रतिपादयता स्पष्टीकृतं यद् नाटनप्रयोजनरहितो वास्तविको रतिभावो रसात्मको न भवति.

तस्माद् रसिकप्रेक्षकानां सामाजिकानां कृते नाटनप्रयोजनरहिता भगवतः श्रीकृष्णस्य श्रीवृषभानुजादिप्रियतमासु तासाञ्च या हि भगवति शाश्वती प्रीतिः, ते उभेअपि भरतमुनिवचनप्रामाण्यांगीकारेतु रसात्मिकेएव भवितुं नार्हतः. अतो भगवल्लीलया साकं भरतनाट्यशास्त्रानुसारिमर्यादा नैव संगच्छति. अथ ब्रह्मबोधकोपनिषदादेः प्रामाण्यानुरोधेन तयोः रतेः रसात्मकत्वे अंगीकृते भरतादिमुनेः प्रामाण्यम् अधरीकृतमेव भवेदिति विषमोपन्यासो अत्र प्रतिभाति. किञ्च **''रसात्मकः श्रुतिशिरःसिद्धः स पुरुषोत्तमः''** इति कण्ठतो अभ्युपेते श्रुतिसिद्धत्वेतु गूढभावात्मकस्य पुरुषोत्तमस्य लोकवेदातीतत्वमेव न सिध्येद्. अथ लोकवेदातीतत्वेतु गूढभावात्मकस्य तस्य पुरुषोत्तमत्वम् असिद्धं स्याद् **''यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता.१५।१८) इति उपनिषत्साररूपगीतातएव तत्सिद्धेः. तथाच रसरूपतापि यथा उपनिषत्प्रमाणावलम्बिनी तथा रसात्मिकाः लीलाः चापि निगमकल्पतरुफलरूप-श्रीभागवतप्रामाण्यावलम्बिन्यएव. तासाञ्च लीलानां श्रवण-कीर्तन-भावनैः हृदि अंकुरितायां भगवद्रतेः अनुभूतभगवद्रूपस्य लोकवेदातीततापि विचारपदवीम् नाधिरोहति. अपिच ''उत्तरो गूढभावत्वाद् भक्तैकहृदयस्थितः'' इत्येतद्विधानस्यापि **''स्वामिनीनां हि बहिःप्राकट्यमेव भगवतो अभीष्टं तदैव ईश्वरवादो अन्यदा शून्यवादः''** (सुबो.टिप्प.१०।२६।०।७) इति प्रभुचरणवचनाद् विरोधः. तथाहि स्वामिनीगूढभावरू-

(भगवत्स्नेहात्मकत्वेन भिन्नतया अनुभूयमानत्वाद् भक्तिरसोऽपि भिन्नः)

भक्तेः रसत्वं कण्ठतोऽपि उक्तं **''निगमकल्पतरोः गलितं फलं, शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतं, पिबत भागवतं रसम् आलयं, मुहुः अहो रसिकाः भुवि भावुकाः''** (भाग.पुरा.१।१।३) इत्यत्र उक्तो 'भागवतो रसो' भक्तिरसएव, **''यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे भक्तिर् उत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा''** (भाग.पुरा.१।७।७) इति भक्त्यर्थमेव भागवत-संहिता-प्रणयन-कथनात्. तत्र प्रतिपाद्यमानस्य भागवतरसस्य भक्तिरूपतायाएव

पत्वेतु भगवता न तद्हृदयैकवर्तिना भाव्यं किन्तु बहिर्नयनगोचरतयैव. अतो भावात्मकत्वे भगवतो भावुकभावानुरोधिता ध्रुवा तस्यां च सत्यां न भावुकहृदयैकस्थायिता इति उभयतःपाशः. अपिच जन्मप्रकरणसुबोधिनीटिप्पण्योः **''तं प्रसिद्धं लोकवेदयोः... अद्भुतम् इति अलौकिकमेव अद्भुतं भवति नतु लोकवेदसिद्धम्. इदं हि प्रमेयबलम्—अन्यथा प्राकृतसम्बन्धे ब्रह्मत्वानुपपत्तिः... यद्यपि वेदे सिद्धं तथापि यादृग् रूपं प्रकटम् अधुना तत् तथैव''** (सुबो.टिप्प.१०।१।९) इति वचनालोचनेतु लोकवेदप्रसिद्ध-लोकवेदातीतौ इति पुरुषोत्तमद्वैविध्यं नैव सिध्यति. तथापि महानुभावानां श्रीमद्हरिरायचरणानां एवं प्रतिपादने को भावः इति कथन्नु मादृशेन वराकेन ज्ञातुं शक्यते! सर्वथातु भक्तेः हि रसत्वे भगवान् भक्तिरसो भूत्वा भक्तहृदयाधिष्ठितो भवति. यस्मिन् भक्तिभावे शृंगाराद्याः समस्ताः भावाः सञ्चारितया आस्वादयितुं शक्यन्तएव न तत्र विप्रतिपत्तिसम्भवनापि. तद् इदं **''सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः''** (चतुश्लो.१) इति श्रीमदाचार्यचरणैः प्रतिपादितम्.

इदम् अत्र अवधेयं : पूर्वपक्षिणा हि यैः हेतुभिः स्नेहस्य ज्ञानादिषु अन्तर्भावः आपादितः तन्निराकरणे जाते सति इदानीं सर्वसन्देहवारकेन श्रीभागवतवचनेनापि भक्तेः रसत्वं साधयितुम् उपक्रमन्ते **भक्तेः रसत्वं...** इत्यादिना. मध्येतु **''पिबत भागवतं रसम्'' इत्यत्र उक्तो 'भागवतो रसो' भक्तिरसएव** इत्येवं तत्स्वरूपं च प्रतिपाद्य तत्र पुनः हेतुमपि निदर्शयन्तः आहुः **भक्त्यर्थमेव भागवतसंहिता-प्रणयनकथनात् तत्र प्रतिपाद्यमानस्य भक्तिरूपतायाएव सिद्धेः...**

सिद्धेः इति. अतएव शृंगाराद् भिन्नतया अनुभूयतएव रसिकैः.

भिन्नतया अनुभूयतएव रसिकैः इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन. तद् एतत् श्रीमदाचार्यचरणानामपि अतीव अभिप्रेतमेव —

> **''अत्रापि योगजधर्मेण व्यासः त्रयम् अनुभूतवान् : पुरुषो, मायया बन्धो, मोचनं भक्तिहेतुकम्... सुदृढः सर्वतोऽधिकस्नेहस्तु आत्मत्वेन ज्ञाते भवति, माहात्म्यज्ञानन्तु सृष्ट्यादिभिः. तत्र द्वयं साधयितुम् एषा भागवतसंहिता... शुकमुखं प्राप्य अमृतं मोक्षमपि शिथिलं करोतीति भक्तिरसो अमृतद्रवः, तेन संयुतम्. अनेन अन्यरसादपि अधिको रसः उक्तः... अत्र आनन्दस्य हरेः लीला शास्त्रार्थः. भक्तिजनिका हि संहिता. सृष्ट्यादीनां लीलात्वे ज्ञाते भक्तिः भवति न कार्यत्वे. कौतुकाधिष्ठितेन अनायासेन क्रियमाणं कर्म लीला. तदाहि महत्त्वं निर्दुष्टत्वं च भवति''.**
>
> (सुबो.१।१।१-४).

*ननु समग्रस्य श्रीभागवतशास्त्रस्य अर्थो भक्तिरसो भवतु, दशमस्यतु विशेषेण तद्हृदयरूपतया तत्र प्रधानीभूतः स्कन्धार्थः कुतो न शृंगारात्मिका रतिः. तत्प्रतिपादिते हि शृंगारमूर्तौ भगवति प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका शुद्धा निरुपाधिका शृंगारात्मिका रतिरपि ''**ताः मन्मनस्काः मत्प्राणाः मदर्थे त्यक्तदेहिकाः**'' (भाग.पुरा.१०।४३।४) इति स्तुवता भगवतैव तथा खलु बोधिता. अतो निरोधरूपा सा इति अंगीकारे न कापि बाधा?* इति चेद् अत्र एवम् अवधेयम् :

यदिहि प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विका भगवति शृंगारासक्तिः निरोधलीलात्वेन दशमार्थतया अभ्युपेयते चेत् तदा भगवतो व्रजाद् अन्यत्र द्वारकां प्रति गत्वा तत्रैव अवस्थानं नोपपद्येत. तथाहि ''**यूनोः एकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं, पुनः अलभ्ये, विमनायते यदा एकः तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः**'' (साहि.दर्प.३।२०९) इति रसशास्त्रोक्तमर्यादया शृंगारकरुणविप्रलम्भयोः प्रभेदांगीकारात् सुबोधिन्यां च ''**तथा तासामपि प्राप्तिसम्भावनारहिते मयि सति**'', ''**अतिकष्टेन-**

प्राणान् धारयन्ति बह्व्यो मृताइति 'प्रायः'ग्रहणम्'', ''नहि उत्तमपदार्थः स्वोपभोग्यः अधमैः सह भोगम् अर्हति. अतो अस्मात् संघाताद् आदौ निवृत्ताः भवत पश्चात् मदुपभोगं कुरुत इति तात्पर्यम्'' (सुबो.१०।४३।५-६, ४४।३२) इति श्रीमदाचार्यचरणकृतव्याख्यानेऽपि शृंगाररतेः कारुण्यपर्यवसानद्योतनेन अशाश्वतानुभूतेः च परमफलत्वासम्भवादपि न जातु दशमस्कन्धे वर्ण्यमानायाः निरोधलीलायाः प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकभगवच्छृंगारासक्तिजनकता अंगीकर्तुं शक्या.

ननु फलसाधकत्वाद् भक्तिमार्गे विप्रयोगएव पुरुषार्थः. सच विप्रयोगो द्विविधो : धर्मात्मको धर्म्यात्मकः च, आनन्दस्य श्रुतौ उभयरूपत्वेन निरूपणात् तद्रूपस्य रसस्यापि द्वैविध्यमिति. 'विप्रयोगा'ख्यः स्वरूपात्मको रसः स्वामिनीभ्यएव दत्तइति नन्दादिषु धर्मरूपतद्दानम्. अतः तदर्थं पूर्वरूपेण आगमनम् आवश्यकमेव. अन्यथा तेन अन्यथाभावएव स्याद्, वह्नितापेन वह्निभिन्नस्य दाहवत्. वह्न्यात्मकत्वेतु न दाहो वह्नेरिव. अतएव स्वामिनीनाम् अर्थे नागमनं तद्देहादीनां तद्रसात्मकत्वात् इति चेत् न, एतस्याः विप्रयोगावस्थायाः परमफलत्वं श्रीमदाचार्यप्रभुचरणोक्तिविरुद्धमेव प्रतिभातीति. तथाहि एतदवस्थाविषयकभगवद्भावाशयव्याख्याने—

> **''अहं कृत्स्नः प्रसादेन प्राप्तः कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्यः. साच (साधन)कृत्स्नता अस्यामेव अवस्थायां भवति नान्यथा... मनोद्वारा स्वयं भगवति प्रविष्टाः स्मरणद्वारा च भगवान् तासु प्रविष्टइति... मनोविलये चित्तस्यापि विलयाद् अचिरादेव प्राप्तिः, आत्मगाम्येव(?मिनैव!) कामेन फलरूपो अहं मुख्यः इति तात्पर्यम्''.**
>
> (सुबो.१०।४४।३७).
>
> **''ननु 'अचिराद् माम् अवाप्स्यथ' इत्यनेन पूर्ववद् मिलनलक्षणा प्राप्तिः उच्यते उत अन्तर्गतगोपभार्याणामिव सा उच्यते? आद्या चेद् 'ओम्' इति ब्रूमः. अन्त्या चेद् अनिष्टत्वाद् नेदं समाधानम्... तद्वद् यथापूर्वमेव मिलनं भविष्यति''.**
>
> (टिप्प.१०।४४।३८).

(संयोगवियोगौ स्नेहस्यैव अवस्थाभेदौ इति भक्तेरपि सांगत्वम्)

[५]यत्तु ''शृंगारस्यैव द्वावपि अवस्थाभेदौ संयोगो विप्रलम्भः च'' इति सर्वैः उच्यते तत्तु अविचारितरमणीयं, मात्रादिष्वपि अनिषिद्धसंयोगसुख-विप्रलम्भयोः उपलब्धेः. अतः स्नेहस्यैव तौ भेदौ. वस्तुतस्तु रतिरपि स्नेहविशेषएव. एवं सति शृंगारस्यैव रसत्वं न केवलं स्नेहस्य इत्यत्र विनिगमकाभावात् तदुभयोः पार्थक्येन रसत्वम् स्वीकार्यम्. तथाच नायिकायां नायकस्य तस्मिन् तस्याः च या रतिः सा शृंगारः. मात्रादीनां पुत्रादौ तेषां च तेषु या रतिः स केवलस्नेह(?वात्सल्य!)रसः इति सिद्धम्.

एतेन व्रजएव देहान्तरप्रदानेन अथवा देहान्तरे वा व्रजलीलाप्राकट्येन व्रजगोपिकानामपि पुनः आलम्बनविभावरूपेणापि भगवत्प्राप्तिः निःशंका. विप्रयुक्तानां स्वामिनीनामपि धर्मिस्वरूपात्मकदेहादिनिवृत्तिलीला भक्तिरसेन अविरुद्धापि शृंगाररसेतु रसाभासरूपैव. तेन एतस्याः अवस्थायाः न फलरूपता प्रत्युत फलानुभवोत्तरजातसाधना-नुभूतिरूपतैव सिध्यति. तदेतत् सर्वं गोपिकानां हि निरुपधिशृंगारतेः, सोपधिशृंगारतेः वा, परमफलरूपस्थायिभावत्वे बाधकमपि आत्मरतिधर्मभूतायाः भक्तेः सञ्चारितया अंगीक्रियमाणे न किमपि बाधकायते. भगवतोऽपि शांर्गारिकालम्बनविभाव-स्थायिभावरूपत्वे बाधकं सदपि आत्मरतिधर्मरूपभक्तेः आलम्बनविभावस्थायिभावत्वे नेषदपि बाधकम्.

सिद्धं तदेतेन ''*लीलां कुर्वन् शास्त्रार्थं च स्थापयति*'' इति न्यायेन भगवानेव आत्मरमणविस्ताराय निजानन्दधर्मभूतायाः आत्मरत्यंशरूपस्य भक्तिरसस्य सञ्चारिभावतयैव व्रजगोपिकासु शृंगारभावोद्बोधनं चकार. तद् यथा प्रोढासु ''**तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्**'' इति कारिकायाः सुबोधिन्यां : ''**शृंगा-रार्थमेव कूजनं कृतवान्. एवम् उद्बोधनम् उक्त्वा ताभिः सह रमणे कामिनीकामोद्बोधकत्वात् कूजितस्य व्रजस्त्रियोऽपि उद्बुद्धकामाः जाताः**'' (भाग.सुबो.१०।१८।४) इत्यत्र आत्मारामस्य भगवतो लीलयैव तासु कामभावः तेनच आलम्बनविभावस्य शृंगारमूर्तिता नान्यथा. श्रीनन्दगृहे दासीरूपासु कुमारिकास्वपि ''**अत्र आगत्य अबलाः कामं स्वं-स्वं वासः प्रगृह्यताम्**'' इत्यत्र

सुबोधिन्याम् : ''अस्मदीयः कामः तत्र न गच्छति अतो अत्रैव आगत्य कामं वासः आच्छादकं वस्त्ररूपं काममयत्वाद्... सर्वस्यैव कामस्य आधिदैविकम् अत्र तिष्ठति इत्यतो वस्त्रसम्बन्धात् पूर्वं निष्कामाएव ताः'' (भाग.सुबो.१०।१९।१०) इत्येतेन भगवल्लीलयैव ताभ्यः कामदानं तत्कामभावानुरोधेन च तद्भावालम्बनविभावतया भगवता शृंगारमूर्तिता प्रकटिता. सैषा निरोधप्रकरणानुरुद्धत्वेन गोपिकानां प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं स्वस्मिन् आसक्तिसम्पादनरूपा लीला इति रहस्यम्. निरोधलीला हि सर्वरसरूपधारिणा भगवता कृतेति विविधरसालम्बनविभावतया भगवान् आत्मानं भावयन् शृंगारात्मकोऽपि जातः. अतएव प्रभुचरणानां ''अयञ्च रसः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्यः... तत्र ईश्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति 'सर्वरसः' इति श्रुतेः. कामरसो हि तादृशभाववतीषु विशिष्टो अनुभूतो भवति... ननु कामोपाधिस्नेहवत्त्वेन तथा उच्यते इति चेत् न, तथा स्नेहे भगवतोऽपि विषयान्तरतुल्यत्वेन 'सन्त्यज्य सर्वविषयान्' इति कथनानुपपत्तेः, विषयार्थमेव आगमनात्... नहि कामिन्यः एवं वदन्ति किन्तु भक्ताएव... तदनन्तरन्तु यद् रमणं तत्तु 'रसो वै सः' इति श्रुतेः स्वरूपस्य रसात्मकत्वाद् रसरीत्या स्वरूपानन्ददानमेव'' (टिप्प.पू.१०।२६।१६) इति प्रक्रियानिरुक्तिः. अन्यथा निरोधलक्षणे ''यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले गोपिकानां च यद् दुःखं... गोकुले गोपिकानां च सर्वेषा व्रजवासिनां यत् सुखं समभूद्'' (नि.ल.१-२) इत्येवं वात्सल्यसख्यमार्धुयदास्यरूपाणाम् अनेकविधभावानां भावनायाः उपदेशो असंगतएव भवेत्. अतो भगवतो लोकभावानुसारिस्वरूपाविष्करणप्रक्रियां प्रदर्शयद्भिः आचार्यचरणैः —

''प्रमेयेण निरोधो अत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम्।
लोकाः च दशधा भिन्नाः ततो दशविधो अभवत्॥
यस्य भावो यथा लोके तस्य अनुसरणे कृते।
निरोधो जायते सम्यग् अन्यथा बन्धनं भवेत्॥
गुणाः नवविधाः प्रोक्ताः तदभावः तथा परः।
शृंगारादिरसाः चैव तेषामेव निरूपकाः॥
रौद्रो अद्भुतः च शृंगारो हासो वीरो दया तथा।

भयानकोऽपि वीभत्सः शान्तो भक्तिरसः तथा ॥
एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेव तथा बभौ ।
अतः तस्मिन् गुणाएव सर्वे भावा नच अन्यथा ॥''

(सुबो. १०।४०।१७).

इत्येतेषु श्लोकेषु सर्वेषामपि रसभावानाम् अनुकरणे लोकानुसारिता निर्दिष्टा. नच *एवं सति भक्तिभावानुसरणेऽपि लोकानुसरणमेव आयातमिति भगवतो भजनीयत्वमपि स्वाभाविकं मा भूत् तथाच भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः !* इति प्रत्यवस्थातव्यं, यतो अंशतः तदपि इष्टमेवेति. अतएव श्रीमदाचार्यचरणाः निरूपयन्ति **''यदा भगवतः 'ईशोऽहम्' इति इच्छा तदा ईशितव्यापेक्षणात् जननम्''**, **''आविर्भावः स्वेच्छया भक्त्या ज्ञानेन वा. भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः. अवतारदशायान्तु न तयोः प्रयोजकत्वम्. वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनाम् अनुपयोगः शंकनीयः''** (सुबो. ३।९।९, १०।२६।१३) इति. इह 'भगवद्'-'ईश'पदे भगवत्त्वज्ञापकैश्वर्यादिषड्विधगुणोपलक्षके. तद् उक्तं **''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ज्ञानवैराग्ययोः चैव षण्णां 'भग' इति ईरिणा''** (विष्णुपु. ६।५।७४) इति. तस्माद् ब्रह्मणः उपद्रष्टृनुमन्तृभर्तृभोक्तृमहेश्वर-परमात्मरूपधारणेच्छायां यथा जीवात्मसृष्टिः तथा भगवद्रूपधारणेच्छायां भक्तसृष्टिः. तथापि स्वतो अप्राकट्यकाले निर्गुणा भक्तिरेव भगवत्प्राकट्ये प्रमुखो हेतुः, यथाच उच्यते **''सर्वेषामपि भूतानां हरिः आत्मा ईश्वरः प्रियः... देवो असुरो मनुष्यो यक्षो गन्धर्वएव वा भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयं, नालं द्विजत्वं देवत्वं ऋषित्वं वा... प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता न दानं न तपो न इज्या न शोचं न व्रतानि च प्रीयते अमलया भक्त्या हरिः अन्यद् विडम्बनम्''** (भाग.पुरा. ७।७।४९-५२) इति. तस्माद् भक्तिरेव भागवतस्य मुख्यः प्रतिपाद्यो विषयो, भगवतः स्वतःप्राकट्यकालेऽपि तस्मिन् जीवानां निरोधो भक्त्यात्मकएव चेत् स भगवल्लीलायां भृशम् अनुगुणो भवति. अन्यथा शृंगाररसानुगुणेन स्वरूपेण सैरन्ध्र्या साकं रमणेऽपि न तस्याः भगवति निरोधः समजनीति श्रीशुकोऽपि **''सा एवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापम् ईश्वरं... दुर्भगा इदम्**

भगवद्विषयिकायाः निरुपाधिकायाः द्विविधायाअपि रतेः अलौकिकत्वेन मुख्यरसरूपत्वं, "**रसो वै सः**" (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः भगवतो रसरूपत्वात्. लौकिकस्यतु उपाधिजन्यत्वात् तदाभासत्वम् इति ज्ञेयम्.

अयाचत... तस्यै कामवरं दत्त्वा मानयित्वा च मानदः... दुराराध्यं समाराध्य... यो वृणीते मनोग्राह्यम् असत्त्वात् कुमनीषी असौ" (भाग.पुरा.१०।४५।८-११) इति भगवतः केवलशृंगाररसात्मकत्वे सैरन्ध्र्याः तादृक्स्वरूपानुरूपभगवत्कामवत्त्वेच कथंकारं किमपि निन्द्यमिव याचितं वा आचरितं वा कल्पयितुं शक्यं स्यात्?

यस्माद् भगवतः शृंगारात्मकत्वेतु सैरन्ध्र्याः तद्विषयकः कामः स्वरूपकामो भवन् व्रजगोपिकाकामसदृशएव स्यात् नोपाधिकः, यस्मात् च तस्याः दुर्भगात्वेन भागवते निन्दा गोपीजनानां च "**अहो यूयं च स्म पूर्णार्थाः भवत्यो लोकपूजिताः वासुदेवे भगवति यासाम् इति अर्पितं मनः. दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिः हि साध्यते. भगवति उत्तमश्लोके भवतीभिः अनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा. दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च हित्वा वृणीत यूयं यत् 'कृष्णा'ख्यं पुरुषं परम्**" (भाग.पुरा.१०।४७।२३-२६) इति भृशं प्रशंसा च उपलभ्यते ततः उभयोः तारतम्यम् अंगीकार्यमेव. ततोहि सैरन्ध्र्याः भगवति शृंगारात्मकः कामभावएव प्रबलः आसीद्. व्रजगोपिकानान्तु व्रजराजकुमारे सर्वात्मभावएवेति न तासां हृद्गतकामोपाधिना भगवान् केवलशृंगारात्मको जातः. यतोहि भगवतैव तासां निरुपाधिको भावः भगवदनन्यकामतया शृंगारितइति महद् वैलक्षण्यम् उभयोः. तस्माद् अभिधया वृत्त्या भगवत्सृष्टतत्तन्नामरूपकर्मपराणां श्रुतीनां यथा परमतात्पर्यवृत्त्यातु "**वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः**" (भग.गीता.१५।१५) इति वाक्याद् भगवदेकपरत्वं तथा अन्यविवाहितानां गोनीजनानां अनन्यप्रमेयरूपे भगवति परमतात्पर्यम्. ततो निजलीलाविहारेच्छयैव भगवान् कान्तभावापन्नो जातः. तथैव निजसाधनैः भगवन्तं निजपतित्वेन कामयमानानां ऋषिरूपनन्दगृहीयदासीनां कुमारिकानां कृतेऽपि भगवान् स्वस्य कान्तभावापत्तये शृंगारमूर्तितां स्वकीयाम् आविश्चकार. नहि वस्तुतः तासां कामभावः आसीत् नापि मूलरूपदृष्ट्या भगवान् तासां कृते कामभावालम्बनविभावरूपो वा इति. तद् इदं निखिलं हृदि समवधार्य आहुः **भगवद्विषयिकायाः निरुपाधिकायाः**

द्विविधायाअपि रतेः इत्यारभ्य **लौकिकस्यतु उपाधिजन्यत्वात् तदाभासत्वम्** इत्याद्यन्तम्. **द्विविधायाः** इति वात्सल्यरूपायाः शृंगाररूपायाः च. तदेतत् कृष्णोपनिषदि श्रूयते —

''श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वांगसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः... भवान्तरे यूयं गोपिकाः भूत्वा माम् आलिंगथ... यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी... गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसाः तत्र वै द्रुमाः... शेषनागो भवेद् रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्, अष्टौ अष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियः तथा ऋचोपनिषदः ता वै ब्रह्मरूपाः ऋचः स्त्रियः... तस्माद् न भिन्नं नाभिन्नं नाभिः भिन्नो नवै विभुः, भूमौ उत्तारितं सर्वं वैकुण्ठम्... ''.

(कृष्णोप.१-२५) इति.

तस्माद् लीलावेशात् क्वचित्-क्वचिद् अन्यथावाक्यानि एतेषां श्रूयमाणान्यपि वस्तुतो लोकोत्तराण्येवेति येषां हृदि भागवती भक्तिः विलसति तैरेव अवगन्तुं शक्यानि. ततएव भक्तिजनिकायां श्रीमद्भागवतसंहितायां —

''यद् मर्त्यलीलोपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतं विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणांगं... यस्य अनुरागप्लुतहासरासलीलावलोकप्रतिलब्धमानाः व्रजस्त्रियो दृग्भिः अनुप्रवृत्तधियो अवतस्थुः किल कृत्यशेषाः... दृष्टा भवद्भिः ननु राजसूये चैद्यस्य कृष्णं द्विषतोऽपि सिद्धिः, यां योगिनः संस्पृहयन्ति सम्यग् योगेन... स्वयन्तु असाम्यातिशयः त्र्यधीशः स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः... मन्ये असुरान् भागवतान् त्र्यधीशे सरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्... वसुदेवस्य देवक्यां जातो भोजेन्द्रबन्धने चिकीर्षु भगवान् अस्याः शम् अजेन अभियाचितः, ततो नन्दव्रजम् इतः पित्रा कंसाद् विबिभ्यता एकादश समाः तत्र गूढार्चिः सबलो

अवसत्. परीतो वत्सपैः वत्सान् चारयन् व्यहरद् विभुः यमुनोपवने कूजद् द्विजसंकुलितांघ्रिपे कौमारीं दर्शयन् चेष्टां प्रेक्षणीयां व्रजोकसां रुदन्निव हसन् मुग्धबालसिंहावलोकनः''.

(भाग.पुरा.३।२।१२-२८) इति.

* ननु ''**ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मा ईश्वरः** पुमान् **दृश्यादिभिः पृथग्भावैः भगवान् एकः ईयते...ज्ञानम् एकं पराचीनैः इन्द्रियैः ब्रह्म निर्गुणं अवभाति अर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा... ज्ञानयोगः च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणो द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः**'' (भाग.पुरा.३।३२।२६-३२) इति वचने 'ब्रह्म'इति देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितस्य, 'परमात्मा' इति सर्वात्मान्तर्यामिणः, 'ईश्वरः' इति सर्वनियामकस्य, 'पुरुषः' इति क्षराक्षरातीतस्य तत्त्वस्य ज्ञानमात्रत्वोक्त्या प्रत्यक्षप्रमाणकरणै ज्ञानेन्द्रियैः दृश्यादिप्रमेयतया परोक्षप्रमाणकरणैः च शब्दादिभिः वाच्याद्यर्थतया च प्रतीतेः भ्रान्तिरूपतोपदेशात् कुतो विभावानुभावसञ्चारिभावादिगोचरता? तदभावे च रसरूपतापि कथम्? नच *एवम्भूतोऽपि भगवान् भक्तेषु अनुग्रहात् भक्त्यनुकूलं स्वरूपं प्रकटयति* इति वाच्यं, निर्गुणभक्तिज्ञानयोगयोः भेदानंगीकारात् शान्तरसात्मकएव भगवान् अंगीकार्यो न पुनः भक्तिरसात्मकः * इति चेत् न, एवम् उपदेशकस्य सगुणसाकारस्य भगवतो इन्द्रियादिजन्यप्रत्यक्षाविषयत्वे शब्दादिकरणकपरोक्षज्ञानागोचरत्वे हि 'मन्निष्ठः' इति उपदेशकर्त्रा भगवता तच्छ्रवणकर्त्र्याः मातुः स्वाभिमुखीकरणेन स्वस्य परत्वबोधनं विसंगतमेव स्यात्. तस्माद् भगवन्निष्ठज्ञानयोग-निर्गुणभक्तियोगयोः सत्यपि ऐक्ये का वा विनिगमना यद् ज्ञानस्य भक्तिरूपता नांगीक्रियते अथ भक्तेरेव ज्ञानरूपता अंगीक्रियते? तस्माद् 'ज्ञानमात्रम्' इत्यत्र 'मात्र'पदेन यथा सत्ताचैतन्यानन्दानां वा परब्रह्मत्वपरमात्मत्वपरमेश्वरत्वपुरुषविधत्वानां वा न निषेधः तथा अन्येषामपि धर्माणाम्. तथाहि ''**मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद्**'' (भाग.पुरा.११।१३।२४) इति वाक्यात् स्वस्यैव सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वं नतु स्वतो अतिरिक्तस्य कस्यचन; तथैव ''**मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते हि अहम्, एतावान् सर्ववेदार्थः शब्दे आस्थाय मां भिदाम्**''

(निष्कर्षः)

तेन भक्तिरसस्य तेभ्यो अतिरिक्तत्वं निष्प्रत्यूहम्. श्रवणादिनवकेतु तज्जनकत्वात् तत्प्रयोगो भाक्तः. अतो न शंकालेशः इति दिक्.

इति श्रीमल्लीलार्णव-चरण-काश्मीरज-रजोऽ-
नुरागारक्त-श्रीव्रजपति-रति-प्राप्त-निखिलः ।।
पयोदः-श्रीहारि-द्युति-हरि-तडित्-तुल्य-वसना-
भिधावान् स्नेहस्य स्वभजनरसत्वं व्यरचयत् ।।४।।

इति श्रीमद्-यदुपति-तनय-श्रीपीताम्बर-विरचितो
भक्तिरसत्ववादः सम्पूर्णः

(भाग.पुरा.११।२१।४२) इति वाक्यान्तरेण च भगवानेव सर्वशब्दार्थभूतो नतु भगवदतिरिक्तं किमपि. अतः किमपि ततो व्यतिरिक्तं प्रतीयते तस्य भ्रान्तिकल्पितत्वम् इति आशयः. तदेतद् उपोद्बलितं 'भगवच्'छब्दलक्षणत्वप्रतिपादनेन, ऐश्वर्यादिषण्णां 'भग'पदवाच्यतया तेषाञ्च ईशितव्यादिषण्णाम् अभावे निर्विषयत्वापत्त्या स्वरूपनिर्वाहाशक्यत्वेन स्वस्यैव ईश्वरेशितव्याद्यात्मना द्वेधापातनस्य श्रौताभिप्रायगोचरत्वेन भक्तिरसेऽपि विभावादीनां निखिलानां भगवदुपादानकत्वेन भगवद्रूपतयैव न बाधसम्भावनालेशोऽपि.

तस्माद् भगवतः सर्वाअपि लीलाः विविधरसभावोपेताः श्रीमद्भागवते उत्कूजिताः याभिः श्रुताभिः भगवत्पराणां हृदये भक्तिरसात्मकवसन्तर्तुः विलसत्येवेत्यतो ग्रन्थम् उपसहरन्तः आहुः **तेन भक्तिरसस्य तेभ्यो अतिरिक्तत्वं निष्प्रत्यूहम्** इति. भगवल्लीलाः हि भक्तौ रसत्वाधायिकाः भक्तिरेव भगवल्लीलासु रसत्वानुभाविकाः इति निर्गलितो वादाभिप्रायः !

अयं वादो ग्रन्थकृद्भिः स्वपितृनाम्ना विरचितइति हेतोः इतरवादतो अस्मिन् अन्तिमकारिकायां पुष्पिकायां च भिन्नता उपलभ्यते.

वृथैव जीवनं लोके भक्तिज्ञानोत्सवैः विना।

कृष्णैकतानचित्तत्वं मुक्तेरप्यधिकं मतम्॥

निधाय तुलसीदलं करयुगे गृहीतं व्रतं
भवेयमिह भूतले तव गृहीयदासस्त्वहम्।
त्वमप्यनुवृतो मया किमु न नाथ! केयं कथा!
रतिर्मयि हि चञ्चला पलितकेशभावे कुतः?॥

विभावाः मद्गेहे गुरुजनकृपातो विलसिताः
तथायान्तो भावाः कति-कति चरन्तो बहुविधाः।
भवेत् कच्चित् स्थायी भजनरतिभावस्तु हृदये
अथो नाथाभीष्टं मयि यदुचितं तद्धि रुचिरम्॥

भक्तिप्राप्यो हि भगवान् तत्प्राप्यासौ पुनर्मता।
उभयोः प्रापकः तस्माद् वल्लभो जयतात् सदा॥

लक्ष्म्योर्द्वयोर्निवासो मद्गेहे भजनसिद्धये।
आलम्बनविभावार्धा परान्या सहकारिणी॥

भजने यत्कृपातस्तान् तातपादान् नमाम्यहम्।
रसप्रकाशिकापूर्तिः भूयाद् भक्त्यै मम प्रभौ॥

इति श्रीगोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन
श्याममनोहरेण विरचिता रसप्रकाशिका
सम्पूर्णा

पाठभेदतालिका

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

विंशतितमो

।। भक्त्युत्कर्षवादः ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

[क]मुक्तैरप्यभिलषिताम् [ख]अतिशयितानुग्रहात् प्राप्याम् ।।
[ग]आनन्दधर्मभूतां [घ]रसरूपां नौमि [ङ]हरिभक्तिम् ।।१।।

(पूर्वपक्षः)

* ननु सर्वम् इदम् असंगतमिव प्रतीमः. तथाहि —

(मुक्तौ कामक्षयादत्रानुग्रहस्यानिरुक्तितः ।।
भक्तिर्मनोधर्मरूपा, ब्रह्मणो नो रसो नवा ।।२।।)

।। भक्त्युत्कर्षप्रकाशिका ।।

न करोति ह्यसत् किञ्चित् कर्तुं शक्यमसत् न वा ।।
न जानाति ह्यचित् किञ्चिज्ज्ञाता तस्माच्चिदेव हि ।।१।।
भजनीयो निरानन्दो न कस्यापि भवेत् क्वचित् ।।
आत्मनातो जगत् सृष्ट्वा ब्रह्म तत्राविशत् स्वयम् ।।२।।
सदंशशक्तिः खलु कर्मरूपा चिदंशशक्तिस्त्विह बोधरूपा ।।
भक्तिर्यदानन्दमयी हि शक्तिस्तं सच्चिदानन्दमहं वृणोमि ।।३।।
कृत्वा चेतो मदीयं द्रुतमपि सततं दोलितं तत्र बाह्ये
गन्धस्पर्शादिभोगे पुनरिह भजनेऽभ्यन्तरात्मात्मनस्ते ।।
एवं दोलारतिं स्वां प्रकटयसि तदा याचितं मे शृणु त्वम्
एह्यारूढश्च भूयाः मम मनसि सदान्दोलनान्दोलिते हि ।।४।।

अथ श्रीमत्पुरुषोत्तमाः पुष्टिभक्तेः अनितरसाधारणोत्कर्षं प्रतिपादयितुं मंगलाचरणे तां पञ्चधा स्तुवन्ति **मुक्तैरपि** इत्यादिना. इह स्तुतायाः भक्तेः पञ्चापि गुणाः न सम्भवन्ति इति पूर्वपक्षम् आरचयन्ति **ननु** इत्यादिना. पूर्वपक्षकारिका मद्योजिता.

[क] **"यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामाः ये अस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्यो अमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते"** (कठोप.६।१४) इति यावत्कामप्रलये अमृतत्वश्रावणेन मुक्तात्मनां तदभावबोधनात्, भक्त्यभिलाषाभावबोधनात्, सति अभिलाषे मुक्तत्वस्यैव असम्भवात्.

[क]तत्र तावत् सच्चिदानन्दरूपब्रह्मणि निजात्मरतिविस्ताररूपलीलार्थमेव स्वप्रादुर्भावितानां निखिलविविधनामरूपकर्मणां स्वोपादानकत्वेन सच्चिदानन्दांशात्मकानां जडजीवेश्वररूपाणां परब्रह्मणा तेन तादात्म्यं हि **"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् त्वम् असि"** (छान्दो.उप.६।८।७) इत्येवमादिश्रुतिवचनसिद्धम्. तस्माद् बद्धमुक्तौ जीवौ, तयोः बन्धमोक्षौ, तदवस्थापादिके शक्ती, ताभ्याञ्च जातौ शोकमोह-तदभावौ इति सर्वं खलु इदं ब्रह्मैव स्वलीलया तथा-तथा विलसति इति सिद्धान्तः. तद् उक्तं भगवतैव **"'बद्धो-मुक्तः' इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतो, गुणस्य मायामूलत्वाद्, न मे मोक्षो न बन्धनम्. शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिः च मायया, स्वप्नो यथा आत्मनः ख्यातिः संसृतिः नतु वास्तवी. विद्याविद्ये मम तनू विद्धि... शरीरिणां मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते. एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव... बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः"** (भाग.पुरा.११।११।१-४) इत्यत्र. इह आनन्दांशतिरोधानप्रयुक्तेन विद्याशक्त्यसम्बन्धेन अंशिस्थितायाः अनाद्यविद्याशक्तेः अंशेषु अनुगमेन च स्वलीलया प्रादुर्भावितेषु चिदंशरूपजीवेष्वेव बन्धइति बद्धमुक्तावस्थे नांशिनि, तद्धेतुरूपे च विद्याविद्ये अंशिनः तनुरूपे शक्ती तत्प्रकाशावरणरूपे, ताभ्यां शक्तिभ्यां हि सच्चिदानन्दरूपनिजांशिनो हि सकाशाद् अंशानाम् अभेदभेदान्यतरबुद्धी, ताभ्यां जीवे अंशिना सह स्वतादात्म्यस्य भगवत्क्रीडैकप्रयुक्तस्वाविर्भावस्य ध्रुवस्मृतिविस्मृत्यन्यतरे, तयोः विस्मृत्या अन्तःकरणप्राणेन्द्रियदेहाध्यासाः, तज्जन्या सुखदुःखशोकमोहात्मिका स्वप्नोपमा संसृतिरपि चिदंशजीवस्यैव इत्येतत् सर्वं स्फुटमेव. तदेतद् निबन्धेऽपि **"तदिच्छामात्रतः तस्माद् ब्रह्मभूतांशचेतनाः... सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे... विस्फुलिंगाइव अग्नेस्तु, सदंशेन जडाअपि, आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः. सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोः अन्यलीनता... विद्याविद्ये हरेः शक्ती... ते जीवस्यैव न अन्यस्य... स्वरूपाज्ञानम् एकं हि पर्वं, देहेन्द्रियासवोऽन्तःकरणम् एषां हि चतुर्धा अध्यासः उच्यते. पञ्चपर्वातु**

[ख] किञ्च अनुग्रहो नाम [१] प्रसादो वा [२] दया वा? तत्र [१] आद्ये **"तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादाद् महीमानम् ईशम्"** (श्वेता.उप.३।२०) इति, **"मोक्षम् इच्छेद् जनार्दनाद्"** (. ।) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां दर्शनमुक्त्योरेव प्रसादलभ्यत्वकथनेन प्रसादातिशयस्य तत्रैव पर्यवसानात्. [२] दयापक्षेऽपि तस्याः निरुपधिदुःखप्रहाणेच्छारूपत्वाद् यावद्दुःखनिवृत्तेः तत्रैव सम्भवेन तत्र पर्यवसानौचित्यात् च.

अविद्या इयं यद्बद्धो याति संसृतिम्. विद्यया अविद्यानाशेतु जीवो मुक्तो भविष्यति" (त.दी.नि.१।२७-३३) इति प्रतिपाद्य चिदंशानाम् अविद्यासम्बन्धनिवर्तिकायाः विद्यायाः स्वरूपं **"वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिः च केशवे पञ्चपर्वा इति विद्या इयम्"** (त.दी.नि.१।४५-४६) इत्येतेन आचार्यचरणैः प्रतिपादितम्. अत्र सांख्येन देहाध्यासो, वैराग्येन इन्द्रियाध्यासो, तपसा प्राणाध्यासो, योगेन अन्तःकरणाध्यासो, भक्त्या च स्वात्माज्ञान-स्वेष्टतमपरमात्मास्नेहौ इत्येवं सर्वेऽपि अध्यासाः तदानुषंगिकदोषाः च विद्यासंयोगानुकूलानुग्रहेण निवर्त्यन्ते; तदा संसृतिनिवृत्तिरपीति किन्तु अवशिष्टं मुक्तात्मनां कृते यत् पुनः तेषु भक्त्यभिलाषा सम्भवेत्! किञ्च **"सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम्"**—**"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते. तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमो नाशयामि आत्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता"** (भग.गीता.१५।१५—१०।१०-११) इति वदता स्वानुकम्पया अज्ञाननिवर्तनपूर्वक-ज्ञानसम्पादनोत्तरं देव्यां सम्पदि विमोक्षाय जातानां प्रीत्या स्वं भजतां जीवानां स्वप्रापकबुद्धियोगप्रदानोक्त्या च मुक्तये भगवत्समीपगमनौपयिकस्य बुद्धियोगस्यैव अभिलाषार्हता भगवतापि द्योतिता, नतु भक्तेरिति विसंगतमिव भाति [क] **मुक्तैरपि अभिलषिता** भक्तिः इति. तद् उपपादयन्ति **यदा** इत्यादिना. सर्वकामक्षये मोक्षः सत्यान्तु कामनायां न मोक्षः इति काठकश्रुतेः अभिप्रायनिरूपणेन.

मंगलाचरणोक्तं भक्तेः द्वितीयम् [ख] **अतिशयितानुग्रहात् प्राप्याम्** इति गुणमपि पूर्वपक्षी आक्षिपति **किञ्च अनुग्रहः** इत्यारभ्य **तत्र पर्यवसानौचित्यात् च** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन. अयम् आशयः : स्वांशिसाक्षात्कारसाधनानि अनुतिष्ठत्सु दैवजीवेषु तावद् भगवदनुग्रहो भगवत्प्रसादरूपो भवति. तदनुष्ठानासमर्थेषु तु स्वांशेषु

[ग] किञ्च भक्तिर्हि स्नेहरूपत्वेन भवताम् अभिमता, तस्यच मनोधर्मत्वमेव भावरूपत्वात् सिद्धमिति दूरनिरस्तम् आनन्दधर्मत्वम्.

दयारूपो अनुग्रहो वाच्यो, दयायाः परदुःखप्रहाणेच्छारूपत्वात्. उभावपि एतौ सर्वनामरूपकर्मोपादानस्य अविप्लुतावबोधात्मनो भगवतो न सम्भवतः. तद् उक्तं **''स वै... अशेषविशेषमायानिषेधनिर्वाणसुखानुभूतिः स सर्वनामा सच विश्वरूपो''**—**''देशतः कालतो यो असौ अवस्थातो स्वतो अन्यतो अविप्लुतावबोधात्मा स युज्येत अजया कथम्?''** (भाग.पुरा.६।४।२८—३।७।५) इति. [*] ननु तत्रैव अंशांशितातादात्म्यम् अवलम्ब्य समाधानमपि **''सेयं भगवतो माया यद् नयेन विरुध्यते. ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यम् उत बन्धनं यद् अर्थेन विना अमुष्य पुंसः आत्मविपर्ययः''** (भाग.पुरा.३।७।९-१०) इति भागवते उपलभ्यतएव इति चेत् न, एवं सति बन्धनस्य असत्यत्वापत्त्या ब्रह्मवादे अपसिद्धान्तापत्तेः. तस्माद् ब्रह्मणो दयाप्रसादौ स्वांशेषु वक्तुं न युक्तौ. [*] ननु ब्रह्मस्वरूपविचारेण असम्भवमपि अचिन्त्यानन्तशक्तेः तस्य भगवतो लीलायाम् ऐच्छिकभेदाविर्भाववशाद् यदि दयाप्रसादौ सम्भवेतां तदापि भक्त्यर्थन्तु अनुग्रहातिशयो अनावश्यकएव. अतो अविद्यादुःखनिवृत्तिपूर्वकं भगवद्दर्शनोत्तरमोक्षावाप्तयएव अनुग्रहातिशयो कल्पनीयो न पुनः भक्त्यवाप्तये, तस्याः भगवद्दर्शनप्रदानेनैव कृतकृत्यता इति आक्षिपति **दर्शनमुक्त्योरेव प्रसादलभ्यत्वकथनेन प्रसादातिशयस्य तत्रैव पर्यवसानाद्** इति.

अथ इदानीं मंगलाचरणे प्रतिपादितं भक्तेः [ग] **आनन्दधर्मत्व**रूपं तृतीयं गुणं पूर्वपक्षी निराकर्तुं चेष्टते **किञ्च** इत्यादिना **आनन्दधर्मत्वम्** इत्यन्तं यावत्. [*] ननु भगवतैव आत्मविभूतियोगे **''इन्द्रियाणां मनः च अस्मि''** (भग.गीता.१०।२२) इति उपदिशता मनसः आत्मविभूतित्वांगीकारेण ब्रह्मणि आनन्दधर्मभूतापि भक्तिः लोके मनोधर्मतयापि मनसि आविर्भवति [*] इति चेत् न, **''द्यूतं छलयताम् अस्मि''** - **''अनृतं मनसा ध्यायति''** (भग.गीता.१०।३६ - तैत्ति.ब्राह्म.१।१।४।१) इत्येताभ्यां वचनाभ्यां छलनार्थं मनसः सृष्टत्वेन मनोध्यातस्य च अनृतत्वनिश्चायनेन ब्रह्मधर्मत्वासम्भवात्. अतएव ब्रह्मणः आनन्दस्य **''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन''**

[घ]किञ्च 'आनन्द'पदेन सुखं वा विवक्षितं ब्रह्म वा? उभयथापि स्थायिभावात्मकत्वाभावाद् रसरूपत्वहानिः. किञ्च ब्रह्मधर्मत्वेन नित्यत्वम् अवश्यं वाच्यं, तदपि न युज्यते तत्कादाचित्कत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, **"पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते रतिः प्रसंगः च तदाश्रयेषु"** (भाग.पुरा.१।१९।१६) इति प्रार्थनावाक्यात् च.

[ङ]श्रुतिपुराणादिषु ब्रह्मधर्मत्वेन अनुक्तत्वात् च. अतः कारिकोक्तं सर्वमेव असंगतम्. *

(तैत्ति.उप.२।४) इति, **"यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतम्. तदेव ब्रह्म...नेदं यद् इदम् उपासते"** (केनोप.१।५) इति, **"यदा... मनसा सह बुद्धिः च न विचेष्टति तम् आहुः परमां गतिम्"** (कठोप.२।३।१०) इत्यादिवचनेषु मनसा अप्राप्यत्वश्रावणात् च.

[घ]स्याद् एतद् *नहि 'आनन्द'पदेन साक्षाद् ब्रह्म अत्र विवक्षितं किन्तु सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणो नवधा भजनेन भक्तात्मनि जायमानं यत् सुखं तदेव, तत्प्रकारविशेषो वा भक्तिः इति वा. तच्च सुखम् इतरेच्छानधीनेच्छाविषयीभूतो वा अनुकूलतया वेदनीयो वा जीवात्मगुणएव* इति, यदि भक्तेः रसरूपतापि अभिप्रेता न स्याद्. रसस्तु अनितरसाधारणः आत्मगुणः. नहि सर्वेषां सुखानां रसरूपत्वमिति. किञ्च भक्तेः रसरूपतापि न सम्भवति, रसशास्त्रे तथोपदेशानुपलम्भात्. अथ *रसशास्त्रे तथोपदेशानुपलम्भेऽपि उपनिषदि **"रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति"** (तैत्ति.उप.२।७) इति आनन्दरूपब्रह्मणो रसत्वश्रावणात् तद्धर्मतया आनन्दधर्मताम् अभिदध्महे* इति उच्यते चेत् तदपि न साधु, देश-काल-स्वरूपतो सर्वथा अवच्छेदरहितस्य ब्रह्मणो धर्मरूपत्वे हि भक्तिभावेनापि तथैव भवितव्यम्. सतु "सत्संगगुरूपदेशादितः पूर्वं भगवति भक्तिभावो नासीद्" इति, "पूर्वं भक्तिभाववत्त्वेऽपि दुःसंगात् तद्विलोपो जातः" इति, "देवदत्तस्य भक्तिभाववत्त्वेऽपि धनदत्ते तदत्यन्ताभावः" इति, "भगवद्विषयको भक्तिभावो अन्यविधो अन्यः च तस्मिन् द्वेषभावः" इति च चतुर्विधाभावप्रतियोगितया स्फुटैव अब्रह्मधर्मता भक्तिभावस्य इति आशयेन आक्षिपति **किञ्च** इत्यादिना.

[ङ]किञ्च धर्मैस्तु सर्वैः हि स्वस्वधर्मिषु वृत्तिमद्भिरेव भाव्यम्. चिदंशभूतजीवेषु

(उत्तरपक्षः)

इति प्राप्ते अभिधीयते—

निरुपाधिप्रियत्वस्य निर्णीता ब्रह्मधर्मता।।
वाक्यान्वयाधिकरणेऽन्यच्छ्रीभागवते स्थितम्।।३।।

तु आनन्दांशतिरोधानाभ्युपगमाद् आनन्दो जीवधर्मो भवितुम् नार्हति. भक्तिश्च पुनः जीवेषु भगवद्विषयिणी अभिप्रेतेति किं केन सम्बध्यते? नच *अंशांशिनोः तादात्म्यस्य अभ्युपगमाद् जीवेष्वपि ब्रह्मधर्माः कुतो न सम्भवन्ति?* इति वाच्यं, तदा ब्रह्मण्यपि जीवविषयिणी भक्तिः अंगीकर्तव्या भवेत् न्यायसामान्यात्. नच * ''...**एकमेव अद्वितीयम्. तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो.उप.६।२।३) इति श्रुत्या एकस्यैव अनेकभावापन्नतया यद्धि तदेकत्वावच्छेदकं तदवच्छिन्नाः ये धर्माः ते ब्रह्मण्येव वृत्तिमन्तो भवन्ति, तस्यैव ब्रह्मणः पुनः अनेकांशात्मना अनेकवद्भावापन्नस्य ये अनेकत्वावच्छेदकसमानाधिकरणाः अनेके धर्माः न ते अंशिनि स्वीक्रियन्तइति आनन्दस्य ब्रह्मधर्मता भक्तेः च जीवधर्मता इति उभयमपि सम्भवदुक्तिकमेव * इति वाच्यं, ''घट्टकुट्यां प्रभात''न्यायेन भक्तेः आनन्दधर्मतालोप-प्रसंगात् च. अपिच ''**तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः**'' (अथर्वसंहि.१०।२३।४।२७) ''**इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः**'' (ऋक्संहि.२।३।२२।४६) इत्येवमादिवचनेभ्यो यदि भक्तिः परब्रह्मविषयिणी तदा हरेरेव भक्तौ आग्रहो व्यर्थः. तस्माद् अनेकेषु देवेषु कस्यचिद् एकस्यैव देवस्य भक्तिः यदि अभीष्टा न तदा सा परब्रह्मविषयिणी भवेत्. इति अभिसन्धाय पूर्वपक्षी आह **श्रुति** इत्यादिना.

एवं पूर्वपक्षे प्राप्ते सिद्धान्ती प्रक्रान्तक्रमपरित्यागेन समाधत्ते. पुष्टिभक्तेः [१]मुक्तावस्थायामपि अभिलाषार्हता [२]भगवद्विशेषानुग्रहप्राप्यता [३]सच्चिदानन्दब्रह्मणः आनन्दांशधर्मता [४]रसरूपता [५]श्रीहरिविषयकता च इत्येते गुणधर्माः इह प्रतिपादिताः. तेष्वेतेषु पञ्चसु बहूनाम् उपनिषदेकगम्यतया पूर्वपक्षिणापि ''श्रुतिपुराणादिषु भक्तेः ब्रह्मधर्मत्वेन अनुक्तेः'' इति प्रत्याख्यातत्वेन श्रौतस्य अस्य विषयस्य श्रुत्यर्थमीमांसयैव निर्धारणं कर्तुं शक्यमिति तथैव उत्तरपक्षम् आरभन्ते **इति प्राप्ते अभिधीयते**

इत्यादिना **असंगतम्** इत्यन्तेन.

इदम् अत्र प्रथमतो अनुसन्धेयं यत् श्रुतिस्मृतिसूत्रसन्देहवारके श्रीभागवते प्रतिपादितम् :

> **"वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितो जनयति आशु वैराग्यं ज्ञानं यत् तद् अहेतुकं... वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यद् ज्ञानम् अद्वयं 'ब्रह्म' इति 'परमात्मा' इति 'भगवान्' इति शब्द्यते. तच्छ्रद्दधानाः मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया पश्यन्ति आत्मनि च आत्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया... भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि दृष्टएव आत्मनि ईश्वरे... सत्त्वं रजः तमः इति प्रकृतेः गुणाः तैः युक्तः परः पुरुषः एकः इह अस्य धत्ते स्थित्यादये 'हरि'-'विरञ्चि'-'हर' इति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोः नृणां स्युः... वासुदेवपराः वेदाः वासुदेवपराः मखाः वासुदेवपराः योगाः वासुदेवपराः क्रियाः वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः. सएव इदं ससर्ज अग्रे भगवान् आत्ममायया सदसद्रूपया च असौ गुणमय्या अगुणो विभुः. तया विलसितेषु एषु गुणेषु गुणवानिव अन्तःप्रविष्टः आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः".**
>
> (भाग.पुरा.१।२।५-३१)

*नन्‌ ईदृशानि वचनानि अन्यदेवप्राधान्यप्रतिपादकेषु पुराणान्तरेषु अन्येषामपि देवानां विषये उपलभ्यन्तइति नेह देवताविशेषस्य माहात्म्यप्रतिपादने भरः किमुत देवविशेषसम्बन्धि-रूप-नाम-लीलोपहितं ब्रह्मैव शाखारुन्धतीन्यायेन तात्पर्यविषयीभूतं, पुराणानां वेदार्थोपबृंहणार्थत्वात्. यथाच वाल्लभे बालबोधे ग्रन्थेऽपि प्रतिपादितम् **"अतः शिवः च विष्णुः च जगतो हितकारकौ... ब्रह्मैव तादृशं यस्मात् सर्वात्मकतया उदितौ निर्दोषपूर्णगुणता तत्तच्छास्त्रे तयोः कृता"** (बा.बो.११-१३)* इति चेत् सत्यं, अन्यदपि किञ्चिद् अस्मदाचार्यरणाः एतस्मिन् विषये प्रतिपादयन्ति.

तथाहि :

''यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवते ईर्यते. सूर्यादिरूपधृग् ब्रह्मकाण्डे ज्ञानांगम् ईर्यते. पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिः तथा. भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्ध्यै तथापि तु आदिमूर्तिः कृष्णएव सेव्यः सायुज्यकाम्यया'' (त.दी.नि.१।११-१३).

''वेदोक्तानाम् अग्न्यादीनां देवोपासनबुद्ध्या अग्निहोत्रादिकरणे भेदबुद्धेः विद्यमानत्वात् तत्तद्देवतासायुज्यम्. पौराणिकाः दुर्गागणपति-प्रभृतयः'' (त.दी.नि.प्र.२।२६५).

इत्येतेन श्रीकृष्णस्यापि केवलदेवबुद्ध्या भजनेतु न मुख्या भक्तिः किमुत सर्वोपादानतया सर्वरूपतया सर्वनामतया सर्वकर्मतया सर्वफलदातृतया सर्वफलरूपतया च भजने कृते सति सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः आनन्दधर्मरूपा पुष्टिभक्तिः विकसति. एतदाशयेनैव उक्तं **नौमि हरिभक्तिम्** इति. सर्वोपनिषत्साररूपायां सकलभक्तोद्धारि-कायां भगवद्गीतायां जागरुकायां श्रीकृष्णस्य परब्रह्मत्वे परमदेवत्वे परमफलदातृत्वेऽपि वा शंकैव नोदेति तथाहि—

''मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठा अहम् अमृतस्य अव्ययस्य च शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्य ऐकान्तिकस्य च'' (१४।२६-२७).

''यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्यति. सर्वभूतस्थितं यो मां भजति एकत्वम् आस्थितः सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते'' (६।२८-३१).

''कामैः तैस्तैः हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते अन्यदेवताः... यो-यो यां-यां तनुं भक्तः श्रद्धया अर्चितुम् इच्छति तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां

[ग] तथाहि : मैत्रेयीब्राह्मणेऽपि **"येन अहं न अमृता स्यां किम् अहं तेन कुर्याम्?"** (बृह.उप.२।४।३) इत्यादिना उपक्रमे अमृतत्वार्थम् **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** (बृह.उप.२।४।५) इति आत्मदर्शनं तत्साधनं च उपदेष्टुं **"नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति. आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति"** (बृह.उप.२।४।५) इत्यादिना आत्मनि निरुपाधिप्रीतिविषयत्वाभ्यासेन तत् तत्र परिचायितम्. उपसंहारेच **"एतावद् अरे खलु अमृतत्वम्"** (बृह.उप.४।५।१५) इत्यनेन तद्विषयकज्ञानस्यैव अमृतत्वम् उच्यते. तत्र स्वप्रतीत्या अपत्यादिसर्वापेक्षया प्रियत्वलिंगकः स्वात्मैव भवतीति उपक्रमोपसंहाराभ्यासैः इदं वाक्यं जीवबोधकम्. यत् पुनः अत्र आत्मज्ञानादीनां सर्ववेदनरूप-फलसिद्ध्यर्थम् आत्मनः सर्वरूपत्वं श्राव्यते, यच्च समुद्रादिदृष्टान्तैः सर्वाधारत्वं, याच श्रुत्यन्तरे तस्य ब्रह्मता, तत् सर्वं तस्य जीवात्मनः उत्कर्षार्थं, जीवादृष्टस्यापि जगदुत्पत्तौ सहकारित्वात्. अतो जीवएव अत्र अभिधीयते इति पूर्वपक्षे, तन्निरासाय, **"वाक्यान्वयाद्"** (ब्र.सू.१।४।१९) इति हेतुः व्यासपादैः ब्रह्ममीमांसायाम् उक्तः.

तामेव विदधाम्यहं... देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ताः यान्ति मामपि. अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः"(७।२०-२४) इति.

"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः... मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु मामेव एष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने"(१८।६४-६५) इत्येवमादिवचनैः च.

[ग] तस्मादेव हेतोः सम्प्रति श्रीपुरुषोत्तमचरणाः श्रीकृष्णभक्तेः ब्रह्मानन्दधर्मरूपतां साधयितुम् उपक्रमन्ते **मैत्रेयीब्राह्मणेऽपि** इत्यादिना.

ननु एकस्यैव श्रीकृष्णस्य वेदानां पूर्वोत्तरकाण्डयोः पुराणेतिहासयोः चापि प्रतिपाद्यत्वे शास्त्रानैक्यवैयर्थ्यापत्तिः इति चेद्, अत्यल्पम् इदम् उच्यते, ब्रह्मैक्यप्रतिपादनपरत्वेऽपि एवमेवेति. आस्तां तावद् इयं कथा यत् सर्वशास्त्रप्रतिपाद्यो श्रीकृष्णो भवति नवा इति. विचार्यतां च **"अग्निः... वायुः...**

यथा एको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव. एकः तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिः च. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यो करोति तम् आत्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं न इतरेषाम्'' (कठोप.२।२।९-१२) इत्येवमाद्युपनिषद्वचनानाम् अभिप्रायः. तस्मात् सृष्टिः खलु यदि एकस्यैव कस्यचन अंगीकृतानेकरूपता चेत् तदा यान्यपि शास्त्राणि यत् किमपि प्रतिपादयन्तु नाम सर्वमेव तद् एकस्यैव अद्वितीयस्य परमतत्त्वस्य तस्य अनेकरूपाणामेव निरूपणम् इति अकामेनापि स्वीकर्तव्यमेव. तदेव उपदिशति भगवान् गीतासु भागवते च ''वेदैः च सर्वैः अहमेव वेद्यः''—''मां विधत्ते अभिधत्ते मां विकल्प्य अपोह्यते अहम् एतवान् सर्ववेदार्थः शब्दः आस्थाय मां भिदाम्, मायामात्रम् अनूद्य अन्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति'' (भग.गीता.१५।१५— भाग.पुरा.११।२१।४३) इति. इह वेदात्मकः शब्दो भगवन्तम् स्वानन्यप्रमेयत्वेन आस्थाय, अवलम्ब्यैव इति यावत्, लौकिकमत्या कल्पितं मायिकभेदन्तु अनूद्य प्रतिषिध्य च प्रसीदति इति उक्त्या प्रत्यक्षादिलौकिकैः प्रमाणैः घटपटादौ वा, शास्त्रोक्तकर्मोपासनादिसाधनेषु तदुपास्यादिदेवेषु तत्प्रसादाप्तलौकिकालौकिकफलादिषु वा अब्रह्मात्मकताबुद्धिजनको भेदस्तु लौकिकमत्या कल्पितो वेदेषु प्रतिषेधार्थमेव अनूद्यते नतु ज्ञाप्यते, अनधिगतार्थज्ञापकत्वात् प्रमाणानाम्. तस्मादेव तादृशमेव भेदं वेदात्मकः शब्दः प्रतिषेधति. नहि सः एकस्यैव सर्वभवनसमर्थस्य सत्यसंकल्पस्य परब्रह्मणो निजात्मरमणविस्तारात्मकं ''सो अकामयद् बहु स्यां प्रजायेय'' (तैत्ति.उप.२।६) इति वेदाद्यलौकिकप्रमाणैकगम्यं ब्रह्मसंकल्पितं भेदं प्रतिषेधति. तद् उक्तं भाष्यकृद्भिः—

''अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्तस्य ब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यरचनस्य अनायासेन उत्पत्तिस्थितिभंगकरणं न लौकिकम्. प्रतीतं हि निषेध्यं न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतं, सत्यत्वादयश्च लौकिकाः (चेत्) ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्. नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव व्यवहारमात्रत्वात् कारणगतं सत्यत्वं प्रपञ्चे भासते इति वाच्यं,

तर्हि (उत्पत्तिस्थितिभंग)कर्तृत्वं तथा कुतो नांगीक्रियते ?''

(ब्र.सू.वा.भा.१।१।२).

आतश्च सत्यज्ञानानन्दत्वधर्माः ब्रह्मभिन्नत्वेन लौकिकेषु प्रतीयमानाः व्यामोहकमायामोहितबुद्धिगोचराअपि यदा सच्चिदानन्दब्रह्मोपादानकेषु ज्ञायमानेषु नाम-रूप-कर्मवत्सु वस्तुषु ब्रह्मांशत्वेन अवबुध्यन्ते तदातु न भ्रान्तिरूपाः. अतएव यैर्हि **''अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च इति अंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं मायिकन्तु ततो द्वयम्''** इति उच्यते, तेऽपि नूनम् अस्माकं प्रतिबोधयितुम् इष्टाः यद् इयं हि माया भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यानुगुणा अप्रतिहतसंकल्पानुकूलप्रज्ञारूपैव (द्रष्ट.निघं.३।३।९) इति. आनन्दस्यैव धर्मः प्रीत्यपरपर्यायीभूतः प्रियत्वरूपो भवति. भगवन्माहात्म्यज्ञानेन ब्रह्मात्मरत्यावरकाज्ञानस्य अपगमेन प्रादुर्भूता प्रीतिरपि उपाधिरहिता आनन्दांशिन्येव उपपन्ना न लौकिकेषु विषयेषु. तद् उक्तं **''एषो अस्य परमः आनन्दः, एतस्यैव अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (बृह.उप.४।३।३१), **'''आत्मैव इदं सर्वम्' इति सवा एष एवं पश्यन् एवं मन्वानः एवं विजानन् आत्मरतिः आत्मक्रीडः आत्ममिथुनः आत्मानन्दः... भवति''** (छान्दो.उप.७।२५।२) इति. उपबृंहितञ्च भगवता **''अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः''** (भाग.पुरा.३।९०।४२) इत्यत्र बाह्यविषयेषु आनन्दप्रतिभासो देहसम्बन्धौपाधिको, देहेन्द्रियादिषु ब्रह्मचिदंशात्मसम्बन्धौपाधिकः, आत्मनितु सहजो ज्ञायमानो वा अज्ञायमानो वा परमात्मांशत्वप्रयुक्तएव इति अभिप्रायस्फोरणात्. तस्मात् श्रुत्यादिशास्त्रैः जायमानेन भगवन्माहात्म्यज्ञानेन बाह्याभ्यन्तरसर्ववस्तुविषयकस्य ब्रह्मतादात्म्याज्ञानस्य अपगमे, याहि निखिलात्मसु धर्मिभूतानन्दतिरोभावेऽपि तद्धर्मरूपा अंशतो नित्यसिद्धैव ब्रह्मणो हि आत्मरतिः, सैव भगवद्भक्तितया पुनः आविर्भवन्ती सती निरुपाधिका अगणितानन्दधर्मरूपा भवति इति सिद्धम्. नैवं ब्रह्मानधीनतया प्रतीताः ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादयो जीवधर्माः चिदंशस्य जीवात्मनो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिषु अध्यासं विना उपपद्यन्तइति महानेव उत्कर्षो भक्तेः अवगन्तव्यः.

*ननु जीवांशानां सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मांशत्वेन तदधिकरणकभगवद्भ-

क्तिभावस्य अंशिभूतब्रह्मानन्दधर्मता चेत्, तदा समानयोगक्षेमत्वाद्, जीवानां संसृतिहेतभूतानां ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादिधर्माणामपि कुतो न आनन्दधर्मता? नच इष्टापत्तिः, संसृतेरपि आनन्दधर्मत्वे भक्त्यादीनाम् आत्मोद्धारसाधनानां अजागलस्तनप्रा-यता वज्रलेपायिता स्याद्* इति चेत् न, सिद्धान्तप्रक्रियानवबोधात्. एतद्विवेचनपरा सैद्धान्तिकी प्रक्रिया आचार्यचरणैः सुबोधिन्यां प्रतिपादिता तथाहि—

''तत्र सदानन्दो भगवान् एककोटिनिविष्टः (पुरुषोत्तमरूपः) चिद्रूपः (कालकर्मस्वभावप्रकृतिपुरुषरूपसमष्टिरूपाक्षरान्तर्गतः पुरुषः) च अपरः. तस्य माया द्विविधा (सर्वभवनसामर्थ्यरूपा व्यामोहिका अविद्यारूपा च). तत्र चिद्रूपस्य, माया व्यामोहिका (नतु सदानन्दस्य व्यामोहिका इति अर्थः). सा स्वपुरुषं व्यामोहयित्वा जीवताम् आपादयति... बोधरूपोऽपि अयं आनन्दरूपस्य पृथग्भूतत्वाद् आनन्दार्थी तया व्यामोहितः तत्सम्बन्धाद् आनन्दो भविष्यति इति बुद्ध्या तया सम्बध्यते... तत्र सदंशस्य शक्तिः क्रियारूपा. चिदंशस्य व्यामोहिका माया. आनन्दस्य जगत्कारणभूता. एतत्त्रितयरूपा शक्तिः सच्चिदानन्दरूपस्य भावत्वतलादिवाच्या... तत्र सद्रूपस्य कार्ये प्रत्येकपर्यवसायित्वम्... तत्र आनन्दः उत्कृष्टः. तदा इतरौ तं सेवमानौ जातौ. ततश्च तयोः धर्मौ ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे जाते. तदा च आनन्दो ज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः. तदा चिदंशस्य शक्तिः आनन्दे गतत्वात् ज्ञानधर्मस्य तं व्यामोहयति तदा तस्य जीवत्वम्. सदंशस्तु क्रियाशक्तेः गतत्वाद् अव्यक्तता(गुणत्रयसाम्यावस्था)म् आपद्यते. पश्चाद् मूलभूतक्रियां-शाभिः शक्तिभिः यथायथम् अभिव्यज्यते. पश्चात् तस्यां तत्कृते धर्मे वा तिरोभूते स्वयमपि तिरोभवति... एवं चिद्रूपोऽपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैः ज्ञानैः अभिव्यज्यते तिरोभवति च. प्रयत्नस्तु तस्य अपराधीनइति... स चेद् भगवान् तस्मै तां पूर्णां ज्ञानशक्तिं प्रयच्छेत् तदा तां मोहिकां त्यजति. प्रयत्नं च त्यजति.

स्वरूपे चिद्रूपे च अवतिष्ठते. अपराधीनः च भवति जगत्कर्तृत्वन्तु न भवति, तस्य सा माया शक्तिः न भवति. उत्कर्षोऽपि न भवति आनन्दस्यैव उत्कृष्टत्वात्... इयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैव उपयुज्यते. अन्यथाप्रक्रियातु वाक्यानि बाधते''.

(सुबो.२।९।१)इति.

किञ्च प्राकृतगुणातीतस्य सर्वोपादानभूतस्य ब्रह्मणो हि गुणत्रयाविर्भावप्रक्रियापि आचार्यैः उपदर्शिता ''यथा ऊर्णनाभिः... तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते... सद्रूपेण निर्गतं 'सत्त्वम्' इति उच्यते. केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानरूपत्वात्... 'रजः' इति उच्यते. आनन्दांशात् च तमः. तेहि भगवद्रूपाएव भगवता सृष्टाः. नच भगवति ते पूर्वं (प्रकटतया) स्थिताः. तथा सति भगवदात्मकाः न भवेयुः'' (सुबो.२।५।१९) इति प्रक्रियोपदेशाभ्यां तिसृषु कर्मज्ञानभक्तिषु कर्मज्ञानशक्ती भगवन्निष्ठेऽपि जीवेषु व्यामोहकमायाकार्याध्यासपञ्चकेनैव संक्रान्ते सत्यौ अभिव्यज्येते. भक्तिस्तु ब्रह्मणः आत्मरतिरूपत्वेन तच्चिदंशेषु स्वारसिकतया जीवान्तर्निगूढा ब्रह्मपारोक्ष्ये विषयासक्तिजनिकापि जीवाय भक्तिप्रदानार्थं भगवत्कृतेन वरणेन तदवान्तरव्यापाररूपैः भगवन्माहात्म्यज्ञान-प्रपत्ति-भक्तिमार्ग-प्रवेशप्रदोपायैः जीवात्मनि पूर्वसिद्धैव निजात्मात्मरूपं तद्धर्मभूतानन्दं निरावृतं करोतीति व्यामोहिकायाः तत्र न निमित्तीभावः. तद् उक्तं ''यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'' (कठोप.२।२३). तदेतद् आचार्यचरणैः सुबोधिन्यां निष्कृष्य उपपादितं—

''अतः स्नेहः पदार्थान्तरं, स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः. शारीरेऽपि आत्मनि तेन सह नैकट्यात् परमस्नेहवत्त्वम्. एवम् अध्यासेन अन्यत्र.''

''प्रीतिस्तु भगवद्धर्मो भगवान् सर्वेभ्यो जीवेभ्यो दत्तवान्

तत्र अयम् अर्थो : अत्र उपक्रमे अमृतत्वाय आत्मदर्शनं तत्साधनानि च उपदिश्यन्ते. अमृतत्वञ्च ब्रह्मज्ञानादेव इति निर्णीतं **''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय''** (श्वेता.उप.३।८) इति सावधारणया अन्यमार्गनिषेधिकया श्रुत्या. तेन इहापि तमेव आत्मत्वेन परामृश्य दर्शनादिवाक्यानाम् अन्वयो वक्तव्यः. अन्यथा तद्विरोधापत्तेः. एवञ्च उपसंहारवाक्यमपि युज्यते, उपक्रमः च असञ्जातविरोधित्वात् प्रबलः. किञ्च एवं ज्ञानफलादिवाक्यान्यपि अन्वेष्यन्ति, तस्यैव सर्वत्वात् सर्वाधारत्वात् च. अन्यथातु निष्प्रयोजनकासदुत्कर्षबोधनात् न अन्वीयुः[पा.भे.१] प्रमाणभावं च जह्युः. नच प्रियत्ववाक्यानाम् अनन्वयः शंक्यः, आनन्दे आनन्दजनकएव च प्रियत्वप्रतीतेः. तदर्थम् आनन्दस्वरूपे आनन्दजनके च विचार्यमाणे **''आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानाद्. आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते''** (तैत्ति.उप.३।६) **''योवै भूमा तत् सुखं न अल्पे सुखम् अस्ति''** (छान्दो.उप.७।२३।१) इत्यादिश्रुतिः ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वे, 'भूत'शब्दवाच्यानां सशरीरजीवानां तत्कार्यत्वे, **''सर्वएव आत्मानो व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।-२०) इति श्रुत्या केवलानाम् अंशत्वेच सिद्धे; यद् जीवस्य परमप्रियत्वं तद् ब्रह्मगतमेव, ब्रह्मणो अविषयत्वे तदंशत्वात् सम्बन्धनैकट्यात् च जीवे भासते, जीवस्य विषयत्वात्. तथा **''एष ह्येव आनन्दयाति''** (तैत्ति.उप.२।७) इति सावधारणश्रुत्या ब्रह्मणएव आनन्दजनकत्वाद्[पा.भे.२] **''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (बृह.उप.४।३।३२) इति श्रुत्या आन्यत्रिकानन्दस्यापि तदंशत्वात् तज्जनितानन्दस्यापि ब्रह्मजनितत्वाद्

सुखार्थम् अतो यत्रैव प्रीयते तत्सुखं भवति. ततः स्वसुखमेव स्वस्य भवति इति उक्तं भवति''.

''चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्. ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति''.

(सुबो.१।१९।१६ — २।२।७ — २।६।३६).

तदेतद् उपपादयन्ति **तत्र अयम् अर्थः** इत्यादिना **निरुपधिप्रियत्वस्य आनन्दधर्मत्वं तत्र सिद्धम्** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन.

ब्रह्मैव आनन्दजनकमिति. यो अन्यत्र प्रियत्वाध्यासः सोऽपि तत्सम्बन्धादेवेति प्रियत्ववाक्यानामपि तत्रैव अन्वयः. एवञ्च अभ्यासोऽपि तस्यैव अनुगुणइति साक्षात् परम्परया च सर्वेषां वाक्यानां तत्रैव अन्वयाद् इदं ब्रह्मवाक्यम् इति सिद्धान्तितं व्यासचरणैः. तेन निरुपधिप्रियत्वस्य आनन्दधर्मत्वं तत्र सिद्धम्.

ननु लौकिकविषयेषु आसक्तौ अंश्यानन्दधर्मभूता ब्राह्मी आत्मरतिः न आविर्भवति, भगवतितु तन्माहात्म्यज्ञानपूर्विकायाम् आसक्तौ सा आविर्भवति इति उक्तम्. तत्समानन्यायेन लौकिकफलकामनया कृतस्य श्रौतादिकर्मणोऽपि फले मा भूद् अंश्यानन्दाभिव्यक्तिः परन्तु भगवदाराधनरूपेण कृतेन कर्मणा यत् फलं जन्यते तेनतु ब्रह्मानन्दतयैव भवितव्यम्. तथैव जडजीवादिविषयकज्ञाने मा भूत् प्रकटा अंश्यानन्दधर्मभूता ब्राह्मी आत्मरतिः परन्तु ब्रह्मविषयकज्ञानेनतु तथाविधात्मरतिरूपायाः भक्तेः आविर्भावो अवश्यं स्वीकर्तव्यः. सति चैवं कर्मज्ञानभक्तिमार्गाणाम् ऐक्यापत्त्या भक्तेः अनितरसाधारणोत्कर्षो अन्यथासिद्धो भवेद् इति चेत् न, श्रुत्यादिशास्त्रैकगम्यस्य सच्चिदानन्दैकरसस्य देश-काल-स्वरूपतोऽपरिच्छिन्नस्य स्वरूपतः सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदवर्जितस्यैव ब्रह्मणः **''स आत्मानं द्वेधा अपातयद्''** (बृह.उप.१।४।३) इति श्रुतिनिरूपिता द्वेधाभवनोपलक्षिता अनेकरूपता तदनुविधायिनी च अनेकरसभावजनिका हि तावद् इयं सृष्टिलीला.

तस्यामेतस्यां सृष्टिलीलायां हि **''नृत्यतो गायतः पश्यन् यथैव अनुकरोति तान्, एवं बुद्धिगुणान् पश्यन् अनीहोऽपि अनुकार्यते... यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा स्वप्नदृष्टाः च... तथा संसारः आत्मनः. अर्थे हि अविद्यमानेऽपि संसृतिः न निवर्तते ध्यायतो विषयान् अस्य स्वप्ने अनर्थागमो यथा''** (भाग.पुरा.११।२२।५२-५५) इत्यत्र निरूपितो अहन्ता-ममतात्मकसंसाररूपो विविधप्रकारको बन्धः. तस्मादेस्मात् सांसारिकद्रष्टृभ्रान्तिगोचराद् लोकाद् उद्धारार्थं **''त्रयो वाव लोकाः : मनुष्यलोकः पितृलोकः देवलोकः. मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो... कर्मणा पितृलोकः, विद्यया देवलोकः. देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठः. तस्माद् विद्यां प्रशंसन्ति''** (बृह.उप.१।५।१६) इति कामक्रोधलोभादिदुर्गुणप्रवर्धकानि असंस्कृताह-

न्ताममताजन्यानि यानि कर्माणि तेषां विशोधनपराणि संस्कारकारकाणि च शास्त्रेषु विविधानि कर्माणि विहितानि. तानि अनुष्ठितानि पुत्रपितृलोकयोः जीवात्मनाम् अनिष्टनिवारकाणि भवन्ति. तत्र तादृक्पुत्रकर्मापेक्षयापि प्रशस्ततरायाः विद्यायाः पुनः देवविद्या इति ब्रह्मविद्या इति च द्वौ भेदौ. एतयोरपि ब्रह्मविद्यायाएव देवविद्यातोऽपि श्रैष्ठ्यं **''अन्धतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते, ततो भूयइव ते तमो य उ विद्यायां रताः. अन्यदेव आहुः विद्यया अन्यद् आहुः अविद्यया... विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह, अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते''** (केनोप.९-११) इति वचनश्रुतस्य विद्याविद्यासमुच्चयस्य मूलरूपं कारणं च ब्रह्मैव. यस्माद् **''बहु स्यां प्रजायेय इति... इदं सर्वम् असृजत... विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवद्''—''सहस्रशिरसं देवं... विद्यया अविद्यया... निषेवितम्''** (तैत्ति.उप.२।६ — भाग.पुरा.१०।३६।५५) इति वचनाभ्यां ब्रह्मणः सर्वोपादानतायाः सर्वरूपतायाः देवाधिदेवतायाः च श्रावणात्. तथैव देवलोकाद् ब्रह्मलोकानां प्रभेदो ब्रह्मलोक-तदधिष्ठात्रोः च श्रैष्ठ्यमपि **''देवलोकाद्... ब्रह्मलोकान् गमयति. ते तेषु ब्रह्मलोकेषु... वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः''** (बृह.उप.६।२।१५), **''एवमेव एष सम्प्रसादो अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते... ब्रह्म-लोके तं वा एतं देवाः आत्मानम् उपासते. तस्मात् तेषां सर्वे लोकाः आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वान् लोकान् आप्नोति सर्वान् च कामान्, यः तम् आत्मानम् अनुविद्य विजानाति''** (छान्दो.उप.८।१२।३-६) इत्येवमादिवचनेषु श्रूयते. तद्वदेव तत्तदात्मोद्धाराधिकारानुकूलसाधनरूपाः मार्गभेदाअपि भागवते **''योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयो विवित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च नोपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्. निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनाम्. इह कर्मसु तेषु अनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्. यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः. तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनो न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह. यत् कर्मभिः यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतः च यत्, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा स्वर्गापवर्गमद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति. न ...भक्ताः हि एकान्तिनो मम**

वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यम् अपुनर्भवम्'' (भाग.पुरा.११।२०।६-८, ३१-३४) इति एतेषां वचनानां तात्पर्यपर्यालोचनेन सर्वेषां मार्गाणाम् ऐक्यन्तु अनवसरपराहतमेव.

तथापि किं-किं फलं कथम्भूतं वा केन-केन मार्गेण लभ्यते तत्तु विविच्य वेदनीयमेव.

यद्यपि सर्वस्यैतस्य विविधदेवाराधन-तज्जन्यफलभेदस्य नामरूपकर्मात्मकद्वैतस्य ब्रह्मत्वेन एकता **''यो अतः एकैकम् उपास्ते न स वेद. अकृत्स्नो हि एषो अतः एकैकेन भवति. 'आत्मा' इत्येव उपासीत. अत्र हि एते सर्वे एकं भवन्ति''—''यद्वै किञ्चन अनूक्तं तस्य सर्वस्य 'ब्रह्म' इति एकता''** (बृह.उप.१।४।७—१।२३।१७) इति बृहदारण्यके श्रूयते; तथापि सेयम् एकता अनेकात्यन्ताभावरूपा इति वक्तुं न युक्ता, यस्माद् ''एते सर्वे एकं भवन्ति'' इति श्रुतौ बहुत्वाविरोध्येकत्वे भरो निर्विचिकित्सः उपलभ्यते. तस्मिन्नेतस्मिन् परब्रह्मणि सर्वमार्गगम्यता सर्वफलरूपता च **''अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'', ''तस्य-तस्य अचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहं... लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् तान्'', ''येतु अक्षरम् अनिर्देश्यम् अव्यक्तं पर्युपासते... ते प्राप्नुवन्ति मामेव... क्लेशो अधिकतरः तेषाम्'', ''मयि आवेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः उपासते... ते मे युक्ततमाः मताः... मय्येव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय निवसिष्यसि मय्येव अतः ऊर्ध्वं न संशयः''** (भग.गीता.९।२४, ७।२१-२२, १२।३-५, ९।२-८) इत्यादिवचनकदम्बैः सिध्यति. कर्मोपासनज्ञानभक्त्यादिभिः सर्वैः शास्त्रीयोपायैः अनन्यलभ्ये फलरूपे एकस्मिन्नद्वितीये परब्रह्मणि एतानि फलानि एकरूपाण्येव भवन्तीति **''नेह नानास्ति किञ्चन''** (बृह.उप.४।४।१९) इति वेदान्तवचनविशेषरूपकूपदर्दुरोदितेन तद् अगाधम् अनन्तपारं ब्रह्म साकल्येन अवगाहयितुं वा प्रतिपादयितुं वा नालम्! तदेतद् **''एकः सन् बहुधा विचारः''**(तैत्ति.आर.३।११।१), **''अजायमानो बहुधा विजायते''** (तैत्ति.आर.३।१३।३), **''तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३) इत्येवमाद्यनेकवचनैः निश्चप्रचम्.

तस्मादेव आचार्यचरणैः निबन्धे मोक्षवैविध्योपयोगि भगवतः फलरूपवैविध्यं प्रतिपादितम्. तथाहि —

"तत्र साधनता सर्वथा भगवत्सम्बन्धेनैव अवच्छिद्यते नतु ज्ञानित्वेन भक्तत्वेन वा, 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इति वाक्यात्" (त.दी.नि.२।५५).

"प्रमेयं द्विविधं प्रमाणानुरोधि स्वतन्त्रं च... सर्वत्र भगवतएव द्विरूपत्वम् इति वक्तुम् आह 'तत्साधनं च स हरिः' इति. साध्यरूपएव स हरिः साधनरूपोऽपि... साधनद्वैरूप्यं निरूपयति : ...यत् किञ्चित् तत् फलोपकारि स्वरूपोपकारि वा न अतो अन्यद् अस्ति इति अर्थः... एवम् उद्देशतो रूपद्वयं निरूप्य फलं निरूपयति 'ज्ञानिनः' इति. भगवदानन्दरूपं फलं ब्रह्मज्ञानयुक्तस्य यथोक्तकर्मकर्तुरेव... मर्यादायां क्रममोक्षएव फलम्. सद्योमुक्तिस्तु अतिकृपया. ब्रह्मज्ञानाभावेतु स्वर्गसुखं भवति... सच स्वर्गो द्विविधः... सत्त्वाकारान्तःकरणे सर्वेहानिवृत्तौ यद् आत्मसुखं प्रकटीभवति तद् अग्निहोत्रादिसाध्यम्. सर्वदेवानाम् अधिकृतानां तुष्टौ आध्यात्मिकत्वे यागस्य जाते आत्मानन्दः प्रकटो भवति. एतदभावेतु भौतिकत्वे स्वर्गादिलोको भवति" (त.दी.नि.-प्र.२।२-५).

"तपःस्वाध्यायनिरतो ह्यग्निहोत्रादिपञ्चकं... सर्वं जानन् हरिं यथाक्रमेण मुक्तिम् आप्नोति, ब्रह्मलोकं परं गतः. एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजो अक्षरानन्दपर्यन्तम् आनन्दं विन्दते क्रमाद्. उपान्त्यानन्दपर्यन्तं पुनर्जन्म भवेद् ध्रुवं तत्तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथाविधान्" (त.दी.नि.२।१८७-१९०).

"साधनं भक्तिः मोक्षः साध्यः तथापि साधनदशैव उत्तमा. तत्र हेतुः : योहि मुच्यते स संघातं परित्यज्य ब्रह्मणि लीयते ब्रह्मभावं वा प्राप्नोति. तस्य स्वरूपानन्दः स्वरूपेण वा

आनन्दानुभवः. स्वतन्त्रभक्तानान्तु गोपिकादितुल्यानां सर्वेन्द्रियैः तथा अन्तःकरणैः स्वरूपेण च आनन्दानुभवः. अतो भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रमएव विशिष्यते'' (त.दी.नि.प्र.१।५०-५१).

एतैः अन्यैश्च आचार्यवचनैः निष्कामकर्म-सेश्वरसांख्यरूपज्ञान-तपोध्यानयोगादिभिः जायमानम् आत्मसुखं तिरोहितब्रह्मानन्दांशरूपे चिदंशे खण्डशः स्थापितायाः निजात्मरतेः क्षुद्रखण्डस्य वा मात्रायाएव वा अभिव्यक्तिरूपम्. ब्रह्मज्ञानेनतु निखिलनामरूपकर्मोपादानभूतस्य सर्वान्तःस्थितस्य ब्रह्मणः स्वरूपानन्दः मुक्तात्मना निजात्मगतया अनुभूयते. भगवद्भक्त्यातु धर्मिभूतभगवत्स्वरूपानन्दस्य भजनकर्तरि भक्ते अन्तःप्राकट्येन तदन्तर्निगूढा या आत्मरतिः सा भगवद्रत्या द्वैगुण्यम् आपद्यते. तस्माद् मुक्तिरपि एका विशिष्टा लीलैवेति न तत्र ऐक्यापत्तिः नियता. अतएव सर्गादिदशविधलीलासु भागवतीये एकादशस्कन्धे भगवतः उपान्त्यायाः मुक्तिरूपायाः भगवल्लीलायाः प्रभेदाः सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यैकत्वरूपाः प्रतिपादि-ताः. अन्तिमे द्वादशस्कन्धे आश्रयलीला हि ब्रह्मस्वरूपे प्रत्यापत्तितया च निरूपिता. सति चैवं ब्रह्मैक्येऽपि कर्मोपासनज्ञानभक्तीनां तत्फलानां वा संकीर्णता नैव सम्भवति.

यद्यपि प्रायशः कर्मणो भक्तिज्ञानाभ्यां सह, ज्ञानस्य च भक्तिकर्मभ्यां सह; तथैव भक्तेः ज्ञानकर्मभ्यां सह समुच्चयं समुपदिशतापि भगवता नूनं स्वमुखारविन्देनैव कर्मज्ञानभक्तिलभ्यानां फलानां मिथः पार्थक्यं गीतम्. तथाहि —

निष्कामकर्मलभ्यफलविषये :

''यस्तु आत्मरतिरेव स्याद् आत्मतृप्तः च मानवः आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते. नैव तस्य कृतेन अर्थो नाकृतेन इह कश्चन... तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर. असक्तो हि आचरन् कर्म परम् आप्नोति पूरुषः... प्रकृतेः

क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशो अहंकारविमूढात्मा 'कर्ता अहम्' इति मन्यते. तत्त्ववित्तु... गुणकर्मविभागयोः गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते... मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा निराशीः निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः'' (भग.गीता.३।१७-३०) इति.

<u>अन्यदेवोपासनालभ्यफलविषये</u> :

''येऽपि अन्यदेवताभक्ताः यजन्ते श्रद्धयान्विताः तेऽपि मामेव... यजन्ति अविधिपूर्वकम्... यान्ति देवव्रता देवान्, पितॄन् यान्ति पितृव्रताः, भूतानि यान्ति भूतेज्याः, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'' (भग.गीता.९।२३-२५) इति.

<u>ज्ञानलभ्यफलविषये</u> :

''असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेन अधिगच्छति. सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथा आप्नोति... निष्ठा ज्ञानस्य या परा... ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति. समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते परां भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यः च अस्मि तत्त्वतः. ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्'' (भग.गीता.१८।४९-५५) इति.

<u>भक्तिलभ्यफलविषये</u> :

''यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति तस्य अहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति. सर्वभूतस्थितं यो मां भजति एकत्वम् आस्थितः सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते''—''समो अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो अस्ति न प्रियः. ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चापि अहम्''—''येतु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः उपासते तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागराद् भवामि न चिरात् मयि आवेशितचेतसाम्. मय्येव मनः आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय निवसिष्यसि मय्येव अतः ऊर्ध्वं न संशयः''

(भग.गीता.६।३०-३१, ९।२९, १२।६-८) इति.

तस्माद् ''अज्ञे ज्ञानाय, शास्त्रज्ञे दम्भदर्पनिवृत्तये, सर्वज्ञे मुक्तये, मुक्ते भक्त्यर्थं भक्तिरिष्यते'' इति न्यायेन सर्वत्र भक्त्यपेक्षायामपि न सर्वत्र भक्तेः स्वरूपैक्येन समानफलदातृत्वं तत्र सर्वेषामपि साधनानां समानफलप्रदत्वं कथंकारं युज्येत! नच *एवं ज्ञानावाप्तये दम्भादिनिवृत्तये मोक्षावाप्तये च अपेक्षितत्वे सति निरुपधिभक्तेः स्वरूपहानिः* इति शङ्क्या, ''भजनीयमाहात्म्यज्ञानपूर्वकत्वे सति दम्भादिदोषरहितत्वे सति सुदृढसर्वतोधिकस्नेहत्व''स्यैव भक्तिस्वरूपलक्षणघटकतया तदितरानुल्लेखेन च स्वरूपोपपत्तिरेव इयम्. नच अतः कर्मोपासनज्ञानभक्तिषु समानरूपैव ब्राह्मी आत्मरतिः अभिव्यज्यते, तैत्तिरीयोपनिषदि **''रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति. को ह्येव अन्यात् कः प्राण्यात् यद् एष आकाशे आनन्दो न स्यात्. एष ह्येव आनन्दयाति''** (तैत्ति.उप.२।७) इति सावधारणं ब्रह्मणएव आनन्दजनकत्वं च तत्सृष्टेषु नैकेषु रूपेषु च आनन्दतारतम्यस्यापि अष्टमे अनुवाके निरूपणात्. एतेन कर्मयोगेन मुक्तानां ब्रह्मचिदंशनिष्ठांशिकात्मरत्यनुभवः आत्मसुखापरपर्यायो भवति. अन्यान्यदेवोपासनया मुक्तानां तत्तद्देवलोकादिषु सायुज्यादिसौख्यं तत्तद्देवनिष्ठानन्दतारतम्येन अनुभूतं भवति. ज्ञानयोगेन मुक्तानान्तु ब्रह्मानन्दे स्वरूपेण एकीभावरूपो लयएव. भक्तियोगेन पुनः भगवन्तं भजतां लयो न नियतः किन्तु ब्रह्माद्वैतानुभवेऽपि भजनाविलोपी भक्त-भगवद्द्वैतमपि मुक्त्यानन्दे अनुवर्ततएव. तस्मात् सुष्ठूक्तं **तेन निरुपधिप्रियत्वस्य आनन्दधर्मत्वम्** इति. एतेन भगवान् हि भक्तानां भक्तौ निरुपधिप्रियो भवति तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैरपि **''सर्वेषान्तु फलं मोक्षो जीवतां हरिणा सह लीलया परमं सौख्यं ततो भक्तिः इह उच्यते''** (त.दी.नि.३।९।११) इति.

*ननु प्रियत्वं हि प्रीतिविषयनिष्ठो धर्मः प्रीतिस्तु पुनः प्रीतिमन्निष्ठो धर्मः. यस्मात् शुद्धाद्वैतब्रह्मवादेऽपि तत्त्वतः सर्वस्यापि वस्तुजातस्य ऐक्येऽपि तत्तन्नामरूपकर्मणाम् अनैक्यमेवेति प्रीतिप्रियत्वयोः समानरूपेण भक्तित्वं विरुद्धमिव आभाति. कोशे हि तयोः पर्यायतोक्तिस्तु वस्तुनि प्रियत्वस्य प्रीतिजन्यत्वेन औपचारिक्येव **''तत्सिद्धिजाति...''**(शा.दी.१।४।१८।२८) इत्युक्तप्रकारेण*

इति चेत् सत्यम्!

यद्यपि लौकिकस्य प्रीतिभाजनस्य बाह्यविषयस्य परमात्मनइव प्रीतिमत्पुरुषाभ्यन्तःस्थितिः विरुद्धैव तथापि लौकिकेऽपि हि विषये प्रियत्वरूपो धर्मो न इतरनिरपेक्षतया वस्तुनिष्ठो धर्मः इति वक्तुं शक्यः. नापि कल्पनारोपिततया भ्रमभातएव. श्रुतिसूत्रभागवततात्पर्यविद्भिः श्रीमदाचार्यचरणैः प्रेम्णः पदार्थान्तररूपत्वेन प्रस्थापिततया तस्य भ्रमप्रमातीतत्वात्. नच *आदौ **''स्नेहः पदार्थान्तरं भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयकः... भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् अन्यत्रापि भासते''** इति उक्त्वा अन्ते **''एवम् अध्यासेन अन्यत्र''** इति उक्त्या आचार्यचरणैरपि बाह्येषु विषयेषु तस्य भ्रान्तिरूपता अंगीकृतैव* इति वाच्यं, तात्पर्यानवगमात्. अयम् अभिप्रायो : इन्द्रियमनोबुद्ध्यहंकारचित्तवृत्त्यजन्यत्वेन न तावत् प्रियत्वं कस्मिन्नपि वस्तुनि भ्रमकृतं वा प्रमाकृतं वा भवति, आत्मकामकृतस्य प्रियत्वस्य श्रुतौ उपपादनात्. नच ***''कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृति... इत्येतत् सर्वं मनएव''** (बृह.उप.१।५।३) इति वचने कामस्य मनोजन्यत्वश्रावणात् मनोजन्यत्वमेव अंगीकार्यम्* इति वाच्यम्, आत्मधर्मरूपायाः तस्याः मनसि विशिष्टाविर्भावांगीकाराद् अन्यथैव उपपत्तेः. अन्यथा **''न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''**(बृह.उप.२।४।५), **''एष ह्येव आनन्दयाति''** (तैत्ति.उप.२।७), **''यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति''** (छान्दो.उप.७।२३।१), **''एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति''** (बृह.उप.४।३।३२) इत्येवमादीनि बहूनि वाक्यानि बाधितानि भवेयुः. तस्मात् परमात्मांशभूतस्य चिदंशस्य सम्बन्धेन प्रयुक्तत्वादेव अन्यत्र स्नेहः. स सम्बन्धस्तु पुनः स्वस्य अन्येन सह भ्रमप्रमान्यतरभातेन यादृच्छिकनियतान्यतरेण संयोगेन उष्णस्पर्शवद् अनुभूयतइति तत्प्रयुक्तएव प्रियत्वे भ्रमभातत्वव्यवहारः औपचारिकः. नच *देहगेहादिषु अनुरागप्रयुक्ता संसारिणः प्रियत्वबुद्धिः वैराग्ये सति निवर्ततइति प्रियत्वं भ्रमकृतमेव आसीद् इति यदि विरक्तो न जानीयात् तदा नैव विरज्येद्* इति वाच्यं, तत्रापि वैराग्यवशात् पूर्वं स्वसम्बन्धाभावमेव यदा मनुते तदैव प्रियत्वाभावं मन्वीत नान्यथा इति ज्ञेयम्.

[घ]प्रियत्वमेव च स्नेहः **"प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम्"** (अम.को.१।१०।४१५) **"मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः"** (अम.को.१।७।-२६३) इति च. स्नेहएव च भगवति भक्तिः **"माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो 'भक्तिः' इति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा"** (नार.पञ्च. ।) इति पञ्चरात्रात्. अत्र 'सुदृढः' इति ब्रह्मधर्मत्वबोधकम्. 'सर्वतोधिकः' इति निरुपधित्वबोधकम्. तथा **"सा परा अनुरक्तिः ईश्वरे"** (शाण्डि.सू.१।२।) इति शाण्डिल्यसूत्रात् च.

ननु शुक्तौ रजतत्वेनेव पूर्वं प्रियत्वेन अभिमतेऽपि वस्तुनि प्रियत्वाभावनिर्धारो बाधज्ञानमेवेति प्रियत्वस्य भ्रमत्वे प्रमाणम् इति चेत् न, एवमपि प्रियत्वाभावनिर्धारात् पूर्वं स्वसम्बन्धाभावनिश्चयस्य अपरिहार्यत्वादेव. *ननु कदाचिद् दुष्टतमे हि पुत्रपितृभ्रातृकलत्रादौ स्वसम्बन्धावभासेऽपि प्रियत्वबुद्धिविलोपात् नैवम्* इति चेत् तदा भवतु स्वसम्बन्धबोधहेतुकः प्रियत्वाध्यवसायः अथवा प्रियत्वबुद्धिजन्या केनचित् साकं स्वसम्बन्धस्पृहा न तत्र आग्रहः. सर्वथापि आत्मरतिहेतुकैव आत्मेतरवस्तुषु रतिः इति औपनिषदः सिद्धान्तः.

[घ]तदेतद् अभिप्रेत्य आहुः **प्रियत्वमेव** इत्यादिना **शाण्डिल्यसूत्रात् च** इत्यन्तम्. अयम् आशयः : **"तं यथा-यथा उपासते तत् तथैव भवति"—"त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसां यद्यद् धिया त उरुगाय विभायन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय"** (मुद्ग.उप.३।३—भाग.पुरा.३।९।११) इति वचनाभ्यां भक्तभावानुसारिसद्वपुःप्रणयनसामर्थ्योपपादनात् प्रीतिभावेन भावितस्य भगवतः प्रियत्वप्रकारकं सदेव वपुः प्रकटीभवतीति हेतोः एतादृशः वपुषो भ्रमप्रमातीतभावैकगोचरता. सेयं भ्रमातीतता भक्तभावानुरूपाविर्भावित-भगवद्वपुषः तद्भक्तेतरदर्शकैः द्रष्टुम् अशक्यत्वेन भक्तस्य तद्दर्शनं प्रमितिरूपं भ्रान्तिरूपं वा इति निर्धारयितुम् अशक्यम्. भगवच्छास्त्रेषु साधारणतया भक्तभावानुरूपवपुःप्राकट्यस्य प्रतिपादितत्वेऽपि कस्यचन भक्तविशेषस्य कृते भगवता तादृग्वपुःप्राकट्यं कृतं न वा इति निर्धारयितुम् अशक्यत्वेन प्रमातीततापि. सैषा हि भगवदनवतारकालीना भक्तकथा. भगवदवतारकालेतु भगवत्साक्षात्कारः शास्त्रोक्तभक्तिज्ञानादिसाधननिरपेक्षः केवलो भगवद्दर्शनकर्तॄणां हृदयेषु यादृशाः भावाः

*ननु एवं भक्तेः ब्रह्मधर्मत्वे नित्यत्वात् **''पुनश्च भूयाद् भगवति अनन्ते रतिः''** (भाग.पुरा.१।१९।१६) इत्यादिप्रार्थनावाक्यानां, **''दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः श्रेयोभिः विविधैः च अन्यैः कृष्णे भक्तिः हि साध्यते''** (भाग.पुरा.१०।४७।२४) इत्यादीनां साधनावाक्यानां, **''भक्तिः अस्य भजनं तद् इह अमुत्र फलभोगनैराश्येन अस्मिन् मनःकल्पनम्''** (गो.पू.ता.उप.२।२) इति भक्तिलक्षणश्रुतेः च विरोधः* इति चेत्, मा एवं तस्याः नित्यत्वेऽपि **''ज्ञानं परमगुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितं सरहस्यं तदंगं च गृहाण गदितं मया''** (भाग.पुरा.२।९।३०) इत्यत्र उक्तभगवद्दत्तज्ञानवद् **''युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अध्रुवैः''** (भाग.पुरा.२।९।१६) इति भगवद्दत्तैश्वर्यवत् च

तदनुरूपवपुःप्राकट्येनापि भागवतादौ प्रतिपादितः. तथाहि **''मल्लानाम् अशनिः, नृणां नरवरः, स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्, गोपानां स्वजनो, असतां क्षितिभुजां शास्ता, स्वपित्रोः शिशुः, मृत्युः भोजपतेः, विराड् अविदुषां, तत्त्वं परं योगिनां, वृष्णीनां परदेवता इति विदितो...''** (भाग.पुरा.१०।४०।१७) इति. नच तदा भक्तौ को विशेषः इति आशङ्कनीयं, भगवति द्वेषादिभावानुरूपवपुःप्राकट्यं तावद् भगवतः सर्वरसात्मकत्वे प्रमाणम्. भक्तार्थप्रकटितस्यतु भगवतो भजनीयवपुषो दर्शन-श्रवण-कीर्तनानि मुक्तात्मनां कृतेऽपि स्पृहणीयानि भवन्ति. तद् उक्तं **''आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाअपि उरुक्रमे कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः''**(भाग.पुरा.१।७।१०), **''दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तव आत्ततनोः चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः न परिलषन्ति केचिद् अपवर्गमपि ईश्वर! ते''** (भाग.पुरा.१०।८७।२१) इत्यादिवचनाभ्यां भक्तार्थप्रकटितवपुषो मुक्त्यधिकपरमानन्दप्रदत्वस्य स्पष्टत्वात्.

यत् पुनः पूर्वपक्षिणा भक्तेः कादाचित्कत्वेन अनित्यत्वं तेन च अब्रह्मधर्मत्वम् आक्षिप्तं तत् समाधातुम् उपक्रमन्ते **ननु एवं भक्तेः** इत्यादिना **न विरोधः** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन.

इदम् अत्र अवधेयं भवति : कादाचित्कत्वन्तु भक्तेः न प्रागाद्यभावचतुष्टयरूपं अभ्युपगतं तत्र **''असति सत् प्रतिष्ठितं, सति भूतं प्रतिष्ठितं,**

भगवद्विचारितानुपूर्व्या मनसि तत्समागमनेन तत्स्वरूपनित्यत्वस्य अबाधात्. अतएव प्रार्थनावाक्ये 'पुनः' पदमपि संगच्छते, विद्यमानस्य एकस्मिन् सम्बन्धे निवृत्ते कालान्तरे तस्य सम्बन्धान्तरएव 'पुनः' पदप्रयोगात्. यथा ''पुनः आगतः'' इति. तेन पुनर्भवनप्रार्थनादिवाक्यानां कदाचित्कानुभवस्य च न विरोधः.

भूतं ह भव्ये आहितं, भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णोः बहुधा वीर्याणि...'' (अथर्वसंहि.१७।१।१९) इति, ''**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**'' (भग.गीता.२।१६) इति च अथर्ववेद-भगवद्वाक्याभ्यां सतः पदार्थस्य अभावानंगीकारादेव न ते ब्रह्मवादिना अनुमन्यन्ते.

नच *दृष्टविरोधाद् अस्मिन् भगवद्वाक्ये तात्पर्यान्तरम् उद्भावनीयं तथाहि : 'असतो'=नाम वन्ध्यापुत्रोपमस्य अत्यन्तासतो क्वचिद् 'भावो'=नाम सत्ता यथा न सम्भवति; तथैव, 'सतः'=नाम क्वचित् कदाचित् केनचिद्रूपेण सतः पदार्थस्य तुच्छत्वापादको 'अभावः'=आत्यन्तिको अभावोऽपि न सम्भवति इति अभिप्रायः स्वीकार्यः* इति आशंकनीयम्, अभावस्य निर्वचनासम्भवात्.

तथाहि वन्ध्यापुत्रोपमस्य तुच्छस्य अभावस्तु निष्प्रतियोगिकतया स्वरूपतो असिद्धएवेति चतुर्णामपि अभावानां सप्रतियोगिकत्वं यद् नियतम् अंगीकृतं, तत्र अभावज्ञानस्य स्वप्रतियोगिज्ञानाधीनत्वेन तत्प्रतियोगिज्ञानस्य [१] याथार्थ्यं वा [२] अयाथार्थ्यं वा अभ्युपगतम्?

न तावद् आद्यं, यस्मात् तद् याथार्थ्यं किम् [१] असद्वस्तुविषयकम् असत्त्वप्रकारकं ज्ञानं चेद्, असतः ख्यानप्रसंगाद् अपसिद्धान्तापातः. *ननु एवं सति ''वन्ध्यापुत्रो नास्ति'' इत्याकारकज्ञानस्यापि असत्ख्यातित्वापत्तिभिया वन्ध्यापुत्रसत्तापि अंगीकरणीया भवेद्* इति चेत् न, ''**शब्दज्ञानानुपातिवस्तुशून्यो विकल्पः**'' (पा.यो.सू.१।९) इत्यत्र विकल्पवृत्तेः अभ्युपगमाद् अभावप्रतियोगिवस्तुनस्तु तथा तुच्छत्वानभ्युपगमात् च एतयोः प्रभेदो अंगीकार्यः.

स्याद् एतद् *असत्त्वसामान्यात् प्रागभावीयासत्त्वस्य तुच्छात्यन्तिकाभावेन

अभेदांगीकारेतु मृत्तो घटजन्मवद् वन्ध्यापुत्रोऽपि क्वचिद् जायेत. अतएव असत्कार्यवादिनो हि ''यद्यद् असत् तद् जायते'' इति व्याप्तिं न पुरस्कुर्वन्ति किमुत ''यद्यद् जायते तद् जननात् पूर्वम् सद् न भवति, जनिवैयर्थ्यापत्तेः'' इत्येव ते स्वीकुर्वन्तीति नोक्तानां दोषाणां प्रसंगः * इति, यदि अभावान् अनंगीकुर्वाणैः अस्माभिः आपादकरूपासत्त्वहेतुना वन्ध्यापुत्रजन्मापत्तिरेव कथ्यते चेत्. प्रष्टव्यन्तु तावद् इदमेव यत् सद्वस्तुप्रतियोगिको हि अभावो वन्ध्यापुत्रासत्त्वविलक्षणो भवति नवा? इति. सति वैलक्षण्ये तद्घटकं तावत् किम्?

तत्र एतत् स्यात् : प्रसिद्धप्रतियोगिको हि अभावः तार्किकैः नात्यन्तिको असन् इति अभ्युपेयते, यथा उत्पत्तेः प्राग् प्रसिद्धस्य घटस्य प्रागभावः यथावा भूतले क्वचित् सकलघटानाम् अत्यन्ताभावः. ततश्च ईदृशाः अभावाः पदार्थरूपाः भवन्ति. पदार्थत्वेन अनभ्युपगतन्तु अप्रसिद्धप्रतियोगिकं असत्त्वम्. तत्तु आत्यन्तिकं भवति यथा वन्ध्यापुत्रस्य इति.

तत्र इयं विचिकित्सा केयं प्रसिद्धिः नाम? कदाचित् सत्त्वेन प्रतीत्यर्हत्वं चेत् तत् प्रतीत्यर्हत्वम् [१] अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नतया आहोस्वित् [२] तदनवच्छिन्नतया? [१] आद्येतु सामान्यधर्मरहितानां मेघदूतकादम्बरीयज्ञदत्तादिरूपाणां तत्तद्व्यक्तीनां मेघदूतत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताक-प्रागभावात्यन्ताभावाः नैव सम्भवेयुः, प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यधर्मवत्त्वाभावेन तेषाम् अप्रसिद्धत्वात्. [२] द्वितीयेतु उत्पत्तेः प्राक् तादृक्प्रतियोगिनएव प्रतीत्यर्हतानिश्चयासम्भवात् किदृक्सामान्यधर्मवत्त्वनिश्चयरहितानां प्रागभावोऽपि न सिद्ध्येत् कुतस्तरा तद्धेतुककार्योत्पत्तिः! यस्मात् स्वजन्मना प्राक् अगृहीतसामान्यधर्मवतः व्यक्तेः क्वचिदपि कदाचिदपि च सत्त्वेन प्रतीत्यर्हता न भवतीति अप्रसिद्धत्वमेव. सोऽयं प्रतीत्यर्हत्वरूपो धर्मो कस्मिंश्चिद् धर्मिणि न विद्यते चेत् स धर्मी आत्यन्तिको असन्नेव भवेद्. अथ कश्मिंचिद् विद्यमानत्वेतु न धर्मिणा अविद्यमानेन भाव्यमिति आयातमेव सत्त्वम्. तस्माद् ''इह मृदि घटो नास्ति कुम्भकारप्रयत्नेन उत्पत्स्यते'' इत्येवमादिप्रयोगानां हि इतः पूर्वं घटाद्यभावसाधकं यदि प्रमाण्यं न तदा अभावस्य असत्त्वरूपता वक्तुं युक्ता, प्रमाणावगतवस्तुनः

असत्त्वासम्भवात्. अथ अभावस्य स्वप्रतियोग्यसत्त्वरूपत्वे अभ्युपगम्यमानेतु अभावो न सत्प्रतियोगिको भवेत्. सत्प्रतियोगिकत्वेतु अभावस्य न स्वप्रतियोग्यसत्त्वरूपत्वम् इति उभयतःपाशः. किञ्च विकल्पवृत्त्यगोचरस्य अभावस्य पदार्थत्वांगीकारएव तस्य कथंचित् स्वनिरूपितप्रतियोगितासमानाधिकरणसत्तायाः ख्यापको भवति. तथात्वे सति तुच्छस्यैव निष्प्रतियोगिकाभावरूपस्य असत्त्वं तदा भवितुम् अर्हति इति अकामगलेपतितमिव आलक्ष्यते.

अथ अयाथार्थ्यकल्पेऽपि अभावप्रतियोगिज्ञानं [२-क] सद्वस्तुविषयकम् असत्त्वप्रकारकं चेद्, प्रतियोगिज्ञानायाथार्थ्यापत्त्या प्रागभावादिप्रतियोगिनः सत्त्वं वक्तुं अयुक्तं स्यात्. तत्प्रतियोगिनो असिद्ध्या तावपि असिद्धावेव, परोक्षप्रतीतिसिद्धत्वेऽपि तत्प्रतीतेरपि प्रतीतिकाले असद्वस्तुविषयया: असत्ख्यातिकुक्षिनिविष्टतया अपसिद्धान्तापत्तिः. परोक्षप्रतीतिगोचरान्यकालिकसत्त्वविषयकत्वेऽपि अन्यथाख्यातिरूपतया अप्रामाण्यं दुरुद्धरमेव. नहि तादृशेन ज्ञानेन प्रतियोगिवस्तुनः उत्पत्तिनाशसिद्धिः.

अथवा अयाथार्थ्यकल्पएव चतुर्विधाभावप्रतियोगिज्ञानं [२-ख] असद्वस्तुविषयकं सत्त्वप्रकारकं चेत् तदापि अन्यथाख्यानानिर्मुक्त्या तादवस्थ्यम्. ततश्च अभावज्ञानस्यापि तज्ज्ञानाधीनज्ञानरूपत्वेन अयाथार्थ्यमेव. नच "घटं कुरु" इति भाविनीं सत्ताम् उपचर्य जायमानस्य ज्ञानस्य आहार्यज्ञानरूपत्वेन अमिथ्यात्वं शंकनीयम्, आहार्यज्ञानजन्यस्य अभावप्रतियोगिज्ञानस्य यथार्थत्वासम्भवेन अभावज्ञानस्यापि अयथार्थत्वापत्तिः.

*ननु तदा प्रत्यक्षगोचराणां चतुर्णाम् अभावानां का गतिः इति चेत्, न, तत्र-तत्र तदा-तदा तथा-तथा च आविर्भावतिरोभावप्रक्रियाभ्युपगमेन सुखेन वस्त्वनुपलब्धेः व्याख्यातुं शक्यत्वात्. **"सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्. तद्धैके आहुः 'असदेव इदम् अग्रे आसीद्' इति... कथम् असतः सद् जायेत इति. सत्त्वेव, सौम्य!, इदम् आसीद् एकमेवाद्वितीयम्"** (छान्दो.उप.६।४।१-२) इति श्रुतौ पुरोऽवस्थितस्य इदमा निर्दिष्टस्य कार्यभूतस्यैव असत्त्वनिषेधपूर्वकं सत्त्वैकत्वे अभ्युपगते. एतस्य विस्तरो आविर्भावतिरोभाववादे अवलोकनीयः तद् अलं प्रसक्तानुप्रसक्तचिन्तनेन!

[घ] यथाच **"स मानसीनः आत्मा जनानाम्"** (तैत्ति.आर.३।११।१) इत्यत्र मनसि आविर्भावाद् भगवान् 'मानसीनः' इति श्राव्यते. तथा भगवत्सम्बन्धनैकट्यात् मनसि आविर्भवन्ती भक्तिरपि **'मनोधर्मः'** इति व्यवह्रियते. यथा वह्निनैकट्यतारतम्येन उष्णस्पर्शानुभवतारतम्यं तथैव भगवन्नैकट्यतारतम्येन भक्त्यनुभवतारतम्यम्. तेन लक्षणश्रुतेरपि न विरोध. किञ्च **"रसो वै सः"** (तैत्ति.उप.२।७) इति रसत्वेन श्रावितोऽपि भगवान् रसशास्त्रोक्तप्रणाड्या हृदि आविर्भूतएव रसतां स्वस्मिन् अनुभावयतीति **"चूतप्रवाल..."** (भाग.पुरा.१०।१८।८) इत्यत्र स्थितम्. तथा भक्तिरपि तया प्रणाड्या हृदि स्थायित्वेन आविर्भवन्ती ततः हेत्वन्तरैः उत्कृष्यमाणत्वेन च अनुभूयमाना रसरूपतामपि धत्तइति न तद्विरोधः.

[घ] तस्माद् ब्रह्मात्मरतिधर्मरूपायाः भक्तेः नित्यत्वस्य अनंगीकर्तुम् अशक्यतया तस्याअपि आत्मरतेः पुनः ब्रह्मानन्दधर्मभूतायाः याः सांसारिकसुख-दिव्यलोकस्थसुख-निजात्मसुख-ब्रह्मानन्द-भजनानन्दरूपाः विविधाः विविधाभिव्यक्तयः तासु श्रीकृष्णभक्तेरेव कश्चन उत्कर्षातिरेको यथा तथा विभावानुभावादिनिष्पन्नस्थायिभावरूपेषु लौकिकालौकिकरसेष्वपि भक्तिरसस्यैव कश्चन माहात्म्यविशेषं प्रतिपादयितुम् उपक्रमन्ते **यथाच** इत्यादिना.

सिद्धं तत् संकल्पविकल्पात्मकेनापि मनसा यद् ध्यायते तद् अनृतमेव भवति इति नियमो नास्ति. इन्द्रियादिजन्यप्रत्यक्षादिप्रमाणानुपस्थापिते बाह्ये मनोध्याते हि विषये तदनृतत्वं, नतु प्रमाणवृत्त्यानुषंगिकतया मनोध्यातेऽपि. अन्यथा **"स मानसीन आत्मा जनानाम्"** (तैत्ति.आर.३।११।१) इति भगवती श्रुतिः न वदेत्. तथैव छलनार्थं मनसः सृष्टत्वेन तद्ध्यातस्य अनृतत्वं यद् उक्तं तदपि न संगच्छते, यतो मनोध्यातस्य नियमेन अनृतत्वे **"स यो 'मनो ब्रह्म' इति उपास्ते यावन् मनसो गतं तत्र अस्य यथाकामचारो भवति"** (छान्दो.उप.७।३।२) इत्यत्र उक्तो यथाकामचारो बाधितः स्यात्. किञ्च संकल्पविकल्पप्रचुरेण मनसा ब्रह्म ध्यातुं न शक्यमिति ध्यानसमाधिभक्तियोगाद्युपष्टब्धमनोऽपि तत् समधिगन्तुं न शक्नुयात् चेत् शास्त्रोक्तसाधनानां वैयर्थ्यमेव प्रसज्येत. अतएव **"यद् मनसा न मनुते... नेदं यद् इदम् उपासते"—"मनसा सह बुद्धिः न विचेष्टति...**

ताम् आहुः परमां गतिम्'' (केनोप.१।१।५ — कठोप.२।३।१०) इत्येवमादिवचनेष्वपि शास्त्रीयसाधनासंस्कृतस्यैव मनसः खलु उल्लेखो मन्तव्यः. अन्यथा ''**मनसैव इदम् आप्तव्यम्**''(कठोप.२।१।११) इति बाधितं स्यात्. ततश्च ब्रह्मानन्दस्य धर्मभूतायाः भक्तेरपि मनसि अभिव्यक्तावपि न काचित् क्षतिः इति.

*ननु ब्राह्मात्मरत्यंशरूपायाएव भक्तेः मानसवृत्तितयापि प्राकट्यं यत् प्रतिपाद्यते तत्र तया ब्रह्मानन्दो मानसापरोक्षविषयतया अनुभूयते उत ध्यानाभ्यासजन्यपरोक्षमानस-प्रत्ययतया विषयीक्रियते ? आद्ये साधनदशायामपि ब्रह्मानन्दसाक्षात्काराद् अविद्यायाः पञ्चानामपि पर्वाणां ग्रन्थिभेदनापत्त्या प्रत्यक्षविरोधः. द्वितीयेतु मृतपुत्रसाक्षात्कारवद् भावनाजन्यत्वेन तादृश्याः भक्तेः ब्रह्मानन्दधर्मावेदकत्वे प्रामाण्याभावएव, यथाच उच्यते ''**भावनाजं फलं यत् स्यात्, यच्च स्यात् कर्मणः फलं, न तत् स्थास्नु इति मन्तव्यं पण्यस्त्रीसंगतं यथा**'' (बृह.उप.शां.भा.वार्ति.७।७।७) * इति चेद् —

अत्र प्रतिविधास्यामः ''**अहं ब्रह्मास्मि**'' (बृह.उप.१।४।१०) इति उपनिषद्वाक्यश्रवणमनननिदिध्यासनजन्यायाः शब्दवृत्तेरपि भावनारूपता कुतो न अंगीक्रियते? कुतश्च ब्रह्मात्म्यैक्यापारोक्ष्यं तत्र उपपाद्यते? इति वदन्तु भवन्तः. नच *''**तदिदम् एतर्ह्यपि यः एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति, स इदं सर्वं भवति**'' (तत्रैव : १।४।१०) इति श्रुतिरेव तत्र प्रमाणम्* इति वाच्यं, तर्हि शुष्कं तर्कम् अनादृत्य विषयेऽस्मिन् श्रुत्यादिशास्त्रप्रामाण्याभ्युपगमे समानयोगक्षेमाद् भक्तावपि तथैव भवतु तथाहि : ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजामि अहम्**'' (भग.गीता.४।११), ''**तं यथा-यथा उपासते तथैव भवति**'' (मुद्ग.उप.३) ''**यद्-यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय**'' (भाग.पुरा.३।९।११) इति नैकवचनेभ्यः तस्य परमेश्वरस्य अनन्यसाधारणे धर्मेऽपि श्रद्धतां यथा ब्रह्मात्म्यैक्ये श्रद्धते भवन्तः. *ननु उक्तं साधनदशायामपि अविद्याग्रन्थिभेदनापत्तिः* इति चेत् न, यथा केवलाद्वैतवादे चित्तशुद्धिः वेदान्तवाक्यश्रवणं तदर्थमननं तन्निदिध्यासनं च इति ज्ञानोत्पत्तौ क्रमः तथा

शुद्धाद्वैतवादेऽपि सत्संगो, रुचिः, तदनु भगवत्स्वरूपलीलानिरूपकाणां वचनानां शक्तितात्पर्यनिर्धाररूपं श्रवणं, निर्धारितार्थभावनापूर्वकं भगवदासक्त्या तत्कीर्तनं, भगवति भगवत्स्वरूपलीलाभावानुभावने भक्त्यात्मको व्यसनभावः एवं क्रमेणैव भक्तिरपि अधिकाधिकब्रह्मानन्दधर्मताम् आत्मनः प्रकटयतीति साधनदशायामेव अविद्यायाः सर्वपर्वाणां विभेदनं न आपादयितुं शक्यम्. सति चैवं भगवति स्वप्रेम्णो विषयासक्ति-तद्विरक्ति-मुक्तितोऽपि आनन्दाधिक्यस्फुरणेन तदितरस्पृहाना-शः. ततः शनकैः भगवत्प्रेम्णएव निजान्तःस्थितभगवद्रूपतावगमाद् भगवदैक्यस्फुरणात् च प्रेमभावितस्वरूपस्य स्वहृदि भावनोत्कर्षेण तथाविधभावात्मकस्वरूपस्यैव बहिरपि आसक्तिभ्रमन्यायेन साक्षात्कारः. तेन सर्वत्र भगवद्भावसम्पत्त्या सर्वात्मभावसिद्धिरूपो साक्षात्कारः इति रहस्यम्. किञ्च कर्मणोऽपि फलं नैकान्तेन अस्थास्न्वेव भवति इति भ्रमितव्यं, ‘‘**प्रजापतिमेव देवतां यजन्ते प्रजापतिः देवता भवन्ति. प्रजापतेः सायुज्यं सलोकतां जयन्ति**’’ (शत.प.ब्रा.१२।१।३।२१) इत्यत्र कर्मणापि मोक्षश्रावणात्. नच प्रजापतेरेव आकल्पस्थास्नुतया तत्र सायुज्यैकत्वयोरपि तथाकल्पान्तस्थास्नुतैव कल्पनीया, ब्रह्मण्यपि सायुज्ये महाप्रलयानन्तरं द्वितीयकल्पे सृष्ट्यारम्भे पुनः बन्धापत्तिकल्पनायाः सुशकत्वात्.

तस्माद् ‘‘**भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः**’’ (भाग.पुरा.११।१४।२१) ‘‘**यस्य देवे परा भक्तिः... तस्य एते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः**’’ (श्वेता.उप.६।२३) इत्येवमादिवचनेषु भक्तिं विना नैव परमात्मानं नापि तत्प्रतिपादकवचनानाम् अभिप्रायमपि वा केनचित् समवधारयितुं शक्यम् इति सिद्धान्तः. तस्माद् भक्तिरसभावानुरूपतया स्वयं भगवता भक्तानुग्रहार्थं प्रकटितस्य वपुषो अन्यथाभावनकर्तैव ब्रह्मात्म्यैक्यभावनया स्वमोक्षावाप्तिं मृतपुत्रमिव भावयति इति अलम्.

भगवतो असुरमारणादिभक्तीतरलीलानाम् अनुभावने हि क्वचिद् भगवन्माहात्म्याधिक्यस्य भवन्त्यपि भगवद्विषयिणी भावना अनवतारकाले न भक्तौ अनुमोद्यते. अतएव क्वचिच्च तादृश्याः लीलायाः भगवत्स्नेहाभिवर्धकत्वेऽपि

तत्तत्स्नेहादिसञ्चारिभावत्वेनैव हेतुना न भक्त्यंगतया स्पृहणीयता. तथापि भक्तिरसस्थायिभावरूपस्य माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेहस्य सञ्चारिभावतया भक्तीतरभावानामपि तदालम्बनविभावात्मकभगवद्रूपे प्रकटितगुणधर्मलीलारूपाणां ध्यानं वा तत्र अनुरागो वा भक्तिरसे समधिकचमत्काराधानार्थं भवन्तौ न निवार्येते. अतएव भगवतो शृंगाररसात्मिकायाः रासलीलायाः वर्णनोपसंहारे भागवतेऽपि **''विक्रीडितं व्रजवधूभिः इदं च विष्णोः श्रद्धान्वितो अनुशृणुयाद् अथ वर्णयेद् यो भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगम् आशु अपहिनोति अचिरेण धीरः''** (भाग.पुरा.१०।३०।४०) इति वचनम्. नहि अत्र भगवद्विषयिण्याः शृंगारात्मिकायाः रतेः सञ्चारिभावतया भक्तिः प्रशंसिता प्रत्युत भक्तेरेव सञ्चारिभावतया शृंगाररतेरपि कश्चन अवतारकालिकः चमत्कारो निरूपितः. तद् उपपादितं सुबोधिन्यां **''एकादशेन्द्रियाणामपि विषयाः त्यक्ताः सवासनाः... अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात्... एतच्च भजनं न विषयवत् किन्तु प्रकारान्तरेण''** (सुबो.१०।२६।३१) इति. उद्धवेनापि **''भगवति उत्तमश्लोके भवतीभिः अनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा''** (भाग.पुरा.१०।४४।२५) इत्येतेन गोपीजनानां मध्ये व्रजे मन्मथमन्मथरूपेण साक्षात् प्रकटिते भगवति शृंगारात्मिका भक्तिरेव प्रशंसिता, न केवला शृंगारात्मिका रतिः. अवतारकालेऽपि यदा भक्तिरसस्य एतावद् माहात्म्यं यद् भगवल्लीलासामयिकाः ये विविधाः भगवद्विषयकभावाः तदपेक्षया भक्तेरेव प्राधान्यम्. तदा अन्येषां कर्मोपासनज्ञानादिसाधनापेक्षया भक्तेः उत्कर्षविषये कियद् वा वर्णनीयम्!

एवं भगवद्भक्तेः रसत्वे यश्च इतरेभ्यो रसेभ्यः उत्कर्षातिरेकः तम् उपपाद्य इतःपरं भगवदनुग्रहाद् लभ्येषु फलेषु भक्तिलाभरूपस्य फलस्यापि उत्कर्षविशेषः साधनीयः. अत्र परिहरणीयाश्च पूर्वपक्षोक्ताः चत्वारो हि आक्षेपाः यथाहि : [१]अनुग्रहनिरुक्त्यसम्भवः [२]तत्सम्भवेऽपि अनुग्रहस्य भगवद्दर्शनमोक्षयोरेव पर्यवसानं, न भक्तौ [३]अनुग्रहस्य दयारूपत्वेऽपि दुःखात्यन्ताभावसम्पादने पर्यवसानाद्, न अनुग्रहेण लभ्या भक्तिः [४]वस्तुतस्तु सर्वज्ञत्वेन सर्वकर्तृत्वेन सर्वोपादनत्वेन सर्वरूपत्वेन दुःखासंस्पृष्टत्वेन सर्वाभिन्नत्वेन च अभिमतस्य ब्रह्मणः स्वस्मिन्

वा स्वांशेषु वा निजैकताद्वितीयतयोः अज्ञानविस्मरणसन्देहभ्रमासम्भवेन अनुग्राह्यताबुद्धेः अप्रसक्तिः इति. तस्माद् आत्मसृष्टौ प्रादुर्भावितानां निजांशानां आगन्तुकेनापि केनचिद् हेतुना दुःखित्वानुग्राह्यत्वकल्पनेऽपि सर्वज्ञसर्वशक्तिमतः तस्य तथाविधं निर्माणन्तु अशक्यकल्पनमेव. अन्यथा सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वकृपालुत्व-बाधापत्तिः दुष्परिहरैव.

[१-४] तत्र प्रथमचतुर्थौ आक्षेपौतु धर्मिज्ञापकप्रमाणैरेव नोपपन्नौ, ब्रह्मणो यथोक्तसर्वरूपस्य अनुग्रहशीलतासिद्धौ हि अनुग्रहरूपधर्मनिरुक्तेः शक्यत्वाशक्यत्वे वा न काचिद् हानिरिति. तथाहि —

> “**अणोः अणीयान् महतो महीयान् आत्मा अस्य जन्तो निहितो गुहायां तं... पश्यति... धातुः प्रसादाद्... यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः**” (कठोप.२।२०-२३,श्वेता.उप.३।२०) इति.
>
> “**तेषामेव अनुकम्पार्थम् अहम् अज्ञानजं तमो नाशयामि**” (भग.गीता.१०।११) इति.
>
> “**यदा अयम् अनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्**” (भाग.पुरा.४।२९।४६) इति.
>
> “**श्रिया पुष्ट्या... शक्त्या... निषेवितम्**” (भाग.पुरा.१०।३६।५५) इति च.

[ख] तस्माद् अस्ति चेत् परमेश्वरे काचन अनुग्रहरूपा पुष्टिशक्तिः तदा तदनुरूपतया शक्यञ्च अनिर्वचनीयमपि किञ्चित्तु कल्पनीयमेव, प्रमाणसिद्धे वस्तुनि लक्षणानपेक्षणात्. नहि “शीतस्पर्शवत्यः आपः” इति लक्षणवेत्तुरेव तृड् अद्भिः उपशाम्यति इति नियमः, पशुपक्षिणामपि तृडुपशमाय जलपानदर्शनात्. अस्तु वा “स्वभक्तिसम्पादनानुकूल-लीलानन्दोच्छलनप्रयुक्तजीवविशेषवरणरूपसंकल्पो” वा “सृष्टौ प्रादुर्भावितजीवविशेषविषये निजात्मरतेः भक्तितया आविर्भावानुकूलस्वनैकट्य-सम्पादनं वा अनुग्रहः” इति यत् किमपि तल्लक्षणम्. सर्वथातु “**द्वया ह**

[ख] एवं तदाविर्भावः च अत्यनुग्रहादेव **"भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्"** (भाग.पुरा.५।६।१८) इति पञ्चमस्कन्धे शुकवाक्यात्. नच एवं सर्वथा तददानम् इति शङ्क्यं **"'कृषिर्' उत्कृष्टवचनो 'ण'श्च सद्भक्तिवाचको 'अ'श्चापि दातृवचनस् तेन कृष्णं विदुः बुधाः"** (. । ।) इति वाक्ये दानस्यापि उक्तत्वात्. अतो अत्यनुग्रहएव ददाति इति निश्चयः. अनुग्रहश्च न फलदित्सा नवा इच्छान्तरं **"यस्य अनुग्रहम् इच्छामि"** (द्रष्ट.भाग.पुरा.१०।२७।१६) इति भगवद्वाक्ये इच्छाविषयत्वेन उल्लेखात्. **"फलदित्सादेः तथात्वाभावाद्"** (भ.हं.) इति भक्तिहंसे स्थितम्. दयादिरपि एतस्यैव पर्यायः, **"भवन्तौ अनुगृह्णीतां याता वो अनुग्रहाद् दिवम्"** (. । ।) इत्यादिषु दयाप्रार्थनावाक्येषु तथा प्रयोगेण एतन्निश्चयात्. अतएव **"सालोक्यसार्ष्टिसामिप्यसारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः"** (भाग.पुरा.३।२९।१३) **"मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयं नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतो अन्यत् कालविप्लुतम्"** (भाग.पुरा.९।४।६७) इति तादृशां मुक्त्यंगीकारोऽपि संगच्छते.

प्राजापत्याः देवाः च असुराः च" (बृह.उप.१।३।१) **"दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैव आसुरएव"** (भग.गीता.१६।३-५) इति वचनाभ्यां तस्यैव ब्रह्मणः स्वकीयाद् अंशिरूपाद् निजांशव्युच्चारणकालएव केषुचिद् अंशेषु मोक्षाधिकारितासम्पादनानुकूलः संकल्पो वा रतिः वा, केषुचित् च बन्धाधिकारितासम्पादनानुकूलः संकल्पो वा रतिः वेति उभावपि लीलाविलासरूपौ! स्थितायान्तु सृष्टौ पुनः मोक्षाधिकारिष्वपि कदा कस्य केन उपायेन कथम्भूताय फलाय अनुग्रहः इति सोऽपि तदिच्छाधीनशक्तिप्रेरणरूपो मन्तव्यः. अन्यथा सर्वेषामपि जीवानां सृष्ट्युत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणएव मुक्तिप्रदानेतु लीलाभंगएव स्यात्. तेषु ये जीवाः भक्तीतरैः मुक्त्युपायैः मुक्त्यधिकारित्वेन अनुगृहीताः तदपेक्षया स्वमाहात्म्यजननपूर्वक-निरुपधिसुदृढसर्वतोधिकस्नेहप्रदानेन उद्धर्तुम् इष्टाः उत्कृष्टाः हि ते पुष्टिजीवाः इति परिगण्यन्ते. तस्यैतस्य पुष्टिभक्तिजनकस्य अनुग्रहस्य अनुत्तमं वैशिष्ट्यं भक्तहृदयैकगम्यमिति [ख] "द्वितीयतृतीयाक्षेपनिरसनाय विवृण्वन्ति **एवं तदाविर्भावः च अत्यनुग्रहादेव** इत्यादिना. एतेन

हि भगवदनुग्रहविचारेणापि भक्तिभावस्य उत्कर्षातिशयो निरूपितः. ननु कथं तद्? इति चेद् एवम् : 'अनु'पूर्वकस्य उपादानार्थकस्य स्वीकारार्थकस्य वा 'ग्रह'धातोः निष्पन्नो अयं 'अनुग्रह'शब्दः. तथाच सृष्ट्यारम्भे हि विमोक्षार्थं स्वीकृतस्यैव दैवजीवस्य पुनः उद्धारौपयिकाय साधनाचरणानुकूलप्रेरणाप्रदानाय पुनः भगवत्कृतं स्वीकरणं वा वरणं वा जीवेषु 'अनुग्रह'पदवाच्यो भवति.

तद् उक्तं पाञ्चरात्रीयलक्ष्मीतन्त्रे —

> **''अनुग्रहात्मिका शक्तिः मे पञ्चमी मता... अविद्यया समाविद्धाः, अस्मितादिवशीकृताः, मच्छक्त्यैव तिरोभूताः, 'तिरोधाना'भिधानया उच्चाद् नीचे पतन्तः, ते नीचाद् उत्पतयालवो निबद्धाः त्रिविधैः बन्धैः, ...संसारांगारमध्यस्थाः पच्यमानाः स्वकर्मणा, सुखाभिमानिनो दुःखे नित्यम् अज्ञानधर्षिताः, ...मया जीवाः समीक्ष्यन्ते श्रिया, ...सो 'अनुग्रहः' इति प्रोक्तः शक्तिपातापराह्वयः... न असौ पुरुषकारेण नचापि अन्येन हेतुना केवलं स्वेच्छयैव अहं प्रेक्षे कंचित् कदापि अहम्''** (पं.रा.ल.तं.१३।१-११).

ननु एवं सति पुष्टिभक्तौ को विशेषः, सर्वेष्वपि मुक्तिप्रदेषु साधनेषु अनुग्रहरूपहेतोः अंगीकारस्य आवश्यकत्वाद् इति चेद्, अत्र ब्रूमो : अन्यो हि तावद् अनुग्रहो भगवतः सामर्थ्यानुपाती अन्यश्च स्वभावानुपाती इति. किं तद् अन्यत्वम्? आद्ये हि अनुग्रहे आनन्दमूर्तेः भगवतः ऐश्वर्य-वीर्य-यशः-श्री-ज्ञान-वैराग्यादीनां धर्माणां प्राकट्यं, द्वितीयेतु तद्वतो हि आनन्दस्वरूपस्यैव प्राकट्यम् इति भेदः. *ननु धर्मधर्मिणोः गुणगुणिनोः तादात्म्यांगीकारेण एकप्राकट्ये कुतो न अपरस्यापि प्राकट्यं ध्रुवम्?* इति चेत् सर्वरूपस्य सर्वव्यापिनः सनातनस्यापि भगवतो यत्र यदा येन रूपेण आविर्बुभूषा तत्र तदा तेन रूपेणैव दर्शनं न अन्यथा. तेच गुणधर्माः यथायथं सुसाधन-निःसाधन-दुष्टसाधनावस्थेषु दैवजीवेषु प्रसादतोषदयाक्षमादिरूपेण प्रादुर्भूय उद्धारानुगुणकालकर्मस्वभावसम्पादकानि भगवतो यशःश्रीज्ञानरूपाणि कदाचित्तु उद्धारप्रतिबन्धककालकर्मस्वभावबाधकानि ऐश्वर्यवीर्य-

[क] इयञ्च मुक्तानामपि अभिलषितैव, ''**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाअपि उरुक्रमे कुर्वन्ति अहेतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः**'' (भाग.पुरा.१।७।१०) ''**परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं तदधीतवान्**'' (भाग.पुरा.२।१।९) इत्यादि प्रथमद्वितीय-स्कन्धादिवाक्यैः तथा निश्चयात्.

वैराग्यरूपाणि च भवन्ति. एवमपि उद्दिधीर्षितव्यस्य जीवात्मनो स्वस्वरूपे आसक्तिः न उद्भावयति चेत् तदा धर्मिरूपानन्दस्य प्रादुर्भावो न भवति इति आचार्यचरणैः ''**तस्माद् जीवाः पुष्टिमार्गे भिन्नाएव न संशयः, भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिः... भगवानेव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि गुण/स्वरूप-भेदेन तथा तेषां फलं भवेत्**'' (पु.प्र.म.१२-१७) इत्यत्र उपदिष्टमेव. तस्माद् भगवतो अनुग्रहस्यास्य विशेषो अयं यो प्रसादतोषदयाक्षमादिभ्योऽपि विलक्षणः इति. सोऽयं 'पुष्टि'पदवाच्यो भगवत्स्वरूपासक्तिजननैकप्रयोजनो यदा ब्रह्मानन्दात्मरतिं नित्यसिद्धां साकल्येन जीवे निरावरणां करोति तदा तादृक्पुष्टेः जन्या भक्तिः 'पुष्टिभक्तिः' इति उच्यते.

[क] अयं हि अनुग्रहस्यैव कश्चन अतिशयितः प्रकारो ग्रन्थकारैः मंगलाचरणकारिकायाम् **अतिशयितानुग्रहात् प्राप्याम्** इति सिद्धान्तनिरूपककारिकायां च **निरुपाधिप्रियत्वस्य ब्रह्मधर्मता** इति पदानां प्रयोगेण सूचितः.

अतो अनुग्रहातिशयलभ्यताविमर्शेनापि भक्तेः उत्कर्षातिशयं प्रतिपाद्य अथ इदानीं तस्याः मंगलाचरणकारिकोक्तं प्रथमम् उत्कर्षं निरूपयितुं वदन्ति **इयञ्च मुक्तानामपि** इत्यादिना. यस्मात् ''कामावृता ह्यात्मरतिः संसारजनिका मता, क्षुद्रकामक्षये मुक्तौ ब्राह्मी सात्मरतिर्भवेत्, सैवात्यनुग्रहेणैव मुक्तिकामक्षये सति, भजनानन्दरूपेणाप्यभिव्यक्ता भवेद् यदि, पुष्टिभक्तितयोत्कृष्टा वादेऽस्मिन् परिकीर्तिता''. तद् उक्तं ''**देवानां शुद्धसत्त्वानाम् ऋषीणां च अमलात्मनां भक्तिः मुकुन्दचरणे न प्रायेण उपजायते. रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैः इह जन्तवः तेषां ये केचन ईहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः, प्रायो मुमुक्षवः ...मुमुक्षुणां सहस्रेषु कश्चिन् मुच्येत सिध्यति. मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि...**'' (भाग.पुरा.६।१४।२-५) इति भागवतेऽपि मुक्तेष्वपि यद् नारायणपरायणतारूपायाः भक्तेः सुदुर्लभता कीर्तिता तस्याअपि हेतोः

नच **''यदा सर्वे प्रलीयन्ते''** (कठोप.६।१४) इति श्रुतिविरोधः, इतः पूर्वं काममयमानस्य पुनः आगतिम् उक्त्वा **''अथ अकामयमानः''** (बृह.उप.४।४।६) इति तद्व्यवस्थाकथनं प्रतिज्ञाय **''यो अकामो निष्कामः आप्तकामः आत्मकामो भवति न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति''** (बृह.उप.४।४।६) इति उक्त्वा तत्संग्रहो अस्मिन् मन्त्रे उच्यते. तत्र संग्रह्यार्थे ब्राह्मणे अकामस्यापि आत्मकामत्वश्रावणेन तदर्थसंग्राहके अस्मिन् मन्त्रेऽपि तदतिरिक्तानां सर्वेषां कामानामेव 'सर्व'पदेन विवक्षिततया आत्मकामातिरिक्तानामेव लयस्य मुक्त्यधिकारत्वेन विवक्षितत्वात्. भक्तेश्च आत्मधर्मत्वेन तत्प्रापकत्वेन च तदभिलाषस्य आत्मकामानतिरेकात्.

विचिकित्सायाम् अतिशयितानुग्रहएव **''भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्''** (भाग.पुरा.५।६।१८) इति वचनेन हेतुत्वेन अनुमीयते.

इदम् अत्र अवधेयं : **'मुक्तानामपि अभिलषिता'** इति निरूपणेन येहि स्वेष्टदेवेषु वा अक्षरब्रह्मणि वा सायुज्यं वा एकीभावं वा गताः तेषुतु अप्रसक्तत्वादेव श्रीहरेः भक्तिविषयिणी स्पृहा न सम्भवति. तस्माद् ये जीवन्मुक्ताः अथवा क्वचित् सालोक्यादिमुक्तिभागिनो वा तेषामेव भगवत्कृपातिशयात् कदाचित् तद्दर्शनलाभे तल्लीलाश्रवणलाभे भक्तिस्पृहा समुदेतीति तएव इह **'मुक्तानामपि'** पदेन विवक्षिताः. अन्यथा कामनावत्त्वे सति मुक्तौ ऐकान्तिकानधिकारेतु मुक्तिकामनायाअपि मुक्तौ प्रतिबन्धकत्वापत्तिः दुष्परिहरैव स्यात्.

तस्मात् चिदंशेषु यः कोऽपि **''देवो असुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्वः एवच भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्''** (भाग.पुरा.७।७।५०) इति, तथा मनुष्येष्वपि **''किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसाः आभीरकंकाः यवनाः खसादयो ये अन्येच पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति''** (भाग.पुरा.२।४।१८) इति, तथा तेष्वपि पुनः सदाचारो दुराचारो वा नरो **''अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक् साधुरेव स मन्तव्यः. सम्यग् व्यवसितो हि सः. क्षिप्रं भवति धर्मात्मा... कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति''** (भग.गीता.९।३०-३१) इति

वचनाद् यः कोऽपि जीवात्मा भगवद्भक्त्यर्थं भगवतः तादृक्कृपावत्त्वे अधिकारी भवितुं भाग्यवान् भवति, सएव भगवल्लीलाप्रयुक्ते विविधप्रकारकमोक्षे हि अधिकारी भवति इति. तथापि सर्वेऽपि इह भगवदनुग्रहातिशयाभावे भगवद्भक्तौ अधिकारिणो भवितुं नार्हन्त्येव. अतो अयंहि भक्त्युत्कर्षः सर्वेषु आत्मोद्धारोपायेषु वस्तुतो महानेव!

ननु अस्तु एवंविधो महोत्कर्षो भक्तेः तथापि इतरेषाम् आत्मोद्धारोपायानामपि भक्तेरिव उत्कर्षः कुतो न अभिज्ञायते? तेषामपि खलु ब्रह्मणएव अनुग्राहकशक्तिविशेषोपष्टब्धसदादिसमुद्भूतक्रियाज्ञानादिशक्तीनां जीवात्मसु अभिव्यक्तेः अंगीकारात् इति चेद्, यद्यपि पर्यनुयोगस्यास्य समाधानन्तु उक्तप्रायमेव तथापि उपसंहारे पुनः विशिष्य तस्य उपपादनं क्रियते :

एकस्यैवाद्वितीयस्य बहुभवनसामर्थ्यसंकल्पाभ्यां प्रसूतायाम् अस्यां सृष्टौ भगवतो हि संसृतिकारिणी व्यामोहकाविद्या यथा तथा श्रीविद्यापुष्ट्यादयः स्वांशोद्धारसाधनीभूताः हि अनुग्राहिकाः शक्तयः. तासु मुक्तिदायिनी अनुग्राहिका शक्तिः यदा सदंशसमुद्भूतां क्रियाशक्तिं खलु स्वावान्तरव्यापाररूपेण उपादत्ते तदा भगवतः सृष्टिलीलानुविधायिनी भूत्वा उद्धर्तव्ये जीवात्मनि तदन्तःवर्तितदंशत्वानुगुणामेव आंशिकीम् कर्मयोगाविर्भूतात्मरतिमेव सा आविष्करोति. न पूर्णाम् अंशिरूपिणीमिति तस्याः लीलार्थसृष्टस्वरूपानुरूपतैव. सैव स्वांशोद्धारसाधनीभूता विद्यारूपा अनुग्राहिका शक्तिः कदाचित् स्वचिदंशसमुद्भूतां ज्ञानशक्तिमपि क्वचित् स्वावान्तरव्यापाररूपेण अंगीकरोति. तदा **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''—''आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्'' ''** (तैत्ति.उप.२।१ — ३।६) इति वचनोक्तस्य ब्रह्मणः स्वस्वरूपस्थां ब्राह्मीम् आनन्दात्मिकाम् आत्मरतिं ज्ञानयोगेन प्रादुर्भावयति. एतया विद्यया शक्त्या ब्रह्मज्ञानी **''योऽहम् अस्मि ब्रह्माहम् अस्मि''** (महाना.उप.५।१०) इति श्रुत्युक्तरीत्या निजात्मानं तस्मिन् लीनं करोति, तदा ब्रह्मानन्दात्मरत्योः एकीभावेन विद्याशक्तिः जीवात्मनो ब्रह्मणि निमज्जिका भवति. अतः तद्ब्रह्मणो हि प्रियत्वमोदप्रमोदप्रचुरलीलानन्दानुगुणा भवति. आनन्दरूपस्य ब्रह्मणो लीलातु आनन्दमयी भवति. अन्यथा

तादृशो ब्रह्मणः तल्लीलाविषया प्रवृत्तिः न स्यात्. नच एतावता ब्रह्मानन्दे काचन न्यूनता उद्भावयितुं शक्या, अपरिच्छिन्नानन्दस्य तस्यैव स्वात्मरमणार्थैव लीलेति स्वेतरतः आनन्दप्राचुर्यस्य अनपेक्षणात्. अतोहि सा लीला प्रियत्वमोदप्रमोदप्रचुरेति तत्रहि तस्य उत्कृष्टा आत्मरतिः स्वीक्रियते. सेयम् आनन्दमयी आत्मरतिः आत्मसृष्टान्नमयादिचतुर्षु आभ्यन्तरतमतया अवस्थिता **''अन्योन्तर आत्मा आनन्दमयः... तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोदः उत्तरः पक्षः''** (तैत्ति.उप.२।५) इति श्रुतौ भृशं प्रशंसिता. अतो ज्ञानयोगेन ब्रह्मस्वरूपानन्दानुभवेऽपि ब्रह्मणोऽपि अभीष्टां हि मोदप्रमोदरूपाम् आत्मरतिं ज्ञानयोगेन अनुभवितुं मुक्तो जीवो न शक्नोति.

अथ माहात्म्यज्ञानेन स्वरूपानन्दात्मिकां हि आत्मरतिं समवगत्य तस्य लीलायां सुदृढसर्वतोधिकस्नेहवत्तया आनन्दमयीमपि आत्मरतिं प्रियत्वमोदप्रमोदप्रचुरां तां भक्तएव अनुभवति. तस्माद् हेतोः भक्तेरेव अयम् उत्कर्षो यद् ब्रह्मणः स्वरूपानन्दसमुच्चितां लीलानन्दात्मिकाम् आत्मरतिं ब्रह्मणः सेयम् अनुभावयति इति. भक्तोद्धारसाधनीभूतायाः अनुग्राहिकायाः शक्त्याः अवान्तरव्यापाररूपं दधाना आनन्दशक्तिः भक्तेषु उभयात्मिकाम् आत्मरतिं प्रादुर्भावयति. तद् उक्तं **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म. यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता''** (तैत्ति.उप.२।१) इति. एतस्य अर्थविस्तरस्तु आनन्दमयाधिकरणभाष्ये निरूपितएव. नच *तत्र हृदयगुहायां हि अक्षरब्रह्मवेत्तुरेव परब्रह्मणा सह सर्वकामाशनरूपो भोगः प्रतिपादितः. ब्रह्मणो गौणभावेन जीवात्मनः च आनन्दोपभोगे प्रधानभोक्तृभावपूर्वकभोगप्रतिपादनपरो सोऽयं प्रसंगः. नहि तत्र प्रियत्वमोदप्रमोदरूपात्मरतेः भक्तिरूपेण प्रादुर्भावः उपपादितइति अन्यथैव इह एतद् निरूपणं भाति* इति शंकनीयम्, तस्यैतस्य अक्षरब्रह्मणएव आनन्दरूपा श्रीशक्तिः इति सुबोधिन्यां प्रतिपादनोपलम्भाद् हि. तथाहि —

> **''यदा भगवान् स्वशक्तिरूपेण आविर्भूतः तदा शक्तीनां मध्ये श्रीः प्रथमा. सा शरीरएव बलवत् पूर्वं स्थिता. यदा भगवान् प्रभुत्वेन आविर्भूतः तदा सापि भोग्यत्वेन आविर्भूता भार्येव...**

(उपसंहारः)

[ङ] अतः कारिकोक्तं सर्वम् अवदातम् इति दिक्.

श्री म दा चा र्य कृ प या श्री पी ता म्ब र सु नु ना ।।
सुबोधिन्युक्तया रीत्या भक्त्युत्कर्षः समर्थितः ।।४।।

सापि सच्चिद्रूपा स्वार्थं तस्याः शरीरन्तु ब्रह्मानन्दरूपम्... साहि अक्षरस्य आनन्दरूपा... यदा भगवान् स्वभोगार्थं जगत् करोति तदा सर्वं लक्ष्मीरूपमेव करोति इति बोधितम्. अनेन अवतारेषु भोग्याः लक्ष्मीरूपाएवेति स्वरूपतो आवेशतो वा.''

(सुबो. २।९।१३-१४).

तदेतत् सर्वं हृदि अभिसन्धाय शंकासमाधानमुखेन आहुः **नच** इत्यादिना **आत्मकामानतिरेकात्** इत्यन्तं यावत्.

[ङ] तस्माद् ये अत्यन्तानुगृहीताः जीवाः ब्रह्मणा स्वात्मानन्दोपभोगार्थं सृष्टाः श्रीरिव तेह्येव तदावेशयुक्ताः ब्रह्मणः स्वरूपानन्द-लीलानन्दौ अनुभवितुम् अधिकारिणो भवन्ति. तेतु संसाराद् मुक्तावपि भगवद्भजनविरहिताः न भवन्ति. अतः एतादृशाः भजनानन्दाधिकारिणो हि भगवदवतारकाले भगवता सह भूतलेऽपि समागत्य भगवद्विमुखाः न भवन्ति इति सिद्धम्. तत्र श्रीस्तु मूर्तिमती ब्रह्मस्वरूपानन्दात्मिका आत्मरतिः. सैव रतिः व्यामोहकाविद्याशकत्युपष्टब्धा सती भगवत्स्वरूपबोधभावाभ्यां रहितानां भगवच्चिदंशानां परितोऽवस्थितेषु भगवत्संदशभूत-रूपरसगन्धादिमद्-भौतिकेषु ऐन्द्रियकविषयेषु अहन्ताममतात्मकं आविद्यकपञ्चपर्वरूपं संसारं तत्र समासक्तिरूपं जनयित्वा निबध्नाति. तयैव श्रिया प्रयुक्ता भगवतो अनुग्राहिका पञ्चपर्वात्मिका हि विद्याशक्तिः चिदंशेषु मोक्षौपयिकनिष्कामकर्मवैराग्यसांख्ययोगतपोयोगान् अवान्तर-व्यापरात्मना सम्पाद्य तान् संसाराद् मोचयति. येषु सा ब्रह्मज्ञानं जनयति तेतु ब्रह्मणः स्वरूपानन्दम् अनुभूय ब्राह्म्या हि आत्मरत्या सम्पन्नाः ब्रह्मणि लीयन्ते. तया श्रीशक्त्या प्रयुक्ता भगवत्पुष्ट्यपरपर्यायरूपा स्वांशोद्धारिका अनुग्राहिका शक्तिस्तु पुष्टिजीवेषु भगवत्स्वरूपासक्तिं जनयन्ती ब्रह्मणः स्वरूपानन्दात्मरतिसमुच्चितभजना-

इति श्रीपीताम्बर-तनुज-गोस्वामि-श्रीपुरुषोत्तम-विरचितो
भक्त्युत्कर्षवादो विंशः[पा.भे.३]
सम्पूर्णः

न्दात्मिकात्मरतिं निजावान्तरव्यापारतया भावयति. इति निष्कर्षसंक्षेपः.

तस्याश्चैतस्याः आत्मरतेरेव तरतमभावेन नैकविधोत्कर्षो भक्तेः चातुर्विध्यप्रतिपादनव्याजेन स्कन्दपुराणस्य द्वितीयखण्डस्य वैष्णवखण्डान्तर्गतोत्कलखण्डे दशमाध्याये प्रतिपादितः. तथाहि —

''सामान्यतो विशेषात् च विष्णोः भक्तिं सनातनीम्।
अतन्तसुखसम्प्राप्तौ विच्छेदे दुःखसन्ततेः॥
हेतुर् एको अयमेव इति संश्रयाद् भक्तिः उच्यते।
त्रिधा सा गुणभेदेन तुरीया निर्गुणा मता॥
कामक्रोधाभिभूतानां दृष्ट्वा या अन्यं न पश्यताम्।
लब्धये च अभिचाराय भक्तिः स्यात्, नृप!, [१]तामसी॥
यशसे च अतिरिक्ताय परस्य स्पर्धयापि वा।
प्रसंगात् परलोकाय भक्तिः सा [२]राजसी स्मृता॥
आमुष्मिकं स्थिरतरं दृष्ट्वा भावान् विनश्वरान्।
पश्यता आश्रमवर्णोक्तान् धर्मान नैव जिहासता॥
आत्मज्ञानाय या भक्तिः क्रियते सातु [३]सात्त्विकी।
जगच्च इदं जगन्नाथो नान्यं चापि च कारणम्॥
अहञ्च न ततो भिन्नो मत्तो असौ न पृथक् स्थितः।
हीनं बहिरुपाधीनां प्रेमोत्कर्षेण भावनम्॥
दुर्लभा [४]भक्तिः एषा हि............।
....
एकामपि समाश्रित्य क्रमाद् मुक्तिपथं व्रजेद्।
विष्णुभक्तिविहीनस्य श्रौतस्मार्ताः च याः क्रियाः।
प्रायश्चित्तादिकं तीर्थयात्राकृच्छ्रादिकं तपः॥
कुले प्रसूतिः शिल्पानि सर्वं लौकिकभूषणम्।
कायःक्लेशः फलं तेषां................॥
कुलाचारविहीनोऽपि दृढभक्तिः जितेन्द्रियः।

प्रशस्यः सर्वलोकानां....................॥
...................................।
नाल्पभाग्यस्य पुंसो हि विष्णौ भक्तिः प्रजायते॥
यां तु सम्पाद्य यत्नेन कृतकृत्यो न सीदति।
यया वेत्ति जगन्नाथं सा विद्या परिकीर्तिता॥
येन प्रीणाति भगवान् तत् कर्म अशुभनाशनम्।''

(८१-९६)

एवं भक्तेः परमोत्कर्षं प्रतिपाद्य कारिकयैव ग्रन्थोपसंहारं कुर्वन्ति **श्रीमदाचार्यकृपया** इत्यारभ्य **भक्त्युत्कर्षः समर्थितः** इति मञ्जुलम् अखिलम्.

यस्यात्मन्यात्मजातेष्विह बहुरतयः सम्भवन्त्यात्मरत्यां
प्रावाहिक्यां हि सृष्टौ विषयरतितया बन्धनैकस्वभावा।
मार्यादिक्यान्तु मुक्तौ रतिरिह च भवेच्छास्त्रनिर्दिष्टरीत्या
कर्मज्ञानाद्युपायेष्वपि भवति परा पुष्टिसृष्टौ तृतीया॥
लीलोपात्तस्वरूपात्मकगुणबहुले ब्रह्मणीत्थं परस्मिन्
श्रीकृष्णे सर्वभावात्मकरतिरिति या पुष्टिभक्तिस्वरूपा।
तस्मादाह श्रुतिर्यन्निखिलजगदिदं जातमानन्दतस्त-
त्रानन्दे च स्थितं यत्पुनरपि विलयं तत्र याति ध्रुवं वै॥
कृपयति यदि मयि राधा कापि न बाधावशिष्यते भक्तौ।
मूर्तिमती कृष्णरतिः स्वा ल म्ब न वि भा व म नु भा व य ति॥
त्रि ष ष्ट्यु त्त र द्वि स ह स्र मि ते वै क्र मे म या।
राधाष्टम्यां कृता पूर्णा भक्त्युत्कर्षप्रकाशिका॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्रीपुरुषोत्तमचरणकृपाधनेन श्याममनोहरेण
विरचिता 'भक्त्युत्कर्षप्रकाशिका'ख्या
विवृतिः सम्पूर्णा

पाठभेदतालिका

१.प्रमाणभावं च जह्युः इति निजहस्ताक्षरालेखितायां **ख** मातृकायां **मु** पाठे नास्ति. २.एतस्यैव आनन्दस्य... उपजीवन्ति इति श्रुत्या आन्यत्रिकानन्दस्यापि तदंशत्वात् तज्जनितानन्दस्यापि ब्रह्मजानितत्वाद् इति **मु ख** पाठयोः नास्ति. ३. **ख ग** पाठयोः विंशत्वस्य उल्लेखः.

।। अवतारवादावल्यां ।।

एकविंशतितमो

।। नामफलादिप्रकारवादः ।।

(मंगलाचरणेन विषयोपक्रमः)

यन्नामानि यथावज् ज्ञातान्येवार्पयन्ति मुख्यफलम्।।
नत्वन्यथा तमेव 'श्रीकृष्णं' गृणत सर्वदा भक्त्या।।१।।

(पूर्वपक्षः)

(भगवन्नाम्न्यतिशयो ज्ञानभक्तिकृतः कथम्?।।
स्वार्थोपस्थापने नाम्नः स्वतः सामर्थ्यसम्भवात्।।२।।)

*ननु नामयति उच्चारयितुः अग्रे स्वाभिधेयं वश्यतया स्थापयतीति 'नाम'पदस्य अर्थो निरुच्यते. इदमेव "**नामभिर् दामभिः सर्वं सितम्**" (ऐत.उप.२।१।६) इति श्रुत्या "**यथा गावो नसि प्रोताः तन्त्यां बद्धाश्च दामभिः वाक्तन्त्यां नामभिः बद्धाः हरन्ति बलिम् ईशितुः**" (भाग.पुरा.१।१३।-४१) इति स्मृत्या च निश्चीयते. एवं सति स्वशक्त्या स्वार्थोपस्थापकत्वं नामत्वम् इति सिद्ध्यति* इति चेत्,

शक्तिश्च नित्यस्य 'गवादि'शब्दस्य नित्येन गोत्वादिरूपेण अर्थेन सह वाच्यवाचकभावरूपः सम्बन्धः पदार्थान्तरम् इति **मीमांसकाः**.

तादृशेन व्यक्तिस्वरूपेण तत्प्रवाहेण वा सह तादृशः सम्बन्ध इति **वेदान्तिनः**.

संकेतापरनाम्नी "अस्मात् 'पदाद्' अयम् अर्थो बोद्धव्यः" इति आकारिका ईश्वरेच्छैव विषयता[पा.भे.१] सम्बन्धेन शब्दे वर्तमाना जातिविशिष्टार्थ-बोधिका इति **नैयायिकाः**.

इदञ्च स्वार्थोपस्थापनरूपं कार्यं वर्णात्मकत्वेन ज्ञातैः नामभिः गृहीतशक्तिके पुरुषे श्रवणमात्रेण स्वतएव क्रियते. यौगिकानितु 'पाचक'-'पाठके'त्यादीनि न नामानि, तेषाम् अवयवशक्त्या स्वार्थोपस्थापकत्वेन स्वशक्त्या तथात्वाभावात्. योगरूढैस्तु अवयवशक्तिं द्वारीकृत्य सहकृत्य वा स्वशक्त्यैव अर्थोपस्थापनं क्रियतइति तान्यपि नामानि.

एवं सति आकृतौ वा विशिष्टे वा प्रवाहे वा व्यक्तौ वा शक्तैः वर्णसमुदायात्मकत्वेन ज्ञातैः भगवन्नामभिरपि गृहीतशक्तिकेषु उच्चारयितृषु श्रोतृषु च स्वार्थप्रत्यायनेन स्वफलं सम्पादनीयमेव. अतएव सहस्रनामस्तोत्रादिषु **''वेदान्तगो ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रियो विजयी भवेत्''** (महाभा.५।१४९।१२३) इत्यादीनि फलानि उच्यन्ते. तत्तदर्थं तैस्तैः पठ्यमानानि स्तोत्राणि फलन्ति इति प्रत्यक्षतो अनुभूयते च. किंबहुना **''सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा 'वैकुण्ठ'नामग्रहणम् अशेषाघहरं विदुः''** (भाग.पुरा.६।२।१४) इति पुरुषान्तरे संकेतितानाम् अन्येषाञ्च नाम्नां फलवत्त्वम् उच्यते. तथा **''म्रियमाणोऽपि यन्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् अजामिलोऽपि अगाद् धाम किमुत श्रद्धया गृणन्''** (भाग.पुरा.६।२।४९) इति वाक्ये पुत्रोपचारितस्यापि 'नारायण'नाम्नो यमपाशनिवर्तकत्वम् अजामिलोपाख्याने श्रूयते. विष्णुपुराणे यमगीतासु नारसिंहे च तथा उच्यतइति यथाकथञ्चित् नामग्रहणस्यापि फलवत्त्वात् किं यथावज्ज्ञानेन? अथ **''विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत्''** (भाग.पुरा.१०।२४।६) **''अज्ञश्च अश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति''** (भग.गीता.४।४०) इत्यादिवाक्येषु अज्ञनिन्दया ज्ञानस्यापि नामोच्चारणाद्यंगत्वम् इति विभाव्यते. तदापि भगवत्त्वेन अर्थस्वरूपेण वर्णात्मकत्वेन पदस्वरूपेण कादाचित्क-गुण-क्रिया-प्रयुक्त-योगाख्यावयव-शक्तिं द्वारीकृत्य सहकृत्य वा समुदायशक्त्या तत्तज्जातिविशिष्ट-रूपोपस्थापनरूपेण तादृशरूपप्रवाहोपस्थापनरूपेण तादृशव्यक्त्युपस्थापनरूपेण वा कार्येण स्वार्थोपस्थापकत्वरूपे नामस्वरूपे च शास्त्रप्रनाड्या ज्ञाते किन्नाम अवशिष्टं नाम्नां यथावज्ज्ञाने, येन इतरनिषेधपूर्वकं भक्त्या यथावज्ज्ञानं भगवन्नाम्नाम्, अत्र, मुख्यफलसाधकत्वेन प्रतिपाद्यते* इति चेद्,

(उत्तरपक्षः)

अत्र ब्रूमः—

भक्त्यैव तत्त्वतो ज्ञेयो हरिर् 'भक्त्ये...'ति वाक्यतः।।
नामापि तादृग् गर्गोक्तेः तथा ज्ञाने हि तत्फलम्।।३।।

तथाहि "**भक्त्या माम् अभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**" (भग.गीता.१८।५५) इति गीतायां भगवता भक्त्या स्वाभिज्ञानम् उक्तम्. एकादशस्कन्धे च "**यावान् यश्चास्मि यादृशः**" (भाग.पुरा.११।११।३३) इति. अभिज्ञानञ्च शब्दतो अर्थतः च इति उभयतो ज्ञेयम्.[पा.भे.२] तत्रापि 'यावान्'इत्यादिपदद्वयेन[पा.भे.३] परिमाणस्वरूपप्रकाराः उक्ताः.[पा.भे.४] एकादशेच 'यादृश'इत्यनेन प्रकारः उक्तः. एवं सति यावत्परिमाणो यत्स्वरूपको यत्प्रकारको अहं तावत्परिमाणं तत्स्वरूपं तत्प्रकारकं मां शब्दम् अर्थं च द्वारीकृत्य भक्त्या जानाति. ततो भक्त्या शब्दार्थाभ्यां मां तत्त्वतो अनारोपितानागन्तुकरूपेण ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते. यथाधिकारं लीलायां स्वरूपे वा प्रविशति. नित्यलीलान्तःपाती भवति, सायुज्यं वा प्राप्नोति इति अर्थः सम्पद्यते. तथा गर्गाचार्येणापि "**बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते गुणकर्मानुरूपाणि तानि अहं वेद नो जनाः**" (भाग.पुरा.१०।८।१५) इत्यनेन भगवतो बहूनां सतामेव रूपाणां नाम्नां च साधारणजनवेदनाविषयत्व-स्ववेदनविषयत्वयोः कथनात् तेषां बहूनां सत्त्वं स्वसदृशवेदनविषयत्वं च स्फुटीकृतम्. तत्सदृशाश्च भक्त्या शब्दार्थविचारपूर्वकं स्वरूपज्ञातारएव प्रकरणवशाद् अवगन्तव्याः.

तत्र विचाराकारस्तु एवं बोद्धव्यः :

(शब्दतो भगवतो यथार्थज्ञानम्)

तथाहि : भगवन्नाम्ना न आकृतौ विशिष्टे प्रवाहे वा सम्बन्धः आकाशवद् रूपाणामेव नित्यत्वाद्, "**यद् एकम् अव्यक्तम् अनन्तरूपम्**"

(महाना.उप. १।५) इति श्रुत्या तथैव सिद्धत्वाद्, ब्रह्मणः शब्दैकसमधिगम्यत्वात्. आनन्त्यञ्च अत्र देशकालादिपरिच्छेदरहितत्वमेव नतु लोकवत् प्रवाहरूपत्वेन संख्याशून्यत्वमात्रम्, अनुक्तसिद्धत्वेन अनुवादप्रसंगात्, **"सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म"** (तैत्ति.उप. २।१) इति 'अनन्त'श्रुतिविरोधापत्तेः च. नृसिंहहंसादिषु स्वेच्छामात्रेणैव प्राकट्याद् जीवादृष्टजन्यत्वाभावेन सदा एकरूपत्वात् कालपरिच्छेद्यत्वरूप-वैशिष्ट्याभावेन तत्प्रवाहस्य अशक्यवचनत्वात् च. नच * तत्तत्क्षणवैशिष्ट्यस्य प्रतीयमानत्वात् कथं तदभावः * इति शंक्यं, तत्कृतविशेषाभावे वैशिष्ट्यमात्रस्य अपरिच्छेदकत्वात्. अन्यथा आकाशादिष्वपि तदापत्तेः. तथा **"सर्वे निमेषाः जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि"** (महाना.उप. १।८) **"योऽयं कालः तस्य ते अव्यक्तबन्धोः चेष्टाम् आहुः चेष्टते येन विश्वम्"** (भाग.पुरा. १०।३।२६) **"'काल'संज्ञां तदा दैवीं बिभ्रत् शक्तिम् उरुक्रमः"** (.   ।   ) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः कालस्य भगवत्परिच्छेद्यत्वेन न भगवद्रूपेषु तत्परिच्छेद्यत्वम्.

नच * बाल्य-पौगण्ड-कैशोरादि-हेतुक-परिमाणभेद-दर्शनात् तत्परिच्छेद्यत्वं * शंक्यं, तादृशदर्शनस्य भगवदिच्छाहेतुकत्वेन वयोहेतुकत्वाभावात्. नच अत्र मानाभावो, मृत्स्नाभक्षणजृम्भादिलीलासु वयःपरिच्छेदकस्य ज्योतिश्चक्रादेः स्वान्तःप्रदर्शनस्यैव मानत्वात्. नच * इदं मायया प्रदर्शितम् * इति वाच्यं, **"किं स्वप्न एतद् उत देवमाया, किंवा मदीयो बत बुद्धिमोहो, अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चन औत्पत्तिकः आत्मयोगो, अथो यथावद् न वितर्कगोचरं चेतोमनःप्राणवचोभिः अञ्जसा यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम्"** (भाग.पुरा. १०।८।४०-४१) इति पक्षान्तरनिरासपूर्वकं भगवतः सकाशादेव प्रतीतिकथनस्य विरोधापत्तेः. अतो भगवद्रूपेषु कालपरिच्छेद्यत्वाभावात् न तेषु प्रवाहः इति. **"समो मशकेन समो नागेन समः प्लुषिणा समः एतैः त्रिभिः लोकैः"** (बृह.उप. १।३।२२) इत्यादिषु हेत्वन्तरमन्तरेणैव ब्रह्मणो नानापरिमाणवत्त्वम् एकस्य श्राव्यते. तेनापि तावत्तावद्रूपः इति सिद्ध्यति.

एवञ्च भक्त्यैव स्फुरति **''यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ तस्य एते कथिता हि अर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः''** (श्वेता.उप.६।२३) इति श्रुतेः, पूर्वोक्तगीतावाक्यात् च एवं शब्दतः.

(अर्थतो भगवतो यथार्थज्ञानम्)

अथ अर्थतो विचारो : भगवता स्वल्पेनापि रूपेण, पूतनामारण-शकटभंगादिरूप-क्रियाकरणात् तादृशसामर्थ्यं सर्वदा भगवति यद्यपि वर्तते तथापि तत्तत्कार्यं तावता-तावता रूपेण यत् क्रियते तेन ज्ञायते भगवतः तत्तद्रूपं तावत्तावत्परिमाणकम् इति. नच *तदानीन्तन-भक्तानुरञ्जनाय तावत्परिमाणप्रदर्शनम्* इति युक्तं, तथा सति अन्यदा अन्येषु तावद्रूपं न प्रदर्शयेत् सर्वेषाम् एकरूपभावाभावात्.

किञ्च दर्शनं हि प्रसीदन् ददाति प्रसादश्च यथावद् भावनेनैव नतु अन्यथा **''यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा''** (महाभा.२५५।४) इति दोषश्रवणात्. तस्मात् प्रमेयं[पा.भे.५] रूपमेव तादृशम् इति मन्तव्यम्. इति अर्थतो यावत्त्वाभिज्ञानम्.

(स्वरूपतो भगवतो यथार्थज्ञानम्)

एवं स्वरूपस्यापि **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.२।१।१) **'''कृषिर्' भूवाचकः शब्दो 'ण'श्च निर्वृतिवाचकः तयोः ऐक्यं परं ब्रह्म 'कृष्ण' इति अभिधीयते''** (गो.पू.ता.उप.१।१) इति श्रुत्या तदुपबृंहणभूतैः **''कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्''** (भाग.पुरा.१।३।२८) इत्यादिवाक्यैः प्रसन्नस्य दर्शनेन च सच्चिदानन्दात्मकत्वेन **''परा अस्य शक्तिः''** (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिभिः स्वरूप-साधन-विरुद्ध-लीलाभिः च सर्वसामर्थ्यसंयुतत्वेन च यावत्त्वाभिज्ञानम्.[पा.भे.६]

(प्रकारतो भगवतो यथार्थज्ञानम्)

एवं प्रकाराणामपि तापनीयादिश्रुतिभिः पूर्वोक्ताभिः अन्याभिः तत्तल्लीलानिरूपकैः पुराणवाक्यैः तत्तल्लीलाविशिष्टरूपदर्शनेन च यादृशत्वाभिज्ञा-

नम्.

(भगवतइव तद्रूपगुणकर्मनाम्नां नित्यत्वम्)

एवं स्वरूपपरिमाणप्रकारेषु भक्त्या विचारेण ज्ञातेषु योगरूढभगवन्नाम्नां सम्बन्धोऽपि नित्यगुणक्रियाविशिष्टेषु नित्येषु तेषु-तेषु रूपेषु विचारितो भवति. गुणक्रिययोः कादाचित्कत्वेतु तत्सम्बन्धेन प्राप्तं नाम अन्यदा सम्बन्धरहितत्वाद् अवाचकमेव भवेत्. योगेन वाचकं सत् 'पाचक'-'पाठका'दिवत् नामत्वादेव हीयेत **"छत्रि..."**न्याय[१] तौल्येन औपचारिकत्वं च आपद्येत सहस्रनामादिषु प्रवेशं च न लभेत. एवं रूपाणामपि कालपरिणामेन प्रतिक्षणम् अन्यभावे अन्यस्मिन् सम्बद्धः सन् 'घट'शब्दः 'पटम्'इव कालपरिणतं रूपान्तरं न वदेत्. तथा सति अन्यदा सम्बन्धरहितत्वाद् अनर्थकमेव भवेत्, पूर्ववद् औपचारिकं वा स्यात्. तथा सति सहस्रनामादिप्रवेशोऽपि न स्यात्. अतः नामकार्यविचारेऽपि प्रकाराणां प्रकारिणां च नित्यत्वमेव.

(भगवतो नामरूपयोस्तु आश्रयाश्रयिभावसम्बन्धोऽपि)

किञ्च एतयोः नामरूपयोः न वाच्यवाचकभावएव सम्बन्धः किन्तु आश्रयाश्रयिभावोऽपि. **"अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य दृष्टलिंगत्वमेव च"** (भाग.पुरा.३।२६।३३) इति तृतीयस्कन्धे अर्थाश्रयत्वस्य शब्दलक्षणत्वेन उक्तत्वाद्. द्वादशस्कन्धे च **"ततो अभूत् त्रिवृद् ॐकारः"** (भाग.पुरा.१२।६।३९) इति ॐकारं प्रकृत्य **"यत्तद् लिंगं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः"** (भाग.पुरा.१२।६।३९) इति ॐकारस्य भगवल्लिंगशरीरत्वेन उक्ततया तद्विकृतीनां वर्णपदादीनामपि वाच्यस्वरूपाधारतया औचित्यात् च. अतो लौकिके बाधाद् वैदिकस्य आधिदैविकस्यैव अर्थस्य वेदादिशब्देष्वेव च तथात्वम्. अतएव नाम्नामपि नित्यत्वम्.

(भगवन्नामघटकानां वर्णानाम् अनित्यतायाः निरासः)

नच *नाम्नां वर्णात्मकत्वेन तेषाञ्च उत्पत्तिनाशप्रतीत्या नश्वरत्वेन

१."छत्रिणो यान्ति" इति उक्ते राज्ञा सह गच्छतां छत्रिणाम् अछत्रिणामपि गमनं सूच्यते तद्वत् (भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री.६७०).

कथं नित्यत्वम् * इति शंक्यं, तद्वर्णप्रत्यभिज्ञया उत्पत्त्यादिप्रतीतेः वर्णाभिव्यञ्जक-वायुविषयत्वेन तदंशे भ्रमत्वात्. नच * प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वेन तत्तांशएव भ्रमत्वं * शंक्यं, त्रिक्षणावस्थायित्वे वीचीतरंगवद् उत्पद्यमानस्य अन्यान्यतया ज्ञातसम्बन्धपुरुषोच्चारितस्य अर्थवतः शब्दस्य नष्टतया, अनर्थकात् तत्सन्तानात् शक्तिग्रहशाब्दबोधयोः अनुदयप्रसंगात्. नच * सादृश्यात् तदुदयः * इति शंक्यम्, आशुतरविनाशित्वेन सादृश्यग्रहस्यैव दौर्लभ्यात्. अतः शक्तिग्रहादिरूपकार्यानुरोधेन प्रत्यभिज्ञायाः तन्मात्रविषयत्वं जैमिनीयोक्तरीत्या निश्चेयम्.

(तथैव भगवन्नामात्मकानां पदानामपि अनित्यतायाः निरासः)

तथैव पदविषयिण्या [१] अपि; अतः तेषामपि नित्यत्वम्. नच * पदानां 'घो'त्तर'ट'त्वादिरूपेण प्रतीतेः पुरुषबुद्ध्यादिजन्यानुपूर्वीकतया न नित्यत्वम् * इति शंक्यं, सिद्धे नित्यत्वे 'घ'ज्ञानोत्तर'ट'ज्ञानविषयत्वादिरूपतया तदबाधात्. नच * तथापि 'गोवर्धनधरण'-'गोवर्द्धनोद्धरणधीर'-'गोवर्द्धनधारी'त्यादि-पदानुपूर्वीविशेष-विशिष्टोच्चारणस्य पुरुषेच्छाधीनतया उच्चारणविषयाणाम् अनित्यत्वं शंक्यं, यथासम्भवं क्रमन्यूनातिरिक्तत्वैः तत्र पदानां भिन्नानामेव इच्छया उच्चारणविषयत्वात्. * ननु प्रकृतिप्रत्यय-विभागानुशासनाद् अनित्यत्वमेव * इति चेत् न, तस्य व्युत्पत्तिमात्रार्थत्वात्. व्याकरणे अव्युत्पत्तिपक्षस्यैव सिद्धान्तत्वेन अंगीकारात्. अतः तेषामपि नित्यत्वम् अप्रतिक्षेप्यमेव. ततश्च पदानामपि अखण्डत्वं, तेषां केवलवर्णसदृशावयवत्वेन वर्णघटितत्वाभावात्. तादृशावयवविशिष्टानामेव नित्यत्वात्. अतः **"सएष जीवो विवरप्रसूतिः"** (भाग.पुरा.११।१२।१७) इति एकादशस्कन्धोक्तरीत्या शब्दब्रह्मात्मकत्वमेव.

(निर्गलितार्थः)

एवं सति भक्त्या विचारपूर्वकं नाम्नां तदर्थस्य प्रकारादेः च स्वरूपं ज्ञात्वा यदा उच्चारणं क्रियते तदा तानि तादृशम् अर्थं बोधयन्ति फलं ददति. अन्यथातु तानि निरर्थकानि अर्थम् अप्रत्यापयन्ति फलदातुः भगवतः

१.पदविषयिण्याअपि प्रत्यभिज्ञायाः, अतः तेषामपि पदानां नित्यत्वम् इति अर्थः (गो.श्या.म.).

सम्बन्धराहित्यात् न फलन्ति. ''**फलम् अतः उपपत्तेः**'' (ब्रह्म. सूत्र.३।२।३८) इति न्यायेन फलस्य भगवदेकसाध्यत्वात्.

(लौकिकपुरुषसंवलितानां भगवन्नामत्वाभावः)

लौकिकपुरुषे संकेतितानितु भगवन्नामान्येव न भवन्ति, अर्थभेदेन पदभेदस्य वाक्याधिकरणे सिद्धत्वात्, तेषां 'डित्थ'-'कपित्था'दिवत् पुरुषबुद्धिकल्पितत्वात् च; किन्तु, तत्सदृशं पदान्तरम्. अतः 'घटा'दिपदवत् तस्य पदान्तरत्वाद् दूरापास्ता ततः फलसिद्धिः.

नच *वर्णानुपूर्वीभेदाभावात् पदैक्यम्* इति शंक्यं, सिद्धे स्वरूपभेदे आनुपूर्व्यभेदस्य अप्रयोजकत्वात्. अतः तत्र प्रत्यभिज्ञायाः सजातीयविषयत्वमेव, तत्तद्-वर्णज्ञानोत्तर-तत्तद्-वर्णज्ञान-विषयत्व-रूप-साधर्म्यस्य तत्रापि सत्त्वात्. *ननु यथा पितामहनाम सिद्धमेव पौत्रे ध्रियते तथा भगवन्नाम लौकिके पुरुषइति अखण्डस्य पदस्यैव तत्र संकेतित्वेन 'डित्था'दिवत् कल्पितत्वाभावात् कथं पदभेदः?* इति चेत् न, लौकिकालौकिकभेदाद् इति वदामः. नच अत्र मानाभावः, एकादशे ''**सएष जीवः**'' (भाग.पुरा. ११।१२।१७) इत्यत्र नादस्यैव मात्रादिरूपत्वम् उक्त्वा तादृशवैखरीरूपस्य वेदस्य ''**मे व्यक्तिरियं हि वाणी**'' (भाग.पुरा.११।१२।१८) इतिं स्वव्यक्तिरूपत्वम् उपदिश्य ''**एवं गदिः**'' (भाग.पुरा.११।१२।१९) इत्यनेन लौकिकवाण्यां स्वव्यक्तित्वस्य भगवता अतिदिष्टतया तयोः भेदस्य बोधनात्. नहि उपदेशातिदेशयोः उद्देश्यैक्यं, प्रकृतिविकृतिभावस्य जागरूकत्वात्. नच *लोकवेदाधिकरणे लौकिकवैदिक-पदवर्णयोः भेदानंगीकारात् न इदं साम्प्रतम्* इति वाच्यं, जैमिनिना आकृत्यधिकरणस्यैव प्रणीतत्वेन तदनुक्तस्य वर्णकान्तररूपस्य लोकवेदाधिकरणस्य वार्तिककारकल्पितत्वेन अप्रामाणिकत्वात्. नच *भगवन्नाम्नां वेदोक्तत्वाभावेन लौकिकत्वं* शंक्यं, पुराणसिद्धत्वात्. ''**इतिहासपुराणं वेदानां पञ्चमं वेदम्**'' (छान्दो.उप.७।१।२) इति श्रुत्या तस्यापि वेदत्वात्. अतो भगवन्नामानि शब्दब्रह्मरूपाणि, लोके संकेतितानितु तद्भिन्नानि इति निश्चेयम्.

(बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नतौल्येऽपि लौकिकालौकिकनामोच्चारणयोः भेदनियामकस्य निरूपणम्)

ननु अस्तु भेदः तथापि उच्चारणप्रयत्नतौल्यात् कथं लौकिके वाच्ये लौकिकमेव मुखतो निर्गच्छति अलौकिके च अलौकिकम् इति विभागः इति चेत्, शब्दस्य पश्यन्त्यवस्थायां तत्प्रयोजकबुद्धिभेदाद् इति ब्रूमः. तत्तदनुसन्धानेन तथा उच्चारणाद् इति. नच *एवं सति **''सांकेत्यादि''** (भाग.पुरा.६।२।१४) वाक्यवैयर्थ्यम्* इति शंक्यम्, ईदृशं भगवन्नाम यत्सरूपं[पा.भे.७] शब्दान्तरमपि तद्वक्तॄणाम् अघं हरतीति नाममाहात्म्यबोधनार्थत्वेन अप्रवर्तमानप्रवर्तनार्थत्वेन च तदभावात्.[१] अतएव पुत्रे संकेतितस्यापि 'नारायण'नाम्नः उपचारितत्वम् उक्तम्. अन्यथा संकेतितस्य वाचकत्वेन तद्वाच्ये बाले षड्विधस्यापि सादृश्यस्य अभावेन उपचारितम् इति न वदेत्. एवन्तु **''पुत्रेण नामसारूप्यरूपः उपचारः सञ्जातः अस्य नाम्नः इति पुत्रोपचारितम्''** इति संगच्छते. नच *जीवात्मन्यपि चेतनत्वादिरूप-ब्रह्मसारूप्यस्य साजात्यस्य वा विद्यमानत्वात् ततएव नाम्नः उपचारितत्वं* शंक्यं, तथा सति संकेतितानां भगवन्नाम्नाम् अवाचकत्वापत्त्या **'सांकेत्य'**पदविरोधापत्तेः. अतः उभयसामञ्जस्यार्थम् एवमेव स्वीकार्यम् इति निश्चयः. अतोऽपि लौकिकालौकिकयोः नाम्नोः भेदएव सिद्धइति तथा उच्चारणे अजामिलस्यापि न तदानीमेव मुक्तिः इत्यपि युज्यते.

(भगवन्नामस्वरूपयोः यथावज्ज्ञानाभावेऽपि सहस्रनामादिपाठफलश्रुति-व्याख्या)

ननु अस्तु एवं तथापि सर्वेषाम् एवम्प्रकारेण भगवत्स्वरूप-नामस्वरूपयोः ज्ञानाभावेऽपि यत्सहस्रनामादिपाठफलम् अनुभूयते तत् कथम् इति चेद्, उच्यते : नहि तत्पाठादिनापि तदानीमेव फलं यथा'गोविन्द!' इति पाञ्चाल्याः क्रोशनमात्रेण चीरपूरणं, यथाच गजेन्द्रस्य तदानीमेव उद्धारः, प्रह्लादस्य च क्लेशनिवृत्तिः किन्तु यथाकथञ्चित् कालान्तरे. अतः तत्रापि पुरुषज्ञानतारतम्यम्

१.वैयर्थ्याभावाद् इति अर्थः (गो.श्या.म.).

अवश्यम् अनुसन्धेयं दृष्टशास्त्रयोः अनुरोधात्.

(यथावज्ज्ञानतारतम्यात् फलतारतम्यव्यवस्था)

एवं सति यस्य उक्तरीत्या यथावद् ज्ञानं तस्य सकृद् उच्चारणेनैव फलम्, अर्थस्य शब्दाश्रितत्वेन तदानीमेव अनाविर्भूय आविर्भूय वा दानात्. यस्य ततः किञ्चिद् अंशेन न्यूनं, तस्य नाम्ना चित्तशुद्धिं सम्पाद्य किञ्चिद् विलम्बेन. यस्य ततोऽपि न्यूनं तस्य नामावर्तनेन आधिदैविकोद्बोधे ततोऽपि विलम्बेन. येषाञ्च न चित्तशुद्धिः तेषां फलाभावो दोषसम्बन्धानिवृत्तिः च.

नच *कालादिनैव सः* इति वाच्यं, ''**नैषां वयं नच वयं प्रभवाम दण्डे**'' (भाग.पुरा.६।३।२७) इति यमवाक्ये तेषां तत्र असामर्थ्यबोधनविरोधात्. अतो अज्ञानेनैव विलम्बादिः इति निश्चयः. एवं सति यथा निकटस्थः उपांशूच्चारणे श्रुत्वा आयाति, मध्यस्थः तारोच्चारणे, दूरवर्तीतु अतितारोच्चारणे असकृद् उच्चारणे च तद्वत्. यद्यपि भगवान् व्यापकः तथापि ''**हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम्**'' (भाग.पुरा. १०।८६।४७) ''**विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्**'' (भाग.पुरा.२।४।१४) इत्यादिवाक्यैः ''**न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकम् अन्तरं भवाति**'' (ऋक्संहि.१०।८२।७) इत्यादिश्रुत्या च अज्ञानेन व्यवधानाद् भगवतो दूरत्वमपि वर्ततइति यथा-यथा तन्निवृत्तिः तथा-तथा नैकट्यम् इति. तच्च अतिशयितं भक्त्यैवेति पूर्वोक्ते अर्थे न किञ्चिद् अनुपपन्नम्.

(अधिकारितारतम्यव्यवस्थाबोधनार्थं षष्ठस्कन्दीयावस्थाक्रमः)

अथ अधिकारि-तारतम्यादि-बोधनार्थं षष्ठस्कन्धसिद्धावस्था प्रदर्श्यते. तथाहि : तत्र आरम्भे राज्ञा लोकानां नरकगमनाभावाय उपाये पृष्टे श्रीशुकैः पूर्वं कर्मरूपं प्रायश्चित्तम् उक्तम्. ततो राज्ञा तस्य 'कुञ्जरशौच'न्यायेन[१]

१.''स्नातोऽपि गजः शुण्डया निजशीर्षपृष्ठोपरि धूलिं क्षिपति'' इति (भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री : ८९४).

वैयर्थ्ये बोधिते कर्मरूपप्रायश्चित्तस्य अविद्वदधिकारकत्वं बोधयित्वा, ततः उत्कृष्टं देहात्मभेदालोचनात्मकं विमर्शनं भगवद्भक्तिः च इति द्वयम् उक्तं, तत्र ''**नाश्नतः...**'' (भाग.पुरा.६।१।१२) इत्यादिश्लोकत्रयेण आद्यम्. ''**केचिद्...**'' (भाग.पुरा.६।१।१५) इत्यादिभिः पञ्चभिः द्वितीयम्. ततो द्वितीयदाढ्र्याय अजामिलोपाख्यानं शिवभक्तागस्त्योक्तम् उक्तवान्.

तत्र प्रथमे पथ्य-भोजन-दृष्टान्त-पूर्वकं ''**एवं नियमकृद् राजन्! शनैः क्षेमाय कल्पते**'' (भाग.पुरा.६।१।१२) इति कथनेन अग्रिमश्लोके तपःप्रभृतीनां तदंगानां च कथनेन तत्समग्रांगधर्मज्ञस्य श्रद्धालोः कर्तुः बहुकालेन नाशयति. तत्रापि ''**वेणुगुल्ममिव अनलः**'' (भाग.पुरा. ६।१।१४) इति अग्निदृष्टान्तेन सावशेषमेव नाशयति, वेणुगुल्मस्य दाहे मूलस्य भूमौ दर्शनाद् वह्निनिवृत्तौ पुनः प्ररोहदर्शनात् च.

द्वितीयेतु ''**अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः**'' (भाग.पुरा.६।१।१५) इति सूर्यदृष्टान्तेन निरवशेषनाशकत्वम्. ततः''**न तथा ह्यघवा, राजन्!, पूयेत तपआदिभिः यथा कृष्णार्पितप्राणः तत्पूरुषनिषेवया**'' (भाग.पुरा.६।१।१६) इति श्लोके 'कृष्णार्पितप्राणः' इति कर्तृविशेषणेन परमस्नेहात्मकं भक्तिस्वरूपम्. ततो अग्रे ''**प्रायश्चित्तानि चीर्णानि**'' (भाग.पुरा.६।१।१८) इत्यनेन भगवद्विमुखं न निष्पुनन्तीति भगवद्विमुखाएव च अविद्वांसः इति बोधयित्वा ''**सकृन् मनः कृष्णपदारविन्दयोः**'' (भाग.पुरा.६।१।१९) इत्यनेन सकृत् कृतायाः स्वल्पायाः केवलायाअपि भक्तेः निःशेषपापनाशकत्वं बोधयितुं यमाद्यदर्शनम् उक्त्वा तथात्वदाढर्चाय अजामिलेतिहासः उक्तः.

(अधिकारितारतम्यम्)

तेन श्रवणादिरूपभक्त्या सर्वात्मना पापनाशः कृष्णार्पितप्राणानामेव, तादृशां पापसम्भवस्तु स्वधर्मकरणस्य उत्कर्षभावनारूपाद् दोषात्. एवमेव ''**स्वपादमूलं भजतः**'' (भाग.पुरा.११।२।४२) इत्यत्रापि बोद्धव्यम्.

ये पुनः भक्तेः सहकारित्वं ज्ञात्वा कर्मणि वा ज्ञाने वा पापनाशनाय प्रयतन्ते तादृशां ताभ्यां सावशेषः पापक्षयः.

ये पुनः सहकारित्वमपि भक्तेः न मन्यन्ते तेषु केवलकर्मिणां प्रायश्चितं कुञ्जरशौचवद् अपार्थम्.

ये पुनः तादृशाः केवलज्ञानिनः ''येऽन्येऽरविन्दाक्ष...'' (भाग.पुरा.१०।२-।३२) इत्यादिषु उक्ताः तेषां केवलज्ञानेन सांगेन शनैः पापनाशेऽपि अपथ्याशनेन रोगस्येव किञ्चिद् अन्यथाकरणेन पापमूलस्य सतः पुनः प्ररोहः.

(भक्त्यैव उच्चारणे नाम्नां भगवन्नामत्वमाहात्म्यम् इति निष्कर्षः)

तेन भक्तानामेव नामोच्चारणेन श्रवणादिभिः च निश्शेषपापक्षयः. तत्रापि **''तत्पूरुषनिषेवया''** (भाग.पुरा.६।१।१६) इति द्वारस्य सहकारिणो वा कथनाद् येषाम् अजामिलादिसदृशां प्रतिबन्धकबाहुल्यं तेषां सत्संगरूपद्वारादिना निरवशेषपापनाशो नामोच्चारणादिना इति. तेन आधुनिकानां भक्तसंगे सति यथा-यथा विश्वासदाढर्च्यं तथा-तथा शीघ्रं नामफलं, नोचेद् विलम्बेन इति. येषाञ्च न विश्वासः तेषान्तु न इति. तेन सांकेत्यादिनापि नामग्रहणं प्रनाड्या दूरविप्रकर्षेण कथञ्चित् पापनाशकमिति, तद्वाक्यमपि एवम् उपसंहरणीयम् इतिहासबलात्. अतो न इह कोऽपि क्वापि विरोधः इति भगवन्नाम्नां नामत्वं भक्त्यैव प्रकटीभवति इति सिद्धम्.

इत्थं सुबोधिनीतो विद्वन्मण्डननिबन्धाभ्याम्।।
विदितो नामफलादेः प्रकार उक्तोऽधिकारी च।।४।।

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतान-श्रीपीताम्बरात्मज-
श्रीपुरुषोत्तमविरचितो नामफलादिप्रकारवादः
समाप्तः

पाठभेदतालिका

१.विषयिता इति **ख ग घ ङ** मातृकासु. २.ज्ञेयम् इति **मु ख. ग ङ ज** मातृकासु ज्ञानम् इति. ३.द्वयेन इति **ग ङ च. मु ख घ** मातृकासु त्रयेन इति. ४.परिमाणस्वरूपे इति **मु ख घ. ग ङ च** मातृकासु परिमाणस्वरूपप्रकाराः इति. ५.अमेयम् इति **मु** . ६. यत्त्वाभिमानम् इति **मु** . ७. स्वरूपम् इति **ग ङ च. मु ख घ** मातृकासु यत्सरूपे इति.

।। अवतारवादावल्यां ।।

द्वाविंशतितमो

।। 'जय-श्रीकृष्णो'च्चारणवादः ।।

श्रीवल्लभाचार्यशरणागताः तिलकमालिकाः ।।
दधानः श्रीकृष्णजयवदतः प्रणमाम्यहम् ।।१।।

(पूर्वपक्षः)
(सर्ववर्णेषु सर्वेषां समं यदभिवादनम् ।।
वर्णाश्रमसदाचारविगर्ह्यं नानुमन्यते ।।२।।
अन्येषु सम्प्रदायेषु वैष्णवेष्वपि केषुचित् ।।
नैतादृग्व्यवहाराद्धि नियमोऽयं वृथा मतः ।।३।।)

ननु कोऽयं 'जय श्रीकृष्णः!' इति व्यवहारः ? इति चेत्, श्रुणु!

(उत्तरपक्षः)
(भक्तानां व्यवहारोऽयं सिद्धो भागवतादपि ।।
भक्तैः सह सदा पाल्यो नहि देहाभिमानिभिः ।।४।।
श्रीकृष्णजयकाम्यातु स्वीयसम्माननं महत् ।।
येषामिहैव कोपश्चेत् नाभिवन्द्यास्तु ते परम् ।।५।।)

"शृण्वतः श्रद्धया नित्यं गृणन्तश्च स्वचेष्टितम् ।
कालेन नातिदीर्घेन भगवान् विशते हृदि ।।
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत् ।।"
(भाग.पुरा. २।७।५३).

इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् तादृशस्य हृदि विशेषेण भगवत्स्थितेः वैष्णवानां परस्परं 'जय श्रीकृष्णः!' इति वर्णोच्चनीचताम् उल्लंघ्यापि (पारस्परिको अभिवादनप्रत्यभिवादन)व्यवहारो न दोषाय.

''प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनम्
विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे।
प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा
गुहाशयायैव न देहमानिने।।''

(भाग.पुरा.४।३।२२)

इति चतुर्थस्कन्धे सतीं प्रति शिववाक्येन तथा निश्चयात्. यद्यपि आधुनिकानां न एवम्भावः, तथापि विद्वद्व्यवहारपरम्परा प्राप्तत्वेन इदानीमपि अदुष्टत्वात्. यतिषु 'ॐ नमो नारायणाय!' इत्यादिवत्. यश्च स्वयं वर्णाश्रमाद्यभिमानी एवंकरणे वैष्णवेषु कुप्यति, सतु वैष्णवैरपि स्वस्य तस्य च देहाभिमानिताम् आदाय नमनीयएव, नतु विरुद्धवाग्भिः कोपनीयः.

''न ब्रह्मणाद् मे दयितं रूपम् एतत् चतुर्भुजं सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्'' (भाग.पुरा.१०।८६।५४) इति श्रुतदेवं प्रति **''विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः घ्नन्तं बहुशपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशो यथाहं प्रणमे विप्रान् अनुकालं समाहितः तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक्''** (भाग.पुरा.१०।६५।४१-४२) इति नृगमोक्षणे यदून् प्रति च भगवद्वाक्यात्. विप्रश्च अभ्यस्तवेदो ज्ञेयो **''वेदाभ्यासाद् भवेद् विप्रः''** (. । ।   ) इति स्मरणात्. एवंरूपताभावेऽपि यत्र नमनादि तत्रापि **''दैव्यो वै वर्णो ब्राह्मणो असूर्यः शूद्रः इति''** (तैति.ब्राह्म.१।२।७) इति श्रुत्या तद् उचिततरम् उत्कर्षस्य तत्र सत्त्वात्. यत्र वर्णत्वस्यापि सन्देहः तत्र युगानुसारित्वादपि तथा. यदि तस्य भगवद्द्वेषित्वं तदातु न नमनीयः **''आसुरं पार्थम् मे शृणु''** (भग.गीता.१६।६) इति उपक्रम्य **''माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तो अभ्यसूयकाः''** (भग.गीता.१६।१८) इति

भगवद्वाक्येन तस्य आसुरत्वनिश्चयात्. एवं स्थितौ सत्यामपि यद् अन्यथाकरणं तद् भ्रान्तिकल्पितत्वाद् उपेक्ष्यम् इति दिक्.

(ललाटे तूर्ध्वपुण्ड्रं वै कण्ठे तुलसिमालिकाम्।।
मुखेतु 'जय श्रीकृष्ण! इत्येवं ह्यभिवादनम्'[१] ।।६।।
दधानो वैष्णवान् वन्दे श्रीमदाचार्यसंश्रितान्।।
बुद्धिप्राणवचोभिस्तु श्रीकृष्णैकपरान् सदा।।७।।)

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतान-श्रीपीताम्वरात्मज-श्रीपुरुषोत्तम-विरचितो द्वाविंशतितमो 'जय-श्रीकृष्णो'च्चारणवादः सम्पूर्णः

१.तद् उक्तं स्कान्दे "**स्फुटमधुरपदं हि कंसहन्तुः कलुषमुषं शुभनाम च आमनन्तो 'जय जय'परिघोषणां रटन्तः किमु विभवाः खलु वैष्णवाः प्रसिद्धाः**" (स्क.पु.२ वै.उत्क.खं.११।११३) इति, "'**जय कृष्ण! जय कृष्ण! जय कृष्ण!' इति यो वदेद्**" (स्क.पु.२ वै.उत्क.खं.३३।७१) इति च भगवतो जगन्नाथस्य यात्रासामयिकघोषनिरूपणे (गो.श्या.म.).

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

त्रयोविंशतितमः

।। स्ववृत्तिवादः ।।

।।श्रीकृष्णाय नमः।।
।।श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः।।

।। स्ववृत्तिवादप्रकाशिका ।।

वागर्थरूपौ राजेते ग्रन्थकृष्णौ हि यन्मुखे।।
वक्तारं तं विभुं वन्दे तद्वागर्थोपलब्धये।।१।।
स्ववृत्तिवादे पुरुषोत्तमैस्तु
प्रसक्त्यभावान्न पुरा विमृष्टाः।।
दोषास्तु वृत्तावभिभावयन्तो
बहून् प्रसक्तान् विमृशाम्यतोऽहम्।।२।।
विचित्रा भगवल्लीला श्रीमदाचार्यवंशजाः।।
अपि स्वधर्मं दुह्यन्ति हन्त कामार्थहेतवे।।३।।
अधिकारच्युतिस्तेषां मार्गदीक्षोपदेशयोः।।
वृत्तिदोषाद् वचोद्रोहाद् आचार्यत्वात् पतन्ति ते।।४।।

* ननु कावेतौ वृत्तिदोषवचोद्रोहौ यौ निजाचार्यवंशजानामपि स्वमार्गीयदीक्षोपदेशयोः आचार्यत्वाधिकारच्युतिकारकौ ?

किञ्च **''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्याद्''** (त.दी.नि.२।२२८) इत्यस्याः कारिकायाः अवतरणिकाव्याख्याने **''कलेः बलिष्ठत्वेन अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावम् आलोच्य स्वस्मिन्नेव एतन्मार्गीयगुरुत्वं नियच्छन्तः आहुः''** (त.दी.नि.आव.२।२२८) इति पुरुषोत्तमैः उक्तत्वेन अग्रिमेषु गुरुत्वस्यैव अभावाद् अप्रसक्ता खलु इयं मार्गदीक्षोपदेशयोः आचार्यवंशजानाम्

अधिकारच्युतिः. अधिकारेहि सति च्युतिः सम्भाव्येत न पुनः असत्यपि तस्मिन्. सतिच एवं मार्गदीक्षा, सिद्धान्तोपदेशः, शिष्येभ्यो भगवद्विग्रहप्रदानपूर्विका भगवत्सेवाज्ञा, स्वमार्गानुयायिजनोपढौकितस्य द्रव्यादेः ग्रहणं, तस्मै स्वोच्छिष्टप्रदानं, स्वगात्रोत्सादनानुज्ञा, स्वपादप्रक्षालनानुज्ञादिरूपः सर्वोऽपि व्यवहारो गुरुपदानुरूपो यो दृश्यते सतु "**बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवद् मानम् अर्हति**" (मनुस्मृ.२।२०८) इति न्यायम् अनुसरति. तस्मात् मूलाचार्यत्वेन श्रीमन्महाप्रभावेव गुरुत्वं तदितरत्र तद्वंशजेषुतु गुरुद्वारत्वमेव परम्परातः प्रामाणिकं मतम्. ततश्च न तद्वंशजानां स्वकृताकृतैः पुष्टिमार्गे दीक्षोपदेशप्रदानाधिकारस्य च्युतिः, नापि सम्प्रदायोच्छित्तिभीतिः वा. यत्तु गुरुपदोचितसन्माननं तदनुरूपकर्तव्यनिर्वाहः च तद् गुरुपुत्रत्वेन गुरुद्वारभूतत्वेनैव वा. कस्यचित्तु पुनः कलिकालकवलिततया निषिद्धकर्मरतावपि गुरुत्वाधिकारराहित्येनैव अप्रसक्तत्वात् न तदधिकारक्षतिः इति असमञ्जसमिव आभाति * इति चेद्—

अत्र ब्रूमो : वृत्तिदोषात्तु तावत् स्वमार्गीयदीक्षोपदेशयोः गुरुत्वाधिकारनिवृत्त्यापादकानि नैकवचनानि श्रूयन्ते. तथाहि—

"**चितिं च चितिकाष्ठं च यूपं चण्डालमेव च।**
स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलम् आविशेद्॥"
(बृह.नार.पुरा.१।२६।३१).
देवार्चनपरो यस्तु वित्तार्थी वत्सरत्रयम्।
सवै 'देवलको' नाम हव्यकव्येषु गर्हितः॥"
(द्रव्यशुद्धौ स्ना.यो.नि.विचा.).

इत्यत्र श्रीपुरुषोत्तमैः उदाहृतेषु शास्त्रवचनेषु. ग्रन्थारम्भेऽपि यत् च्यवनवचनम् उदाहृतम् तत्रापि एवं श्रूयते "**श्वानं श्वपाकं प्रेतधूमं देवद्रव्योपजीवनम्**" इत्यारभ्य "**महापातकिनं शवं स्पृष्ट्वा सचैलम् अम्भो अवगाह्य उतीर्य अग्निम् उपस्पृश्य गायत्र्यष्टशतं जपेद् घृतं प्राश्य स्नात्वा त्रिः आचामेद्**" (तत्रैव) इति.

इह श्वानादि-शवान्तेषु मध्ये देवद्रव्योपजीविनः परिगणनात् तस्यापि

तत्स्पर्शसमाशुद्धिजनकत्वं तावत् स्पष्टम्.

ततश्च सर्वविधशुद्धिसापेक्षासु दीक्षादानादिक्रियासु अस्पृश्यतमानां देवद्रव्योप-जीविनां सर्वथा ह्यनधिकारः फलति. सिद्ध्यतिच तस्माद् अशुचिवृत्तिदोषेण निजाचार्यवंशजानामपि स्वमार्गीयदीक्षादानादिकर्मसु अधिकारपराहतिः.

आचार्यवचोद्रोहस्तु अधोनिर्दिष्टासु स्वाचार्योक्तिषु वृत्त्यर्थं भगवतो वा भगवन्नामात्मकभागवतस्य वा उपयोगनिन्दया करतलामलकवत् स्पष्टएव.

तथाहि—

"यदा बहिर्मुखा यूयं भविष्यथ कथञ्चन।
तदा कालप्रवाहस्था देहचित्तादयोऽपि उत॥
सर्वथा भक्षयिष्यन्ति युष्मान् इति मतिः मम।
न लौकिकः प्रभुः कृष्णो मनुते नैव लौकिकम्॥"

(शि.श्लो.१-२).

"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता॥
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति वै सदा।
भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टैः स्वकर्मभिः।
अन्यथाभावम् आपन्नस् तस्मात् स्थानाच्च नश्यति॥"

(सिद्धा.मुक्ता.१-२,१६,२०)

"वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं ('तनुवित्तजा' इति) समस्तं पदम्" (सि.मु.वि.२).

"तत् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्त्वा कार्यते तदा सा चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती तत्प्रवणत्वं न करोति. यदिच वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते, ऋत्विजो यागवत्, स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति. नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति

शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' (सि.मु.वि.प्र.२).

''स्वर्णपात्रं देवद्रव्यम् आसीत्. योहि मदीयः सन् देवद्रव्योपभोगं करिष्यति स पतितो भवेत् न 'मदीय'पदाभिधानार्हो अवतिष्ठेत्'' (आचार्यगृहीयाः वार्ताः.३).

''जीवने प्रकारम् आह 'सर्वथा वृत्तिहीनः चेद् एकं यामं हरौ नयेत् पठेत् च नियमं कृत्वा श्रीभागवतम् आदरात्. याममात्रं सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम् 'अचौराणाम् अपापानाम्' इति वचनात्'' (त.दी.नि.प्र.२।२३२).

''अयमर्थो 'देवासुरो मनुष्यो वा' (भाग.पुरा.७।७।५०) इति, 'सर्वे अधिकारिणोहि अत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप' (पद्मपु.स्व.ख.२-९।४१) इति वाक्याभ्यां 'किरातहूणान्ध्र...' (भाग.पुरा.२।४।१८) इति वाक्यात् च भगवद्भजनादौ सर्वेषाम् अधिकारेऽपि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दो.उप.७।२६।२) इति श्रुत्या आहारशुद्धये स्ववृत्त्या अन्नसम्पादनस्य आवश्यकतया वृत्तिरपि संकोच्या. 'प्रतिग्रहं मन्यमानस् तपस्तेजोयशोनुदम् अन्याभ्यामेव जीवेत' (भाग.पुरा.११-।१७।४१) इत्यादिषु तथा दर्शनात्. सप्तमस्कन्धे सर्वेषां वृत्तिं वदता नारदेन 'वृत्तिः संकरजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेद् अचौराणाम् अपापानाम् अन्त्यजान्तेऽवसायिनाम्' (भाग.पुरा.७।११।३०) इदं यथा तथा वृत्तिवादे व्युत्पादितम् अस्माभिः'' (त.दी.नि.प्र.आव.२।-२३२).

''तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाणः श्रवणादिः कर्ममार्गीयएव. तत्रापि अर्थाद्यर्थिभिः विहितत्वेन कृतः चेत् तदा स तथा — वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवद् लौकिकएव, शौचार्थिगंगास्पर्शवत् च. नहि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्मः उत्पद्यते. प्रत्युत निषिद्धाचरणात् पापमपि'' (भक्तिहं.).

"अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतम् आदरात् पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितं, वृत्त्यर्थं नैव युञ्जीत प्राणैः कण्ठगतैरपि, तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहम् आचरेद्" (त.दी.नि.२।२५३-२५४).

इह अन्तिमे वचने नामात्मकभगवद्रूपत्वेनैव श्रीमद्भागवतस्यापि वृत्त्यर्थं विनियोगः आपद्यपि निषिद्धः. तस्माद् भृशं पापीयसी इयं खलु वृत्तिः या देवद्रव्यावलम्बिनी!

*ननु भगवत्सेवौपयिक-सामग्रीसम्पादनार्थं शिष्येभ्योऽपि कृतस्य धनसंग्रहस्य सेवायां विनियोगेतु जाते भगवदुपभुक्तानाम् अन्नवस्त्रभवनाभूषणादीनां स्वोपभोगाय विनियोगो भागवतेऽपि प्रशस्तः "**त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः... दासाः तव मायां जयेमही**" (भाग.पुरा.११।६।४६) इति. अतएव श्रीमदाचार्यचरणैरपि उक्तवचने "**अथवा...**" इत्यादिना "**तथा निर्वाहम् आचरेद्**" इत्यन्तेन वचनेन भागवतस्यैव वृत्त्यर्थो विनियोगो विनिन्द्यते न पुनः पूर्वोक्तप्रकारस्य* इति चेद्, उभयोरपि भगवद्रूपत्वाविशेषतया "*एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थो असति बाधके अन्यत्रापि योजनीयएव*" इति न्यायेन न तावद् वैलक्षण्यम् इह किञ्चित् पश्यामः. विशेषतो अवधेयन्तु इदमेव यद्—भागवतस्य वृत्तिः न तावत् शास्त्रे कुत्रापि गर्हिता. तथाहि "**एवं दीनवचः प्रोच्य वक्तारं च अथ पूजयेत् सम्भूष्य वस्त्रभूषाभिः पूजान्ते...**" (पाद्मे भाग.माहा.६।३२) इति. सप्ताहान्ते हवनविधानेऽपि "**शक्तौ पलत्रयमितं स्वर्णसिंहं विधाय च तत्र अस्य पुस्तकं स्थाप्य... सम्पूज्य आवाहनाद्यैः तदुपचारैः सदक्षिणम्**" (तत्रैव ६।६५-६६) इत्यपि भागवतवृत्तिपोषकमेव वचनम् इदम्. तथा "**ब्राह्मणान् भोजयित्वा तु दक्षिणाभिः प्रतोषयेद् गुरवे वस्त्रभूषादि दत्त्वा गां च समर्पयेत्**" (स्का.पु.भा.मा.४।४५-४६) इत्यपि भागवतवृत्तिपोषकमेव शास्त्रवचनम्. सत्यपि एवं श्रीमदाचार्यचरणाः "**इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रयच्छति**" (त.दी.नि.३।१।२७) इति आलोच्य "**मन्नामविक्रयी विप्रो नहि मुक्तो भवेद् ध्रुवं मृत्युकाले च**

मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते'' (ब्र.वै.पुरा.८५।१९६-१९७) इति भगवद्वचनानुरोधमपि समवधार्य भागवतस्य वृत्त्यर्थं विनियोगं निषेधन्ति. तत्र भागवतस्य यन्नामात्मकरूपत्वेन विक्रयो भृशं निन्द्यो तस्यैव भगवतः साक्षाद् विग्रहस्य विक्रयः, आजीविकार्थं विनियोगः इति यावत्, कदाचिदपि प्रशंसनीयो भवेत् किमु? नेति नैवेति ब्रूमः! यत्तु ''किञ्च पुरुषोत्तमैः'' इत्यारभ्य ''असमञ्जसमिव आभाति'' इत्यन्तम् असामञ्जस्यापादनं तत्तु दुर्वारविकल्पविघ्नितमेव. तथाहि 'अग्रिमेषु गुरुलक्षणाभावः' इत्यत्र 'अग्रिम'पदस्य कः तावद् अर्थो अभ्युपगतः? किं श्रीमदाचार्यात्मजौ श्रीगोपीनाथ-श्रीविठ्ठलनाथचरणौ 'अग्रिम'पदार्थान्तर्भूतौ नवा? तत्र यदि अन्तर्भूतौ तदा तयोः न तदभिभवइव ''दम्भादिरहितत्वे सति श्रीभागवततत्त्वज्ञत्वे सति श्रीकृष्णसेवापरत्वम्'' इत्यस्य लक्षणस्यापि तयोः अभावः सम्प्रदायोच्छेदको अकामो गलेपतितो भवेत्. अथ अनन्तर्भावे तादृग्गुरुलक्षणविशिष्टयोः तयोः न यथा कलिबलाद् अभिभवः तथैव इतरेषामपि तद्वंशजानां तादृग्गुरुलक्षणविशिष्टत्वे सति कलिबलाद् अनभिभवो अंगीकर्तव्यएव. तद् उक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः **''पाषण्डमतस्वीकारम् अकृत्वा यथाशक्ति अग्निहोत्रादिकं कुर्वन् सदा कृष्णं भजन् भवति भगवदुक्तेनैव मार्गेण, ततो... कलिदोषाभिभूतो न भविष्यति इति अर्थः''**(त.दी.नि.प्र.२।२१५).

किञ्च अस्मिन् भगवन्मार्गे वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणे वा नरकपाताभावेऽपि हीनेषु (श्वानशूकरादियोनिषु) जन्म भवेद् इति निरूप्यते श्रीमदाचार्यचरणैः **''अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते''** इति. उपसंहृतञ्च तैरेव **''तस्माद् एतद्द्वयम् अकृत्वा भगवान् सेव्यः''** (त.दी.नि.प्र.२।२१६) इति. अत्र एतावान् परं विशेषो यत् कस्यचित् पापादेः आचरणेन जन्मान्तरएव तथाभावः सम्भवति, देवद्रव्योपजीवनेनतु जीवन्नेव जनो हीनो भवति श्वानशूकरोपमः इति.

तस्मात् पराकाष्ठा खलु अधर्मस्य याच एषा देवद्रव्यावलम्बिनी आजीविका, जीवतोऽपि पुरुषस्य शवोपमाशुद्धिजनिका, भृशं हेया सर्वैरपि श्रीमद्वल्लभमार्गानुगामिभिः. तस्माद् अग्रिमेषु पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादिषु सर्वेष्वपि तद्वंशजेषु इदमेव खलु

अशेषं माहात्म्यं यत् तेषु देवद्रव्योपजीवनदुर्वृत्तिः दुःस्वप्नेऽपि प्राचाम् आचार्याणां दृष्टचरी नासीद्. साच एषा दुर्वृत्तिपिशाची सम्प्रति प्रायः समस्तेष्वपि निजाचार्यवंशजगृहेषु देवं जिहीर्षया द्रव्यं दापयन्ती नग्नैव अटाट्यते नतु जिह्रेति!

ताम् अनुसरतां सिद्धान्तक्रव्यादोपमानां देवद्रव्यादानाम् अयं प्रवादो न पुनः शास्त्रसिद्धान्तम् अनुसरतां यत् ''कस्यचित् कलिकालकवलिततया निषिद्धकर्मरतावपि अप्रसक्तत्वादेव न अधिकारक्षतिः'' इति. गुणान्विते हि गुरुवंश्ये गुरुभावस्य प्रसक्तत्वेन गुणरहिते च तस्मिन् गुरुत्वनिषेधोऽपि प्रसक्ततयैव प्रतिषिद्धतां न अतिक्रामति इति अविवादम्.

यत्तु उक्तं ''गुरुत्वाभावेऽपि गुरुजनोचितसन्मानार्हत्वं 'गुरुवद् गुरुपुत्रेषु' इति न्यायम् अनुसरति'' इति. तद् यदि श्रीमदाचार्यचरणप्रभुचरणाएव अस्मिन् मार्गे गुरवः तदा प्रभुचरणसुतानामेव गुरुपुत्रत्वं न अन्यस्य कस्यापि. अस्यैवतु वचनस्य उतरार्धविमर्शे **'गुरुपौत्रेषु भ्रातृवद्''** (.स्मृ.   ।   ।   ) इत्यपि उपलम्भात् पौत्रेषु तु सर्वेषु समानएव व्यवहारो न्याय्यो यदा, तदा चतुर्दश-पञ्चदश-षोडश-सप्तदशसंख्या-क्रमजातेषुतु वंशजेषु सम्प्रति कश्च व्यवहारो न्याय्यः इति न वयं विद्मः.

स्यादेतद् * **''आचार्येतु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिम् आचरेद्''** (मनुस्मृ.२।२४७) इति गुरुसपिण्डेऽपि गुरुवद्वृत्तिविधानात् तद्वंशजे गुरुवद्वृतौ को दोषः! * इति, यदि सर्वेष्वपि गुरुपुत्रादिषु 'गुणान्विते' इति विशेषणं हेतुगर्भितं न स्यात्. गुणान्वितएव गुरुपुत्रादौ गुरुवन्मानार्हत्वं न पुनः उक्तदोषवत्स्वपि.

तदेतद् गुरुवद् गुरुपुत्रसन्माननमपि **''उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने न कुर्याद् गुरुपुत्रस्य पादयोः च अवनेजनम्''** (मनुस्मृ.२।२०९) इति वचनाद् निषिद्धोत्सादनाद्यन्यविषयकमेव न सर्वांशे. तस्माद् महद् एतत् कष्टं यत्

श्रीमदाचार्यवंशजाअपि देवलकवृत्त्या भगवदाराधनं कुर्वन्ति इति.

तेनैतेन कष्टेन विषीदन्तम् उपहसन्तः स्वमार्गकृतान्तं नितान्तम् अवहेलयन्तो निजभगवत्सेवयैव निरन्तरम् अनर्थम् आसादयन्तः च कतिचन भ्रान्ताः यत् प्रत्यवतिष्ठन्ते, तन्निरसनन्तु स्वपितामहनाम्ना वाल्लभब्रुवेण विरचितस्य 'सेवादेवद्रव्यादिविमर्शा'ख्यस्य ग्रन्थस्य मत्कृतासु 'विशोधनिका'सु च सावधनतया मया कृतमेवेति ततो अवधेयं सुधीभिः.

अथ अधुना श्रीपुरुषोत्तमकृतस्ववृत्तिवादविवृतौ प्रयते. तत्र **''न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमैव एष वृणुते तेन लभ्यः''** (कठोप.१।२।२३) इति श्रुतेः 'वरणा'परपर्यायकृपालभ्यत्वं परमपुरुषस्य. सेयं भगवत्कृपैव भगवत्प्राप्तौ मुख्यं साधनम्. कर्मज्ञानभक्तियोगतपोवैराग्यतीर्थव्रतप्रायश्चित्तादयस्तु सर्वेऽपि तत्र-तत्र साधनत्वेन श्रूयमाणाः अस्याः कृपायाएव अवान्तरव्यापारभूताः चेद्, फलदानक्षमाः भवन्ति, अन्यथा जीवात्मव्यापाररूपाएव इति विवेकः. येन कर्माद्यन्यतमेन व्यापारेण यस्मै जीवाय स्वप्राप्तिं विधातुम् इच्छति भगवान् तेनैव व्यापाररूपेण स जीवो भगवन्तं लब्धुं शक्नोति. सेयं तत्तज्जीवविषयिणी भगवतः उद्दिधीर्षैव 'वरणम्' इति कथ्यते. वरणाकारस्तु ''अनेन साधनेन अयं जीवो हि एवंरूपं मां प्राप्नोतु!'' इत्येवंरूपः. तद् उक्तं **''न चैवं विस्मयः कार्यः''** (भाग.पुरा.१०।२६।१६) इत्यत्र. तस्मादेव श्रीमदाचार्यचरणैः उक्तम् **''आपाततस्तु सर्वेषाम् उपायत्वं मया उदितं विष्णोः कृपाविशिष्टानां तत् फलं नान्यथा भवेद्''** (त.दी.नि.२।३०७) इति. नच * एवं भगवत्प्राप्तौ भगवत्कृपायाएव असाधारणकारणत्वात् कृपाव्यापारेषु प्रकारनियमाभावात् कृपाधर्मिणो भगवतः च सर्वसमर्थत्वात्, ''पुष्ट्यैव मृग्यते भगवान् यत्र स पुष्टिमार्गः'' इति व्युत्पत्तिकरणात् च गतिसाधनाभावापत्तिः पुष्टिमार्गे स्यात्. तथाच गुर्वपेक्षायाः, ततो दीक्षापेक्षायाः, दीक्षितस्य कर्तव्यापेक्षायाअपि अभावापत्तिः. तेनच स्वाच्छन्द्यप्रसक्त्या मार्गत्वमपि न सिद्ध्येद् * इति वाच्यम्. ताम् इमाम् अव्यवस्थां परिहर्तुमेव परमकृपालुभिः श्रीमदाचार्यचरणैः **''सर्वथा चेद् हरिकृपा न भविष्यति यस्य हि तस्य सर्वम् अशक्यं स्याद् मार्गे अस्मिन् सुतरामपि, कृपायुक्तस्यतु**

यथा सिद्ध्येत् कारणम् उच्यते'' (त.दी.नि.२।२२६) इत्यारभ्य ''**एतन्मार्गद्वयं प्रोक्तं गतिसाधनसंयुतम्**'' (त.दी.नि.२।२५६) इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन जीवात्मनि बीजभावेन स्थितस्य भगवदनुग्रहस्य अंकुरादिक्रमेण फलोन्मुखत्वविकासाय कृपामार्गस्य गतिसाधनानां निरूपणं कृतम्.

*ननु कर्मज्ञानभक्तीनां जीवनिष्ठानामेव मार्गत्वं ''**योगास्त्रयो मया प्रोक्ता**'' (भाग.पुरा.११।२०।६) इत्येवमादिषु वचनेषु श्रूयते कृपयास्तु भगवन्निष्ठायाः योगत्वं मार्गत्वं वा कथम्* इति चेद्, उच्यते : यद्यपि भगवत्प्राप्तौ तत्कृपायाः उद्दधीर्षाख्यायाः करणत्वं भगवन्निष्ठताविचारेणैव, नतु जीवनिष्ठताविचारेण, तथापि ''जीवात्मानं भगवता सह योजयति'' इति व्युत्पत्तिकानां बहूनां 'योगा'स्पदोपायानां यथा मार्गत्वं तथा भगवन्तं जीवैः सह योजिकायाः कृपायाअपि मार्गत्वं तेनच विषयविषयिभावसम्बन्धेन सूक्ष्मांशेन जीवेष्वपि विद्यमानतापि बीजभावत्वेन श्रीमदाचार्यचरणैः अंगीकृता. भगवदनुग्रहो भगवत्येव खलु धर्मधर्मिभावसम्बन्धेन वृत्तिमान् अंशिरूपोहि अंशात्मनातु विषयविषयिभावसम्बन्धेन तत्प्राप्त्यर्थं तत्कृतवरणविषयीभूतेषु जीवेष्वपि वरीवृत्यते इति विवेकः. यथाहि सूर्यरश्मयो धर्मधर्मिभावसम्बन्धेन सूर्यवृत्तयः खलु प्रकाश्यप्रकाशकभावसम्बन्धेन ताप्यतापकभावसम्बन्धेन वा भूमिष्ठघटवृत्तयोऽपि भवन्ति. तस्माद् इयं भगवत्कृपैव या खलु अंशरूपेण प्रकटा जीवेषु निरुपाधिका कृष्णरुचिः यश्च भगवद्वियोगबोधजनितः तापभावो वा इति.

तएते कृष्णरुचिशीलाः भगवद्वियोगभावतप्ताः जीवाएव उप्तानुग्रहबीजभावाः 'पुष्टिजीवाः' इति कथ्यन्ते.

श्रीकृष्णकृपायाः अंशभूतो जीवेषु विद्यमानो बीजभावएव श्रीमदाचार्यचरणैः पुष्टिप्रपत्तिरूपेण पुष्टिभक्तिरूपेण चापि मार्गायितः सन् 'पुष्टिमार्गः' इति आख्यां संलभते. तस्माद् अंशिभूतपरमात्मनिष्ठा पुष्टिः परमात्मप्राप्तौ करणं, अंशभूतजीवात्मनिष्ठेतु भक्तिप्रपत्ती तदवान्तरव्यापाररूपेएव सत्यौ तदंशभूतेअपि. तथाहि सूर्यरश्मीनां

सूर्यांशत्वं च सौरव्यापारकरणरूपत्वं च अंकुराद्युत्पत्तौ अनुभूयते तद्वदिह ज्ञेयम्. यद्यपि सूर्यरश्मीनाम् अंकुरोत्पत्तौ न बीजत्वम् नापि उपादानत्वं वा, तथापि इहतु जीवात्मभूमौ भक्त्याद्यंकुरोत्पत्तौ बीजत्वमपि भगवत्कृपांशस्यैव इति विशेषः. तस्माद् श्रीमदाचार्यचरणप्रवर्तिते हि पुष्टिमार्गे भक्तिप्रपत्त्युद्बोधकानामेव उपायानाम् उपदेशो अनुष्ठानञ्च. भगवत्कृपायास्तु उपदेशानुष्ठानयोः अशक्यत्वादेव यथावस्थितनिरूपणमेव केवलम्. भगवन्निष्ठायाः जीवोद्धारकरणरूपायाः कृपायास्तु शास्त्रविहितकर्मादिवत् क्वचित् शास्त्रनिषिद्धाअपि कामक्रोधादयो अवान्तरव्यापाराः कुब्जाकंसादिष्विव भवितुम् अर्हन्ति. नच ते श्रीमदाचार्यैः मार्गायिताः नापि तदुद्बोधकानाम् उपायानाम् उपदेशो वा अनुष्ठानं वा मार्गे अस्मिन् कल्पयितुमपि शक्यते. शास्त्रविहितास्तु उपायाः वर्णाश्रमाचारव्रतकर्मादयः शास्त्राज्ञायाः यावद्देहाभिमानं सर्वथैव अनुल्लंघनीयत्वादेव उपदेष्टव्याः अनुष्ठेयाश्चापि भवन्तीति नैतावता पुष्टिमार्गत्वं तेषाम् इति रहस्यम्. तस्मात् शास्त्रविहितोपायानां मर्यादामार्गसाधारणानाम् अवश्यानुष्ठेयत्वेऽपि न पुष्टिमार्गत्वं किमुत भगवद्भक्तिप्रपत्त्योरेव. तथापि प्रवाहमार्गसाधारणशयनाशनादिदेहधर्माणामिव मर्यादामार्गसाधारणशास्त्रविहितानां धर्माणां पुष्टिमार्गांगत्वेन अनुष्ठानन्तु पुनः अवश्यकर्तव्यताकमेव भवति.

मार्गायिताहि कृष्णरुचिः मार्गायितः च भगवद्वियोगजनितः तापभावोऽपि पुनः द्वेधा : भगवन्माहात्म्यज्ञानजननोपायरूपेण भगवत्स्नेहाविर्भावोपायरूपेण च. ''**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहो भक्तिरिति**'' (नार.पं.रा. । ।) इति वचनात्. भक्तेः अस्ति अंशद्वयम् माहात्म्यज्ञानं सुदृढः सर्वतोधिकः स्नेहः च इति शास्त्रार्थप्रकरणे ''**यथा कथाञ्चिद्...**'' इत्यारभ्य ''**मुक्तिः नच अन्यथा**''(त.दी.नि.१।४०-४१)इति कारिकाप्रकाशे व्याख्यानात् च. तत्र येषु जीवेषु पूर्वांशमात्रप्राकट्यसम्भावना ते पुष्टिप्रपत्त्युपायाधिकारिणः. येषु उभयांशप्राकट्यसम्भावना ते पुष्टिभक्त्युपायाधिकारिणः. येषु पुनः उत्तरांशमात्रप्राकट्यं प्रमेयबलेन, तेषु प्रमाणजन्यभगवन्माहात्म्यज्ञानाभावेऽपि स्वतो भगवदाविर्भावहेतुकः सख्यवात्सल्यमाधुर्यादिभावाविर्भावः इति व्यवस्था. भगवद्भावाविर्भावपूर्वको हि भगवदाविर्भावः प्रमाणरूपो भक्तिशास्त्रसिद्धत्वात् 'प्रमाणबलम्' इति कीर्त्यते. भगवदाविर्भावपूर्वकस्तु

भगवद्भावाविर्भावो भक्तिशास्त्रप्रमेयभूतेन भगवतैव स्वेच्छया अनियततया दर्शितत्वात् 'प्रमेयबलम्' इति विवेकः. प्रमेयबलसम्पन्नाश्च जीवाः 'शुद्धपुष्टिजीवाः' इति उच्यन्ते. प्रमाणबलसम्पत्तियोग्यास्तु 'मिश्रपुष्टिजीवाः' इति.

तइमे मिश्रपुष्टिजीवाः एकतरांशप्राकट्यसम्भावनावन्तः उभयांशप्राकट्यसम्भावनावन्तः च पुष्टिपुष्टि-मर्यादापुष्टि-प्रवाहपुष्टिरूपैः उपभेदैः पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे निरूपिताः "**पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा प्रवाहेण क्रियारताः मर्यादया गुणज्ञाः ते**" (पु.प्र.म.१५-१६) इति वचने. पुष्टिमार्गे एतेषामेव गतिसाधनोपदेशो निबन्धषोडशग्रन्थादिषु श्रीमदाचार्यैः कृतः, शुद्धानान्तु पुष्टिमार्गे गतिसाधनयोः निरूपणं प्रमाणेन कर्तुं न शक्यं दौर्लभ्यादेव तेषामिति "**शुद्धा प्रेम्णा तु दुर्लभाः**" (पु.प्र.म.१६) इत्यत्र स्पष्टम्.

भगवानेव हि केवलो पुष्टिमार्गे शुद्धपुष्टिजीवानां नायको भवतीति भगवन्नीतानां तेषां भगवदभिलषितभावप्राप्तिरिति न तत्र उपदेश्योपदेशकयोः कृत्यं नाम किञ्चिद् स्पष्टं द्रष्टुम् अर्हामः. मिश्राणान्तु पुष्टिमार्गे नायको खलु भगवद्भावइति तत्तद्भावनीतानां तेषां तत्तद्भावानुरूपा भगवत्स्वरूपप्राप्तिः इति विवेकः. तस्माद् एतेषां गतिसाधननिरूपणम् अपेक्षितत्वादेव निबन्धादिग्रन्थेषु इति सिद्धम्.

तत्र प्रथमो हि उपायः पुष्टिप्रपत्तिः. सातु शरणमन्त्रोपदेशग्रहणानुष्ठेया साध्यरूपा माहात्म्यज्ञानजनिका. सिद्धिरूपातु माहात्म्यज्ञानजनिता विवेकधैर्यानन्याश्रयलक्षणा. द्वितीयस्तु उपायः पुष्टिभक्तिः सा खलु ब्रह्मसम्बन्धोपदेशग्रहणानुष्ठेया साध्यरूपा माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोधिकस्नेहजनिका, सिद्धिरूपातु तथाविधस्नेहजनिता भगवत्सेवाकथोभयपरायणतालक्षणा तदन्यतरपरायणतालक्षणा वा. भक्त्यभावेतु प्रपत्तिरेव भक्त्यनुकल्परूपापि भवति इति बोद्धव्यम्. तस्मात् पुष्टिमार्गे मुख्या सरणी पुष्टिभक्तिरूपा यस्यां खलु प्रपत्तिः अन्तर्भूतैव. गौणीतु पुनः केवलप्रपत्तिरूपा प्रथमोपायभूता अनुकल्परूपा वा इति रहस्यम्.

स्वभक्त्या स्वप्रपत्त्या वा भगवदितर - लौकिकालौकिकफलाकाङ्क्षारहितत्वे

सति भगवदेकपरताप्रकटनरुचिः तत्तद्बीजभावयोः सत्तानुमापिका भवति. तद् उक्तं "**कृपापरिज्ञानञ्च मार्गरुच्या निश्चीयते**" (त.दी.नि.प्र.२।२५५-२५६) इति. मार्गायितायान्तु तस्यां यथायथं विविधाः उपायाः अवान्तरोपायाश्चापि उपदिष्टाः. तस्माद् एतेषाम् उपायानां नैयत्यादेव श्रीमदाचार्यचरणप्रवर्तिते अस्मिन् मार्गे न स्वाच्छन्द्यं नापि मार्गोच्छित्तिभीतिः. तेन पुष्टिमार्गस्यापि सत्सम्प्रदायत्वं सिद्ध्यत्येव. सम्प्रदायत्वेनच योग्यगुर्वपेक्षापरीक्षे तथैव योग्यशिष्यापेक्षापरीक्षे च, मार्गोपदेशात् प्राग् इह अनुष्ठेये भवतः.

तस्माद् गुरुपरीक्षणं, शिष्यपरीक्षणं, दीक्षा, दीक्षितयोः गुरुशिष्ययोः आचारः, इत्येवमादिविषयाणां नियमाअपि उपदिश्यन्तएव.

तेषु प्रथमं तावत् साधनं गुरुपरीक्षणमेव. गुरोस्तु लक्षणं यद्यपि सर्वनिर्णयप्रकरणोक्तं "**कृष्णसेवापरत्वे सति दाम्भादिरहितत्वे सति श्रीभागवत-तत्त्वज्ञत्वम्**" (त.दी.नि.२।२२७) इति निर्दिष्टं तथापि भागवतप्रकरणे "**यद् औपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा वर्णिनामेव तद्धि स्यात् स्त्रीशूद्राणां ततो अन्यथा**" (त.दी.नि.३।३।१७८।) इति निरूपणाद् अनुपनीतानां पुरुषाणां स्त्रीणां वा भागवतोपदेशे अधिकाराभावाद् इह गुरुत्वलक्षणे अप्रविष्टमपि 'विप्रत्वं' वचनद्वयैकवाक्यता-सम्पादनाय ऊह्यम्. तदुक्तं श्रीपुरुषोत्तमैः अनुपनीतै भागवतं "**न श्रावणीयं पाठनीयं वा विध्यभावाद्**" (श्रीभा.पा.शं.नि.वा.) इति श्रीभागवतपाठविषयकशंका-निरासवादे. एनेन अनुपनीतस्य उपदेशाधिकाराभावात् "**श्रीभागवततत्त्वज्ञ**" इति पदप्रयोजने विचार्यमाणे तदुपदेशाय विप्रत्वम् अपरिहार्यमेव. अन्यथा कुम्भकारादिजाती-यस्य कृष्णसेवापरभागवततत्त्वज्ञंमानिनः किरीटादेरपि ब्रह्मसम्बन्धदीक्षाप्रदाने अधिकारो वज्रलेपायितो भवेत्.

सर्वनिर्णयप्रकरणएव पुष्टिभक्तानां जीवनप्रकारोपदेशप्रसंगे "**याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम्...**" (त.दी.नि.२।२३२) इति यत् निरूपणं तत्तु

(मंगलाचरणसंशयपूर्वपक्षाः)

(पुष्टिमार्गीयभक्तानां स्ववृत्त्या स्वगृहे सदा॥
तनुवित्तजसेवातः तुष्टं श्रीकृष्णमाश्रये॥१॥

गुरुशिष्योभयसाधारणं. गुरोस्तु कृते विप्राणाम् अनिषिद्धाः हि वृत्तयः ताभिरेव स्वजीवनसम्पादनम् इत्यपि फलति. एतद्ग्रन्थभागस्य आवरणभंगे—

> ''तथाच यो अर्जकः स एवं कुर्यात्. शेषास्तु (भार्यादयः) पूर्ववदेव कुर्यु. अयमर्थः 'देवो असुरो मनुष्यो वा' (भाग.पुरा.७।७।५०) इति, 'सर्वे अधिकारिणोहि अत्र विष्णुभक्तौ यथा नृप!' (पद्मपु.स्व.ख.२९।४१) इति वाक्याभ्यां, 'किरातहूणान्ध्र...' (भाग.पुरा.२।४।१८) इति वाक्यात् च भगवद्भजनादौ सर्वेषाम् अधिकारेऽपि 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (छान्दो.उप.७।२६-।२) इति श्रुत्या आहारशुद्धये स्ववृत्त्या अन्नसम्पादनस्य आवश्यकतया वृत्तिरपि संकोच्या 'प्रतिग्रहं मन्यमानस् तपस्तेजोयशोनुदम् अन्याभ्यामेव जीवेत' (भाग.पुरा.११।१७।५०) इत्यादिषु तथा दर्शनात्. सप्तमस्कन्धे सर्वेषां वृत्तिं वदता नारदेन 'वृत्तिः संकरजातीनां तत्तत्कुलकृता भवेद् अचौराणाम् अपापानाम् अन्त्यजान्तेऽवसायिनाम्' (भाग.पुरा.७।७।३०) इति उक्त्वा अग्रे नैर्गुण्यकथनाद् इति भावः. इदं यथा तथा वृत्तिवादे व्युत्पादितम् अस्माभिः'' (त.दी.नि.प्र.आव.२।२३२) इति.

एवं प्रतिज्ञातत्वाद् इहतु पुनः अस्मिन् वादे पुष्टिमार्गीययोः गुरुशिष्ययोः उभयोः वृत्तिस्वरूपयोः अनिरूपणाद् त्रुटितो वा अन्यएव वा अयं ग्रन्थः इति प्रतिभाति. आवरणभंगे 'वृत्तिवादः' इति अभिधानं यथोपलब्धस्य च अस्य वादस्यतु 'स्ववृत्तिवादः' इति अभिधानभेदोऽपि एतद्विषये प्रमाणमिति. तस्माद् यथोपलब्धस्य व्याख्यानैकशरणाः वयं यत्किञ्चिद् उत्प्रेक्षितुमेव शक्नुमो न पुनः प्रतिपादयितुमपि इति अलम् अनुपलब्धचिन्तनश्रमेण. तथापि प्रायः सर्वेष्वपि वादग्रन्थेषु प्रतिपाद्यविषयोपस्थापकमंगलाचरणमनु पूर्वोत्तरपक्षोत्थापिकानां कारिकानां

शिष्यप्रदत्तद्रव्यादेर्ग्रहो वृत्तिः गुरोरिति ।।
नियमो ह्युचितो ह्येषो नोवेत्यत्र विचार्यते ।।२।।
संकल्पादेरभावात्तु शिष्योपानीतसंग्रहे ।।
बीजप्रमाणराहित्याद् दातुस्स्यान्निष्फला कृतिः ।।३।।)

*ननु स्वशिष्यस्यैव गृह्यते न इतरस्य. तत्रापि उपायनमेव गृह्यते नतु हस्तेन संकल्पितं प्रतिगृह्यते इत्यत्र किं बीजं प्रमाणं वा, दातुः फलं च कथम् ? * इति बहवः आशंकन्ते.

दर्शनात् इह च तदनुपलब्ध्या मयैव मूले ताः योजिताः एकरूपतानिर्वाहार्थम्.

तत्र पुष्टिमार्गीयाणां गुरूणां जीवनप्रकारं सूत्रयन्तइव श्रीपुरुषोत्तमाः शंकामुखेन ग्रन्थम् उपजिंघासन्ते **ननु** इति. एतेन अस्मिन् सम्प्रदाये दीक्षादातॄणां गुरूणां आजीविकायाः मुख्यः कल्पः पुष्टिमार्गीयशिष्टाचारसिद्धः सूचितः. एतेन स्वशिष्यस्यैव तदपि गुरुत्वोपाधिनैव धनं ग्रहीतव्यं न निजभगवद्विग्रहनाम्ना नवा तदाराधनाम्ना वा नापि द्रव्योपार्जनार्थं श्रीमद्भागवतकथायोजने सूतवृत्त्या वा. यस्माद् निजाराध्यसेवाप्रदर्शने समागतानां येषां-केषाञ्चिद् जनानां खलु धनान्नादिकग्रहणं हि गर्ह्यं देवलकत्वापादकमेवेति. **'एव'**कारेण शिष्येतराणां धनसंग्रहेऽपि कश्चन दोषः सूचितएव. एवं धनदातुः स्वरूपं निरूप्य धनग्रहणप्रकारमपि निरूपयन्तः आहुः **तत्रापि** इति. एतेन स्वशिष्याणामपि धनं बलात् छलेन वा भिक्षया देवलकवृत्त्या श्रीमद्भागवतोपजीवनेन वा संकल्पपूर्वकं हस्तेन वा न प्रतिग्राह्यम् इत्येवमादयः अनुक्ताअपि इतरे प्रकाराः व्यावर्तिताः.

अत्र पूर्वपक्षी बीजाभावं प्रमाणाभावं फलाभावं च शंकते **'अत्र'** इत्यादिना **''फलं च कथम्''** इत्यन्तेन भागेन. **बीजम्** इति हेत्वभावाक्षेपो, निर्हेतुकेहि व्यवहारे न काचन नियतिः भवितुम् अर्हति. कारणंहि यतः कार्यस्वरूपं नियतं करोतीति. **प्रमाणाभावश्च** इति. ननु *नहि ईदृशे धनग्रहणप्रकारे धर्मत्वसाधकं किञ्चिद्, अनीदृशे वा तदभावसाधकं किञ्चित्, श्रौतं स्मार्तं पौराणिकं वा प्रमाणम् उपलभामहे इत्यतो **''वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियम् आत्मनः''** (याज्ञ.स्मृति.१।१।७) इत्यत्र वर्णितेषु अन्तिममेव प्रमाणम् इह प्रतिभाति! न

पुनः श्रुतिस्मृतिसदाचाररूपं प्रमाणम् इह किञ्चित् पश्यामः. तस्माद् विप्रतिपन्नं धनाद्यर्पणं न धर्मरूपं नवा पारलौकिकफलजनकं, शास्त्राविहितत्वात् शिरःकण्डुतिवत्. यत्र शास्त्राविहितत्वं तत्र धर्मत्वाभावः पारलौकिकफलजनकत्वाभावो वा इति व्याप्तिस्तु **''तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ''** (भग.गीता.१६।२४) इति वचनबलकल्प्या. **'च'**कारेण एतादृग् धनग्रहणं गुरोरपि निष्फलं चित्तशुद्धिसम्पादकान्नशुद्ध्यजनकत्वाद् इति आक्षेपाभिप्रायः.

* ननु **''अध्यापनम् अध्ययनं यजनं याजनं तथा दानं प्रतिग्रहं चैव''** (मनुस्मृ.१।८८) इति ब्राह्मणानां कृते नित्यप्राप्तेषु षट्कर्मसु अध्ययनयजनदानानि धर्मरूपाणि तथैव अध्यापनयाजनप्रतिग्रहास्तु आजीविकारूपाइति. तत्र **''यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु''** (पाणि.धा.पा.१।१०८७) इति याजनापरपर्यायभूतया भगवत्सेवया आजीविकानिर्वाहेऽपि किमिह निषिद्धम् आचरितम्? अतोहि भगवत्सेवया अर्थोपार्जनं गुरुवृत्तिरेव. यथा स्वयंकृता हि भगवत्सेवा धर्मरूपा तथा अन्यैश्च कारितापि धर्म्यैव आजीविकेति अंगीकरणीया, प्रतिग्रहः च. नच * उक्तमेव **''नच यागो यजमानस्यैव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तत्र ऋत्विग्दक्षिणावरणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्. अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्''** (सि.मु.वि.प्र.२) * इति वाच्यं, **''अयाचिताहृतं ग्राह्यम् अपि दुष्कृतकर्मणो अन्यत्र कुलटाषण्डपतीतेभ्यः तथा द्विषः. सुरातिथ्यर्चनकृते गुरुभृत्यार्थमेव च सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् आत्मवृत्त्यर्थमेव च''**, **''देवे देयानि दानानि देवे देया च दक्षिणा तत् सर्वं ब्राह्मणे दद्यात्''**, **''अभिघार्य चतुर्भागं हविः... देवाय एकं... शिष्टन्तु गुरवे दद्यात् त्रिभागं दीक्षिताय वा यतये लिंगिने वापि वैष्णवाय द्विजातये... चतुर्थं बान्धवैः सार्धं दीक्षितैः... भुञ्जीत... पावनान्नेन भावितम्''** (याज्ञ.स्मृ.१।९।११२-११३, ब्रह्मवै.पुरा.श्रीकृ.जन्म.१२२।२०, नार.संहि.१२।५१-५७) इति वचनेभ्यो अयाचिताहृतस्य देवार्चनौपयिकदाननैवेद्यादेः अर्चनोत्तरं ब्राह्मणाय स्वकीयबान्धवेभ्यो वा प्रदानस्य, स्वार्थमपि सर्वेभ्यो ग्रहणस्य विहितत्वादेव. एतेन देवलकत्वदोषाक्षेपोऽपि परिहृतएव * इति चेद्,

अत्र प्रतिविधास्यामः : किं देवलकत्वे नास्ति दोषः कश्चन इति मन्यसे

आहोस्वित् तस्य दोषरूपत्वेऽपि भगवत्सेवायां तत्प्रसक्तिं प्रतिषेधसि? नाद्यः **''अनधीयानं... याजयन्ति च ये पूगान् तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्... देवलकान् मांसविक्रयिणः तथा... वर्ज्याः हव्यकव्ययोः'' ''नष्टं देवलके दत्तम्'' ''न यज्ञार्थं धनं शूद्राद् विप्रो भिक्षेत कर्हिचित् यजमानो हि भिक्षित्वा चण्डालः प्रेत्य जायते... देवस्वं... लोभेन हिनस्ति स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति''** (मनुस्मृ.३।१५१-५२, १८०, ११।२४-२६) इति वचनेभ्यः देवलकास्तु श्वपाकोपमाः अस्पृश्याएवेति देवविग्रहार्चनाय अन्यवित्तादिग्रहणेन कृता भगवत्सेवापि भगवन्तम् अप्राप्यैव सर्वथा नष्टैवेति. अथ *यजनयाजनरूपायां भगवत्सेवायां सेव्यस्य भगवतो देवाधिदेवत्वात् तद्दर्शनार्थं समागतेभ्यो भक्तेभ्यो अयाचितद्रव्यादिग्रहणस्य देवलकत्वानापादकत्वेन न तद्दोषप्रसक्तिः* इति चेत् न, यजनयाजनरूपा भगवत्सेवा चेत् भगवद्दर्शनार्थं समागतेषु कः तावत् शूद्रकुलटाषण्डद्वेषिषु अन्यतमः इति निर्धारणस्य कर्तुम् अशक्यत्वेन स्वोपयोगार्थं तद्ग्रहणं यथा वर्जितमेव तथा भगवदुपभोगार्थं ग्रहणेऽपि **''अर्चिष्यन् देवतातिथीन् सर्वतः प्रतिगृह्णीयात् नतु तृप्येत् स्वयं ततः''** (याज्ञ.बालक्री.वाशि.१।९।२१३) इति विवेकोऽपि कर्तव्यएव. अन्यथा **''सदम्भश्च हतो धर्मो... हता भक्तिः समायिका... जीवितार्थं हतं तीर्थं जीवनार्थं हतं व्रतम्''** (पद्मपुरा.स्व.ख.२९।२८-३१) इति निन्दोक्तिं नातिक्रामेत्. एतेन षट्पञ्चाशद्भोज्यानां भगवते समर्पणं यज्ञात्मकत्वेन तत्र सर्वेषामपि जनानां पुष्टिसम्प्रदाये द्रव्यान्नादिग्रहणे न बाधकं किञ्चिद् इति वदन्तोऽपि दत्तोत्तराः वेदितव्याः.

किञ्च याजनम् इह न स्वकर्तव्यभूतयजनात्मकं नापि स्वार्थप्रतिष्ठापिताराध्यविग्रहस्य आराधनारूपं किमुत परार्थप्रतिष्ठापितस्य भगवद्विग्रहस्य देवालये अर्चनाविधिम् अजानतां तत्र पौरोहित्यापरपर्यायरूपं परार्थार्चनमेव. तत्र दक्षिणाभगवत्प्रसादादिग्रहणे न देवलकत्वम्. स्वार्थं प्रतिष्ठापितस्यतु भगवद्विग्रहस्य अर्चनार्थं स्वपरिवारेतरजनानां याचितैः धनादिभिः अर्चने स्वोपभोगनिषेधः. अन्यथा भगवदर्थमेव परेषां धनादिभिः कृतेन अर्चनेन तत्र अर्चनौपयिकवस्त्रधनान्नफलकुसुमादिभिः स्वदेहपुत्रकलत्रगेहादयः पोष्यन्ते उत स्वदेहपुत्रकलत्रगेहादिपोषणार्थमेव भगवान् तैः अर्च्यते

इत्यत्र एकतरानुसन्धाननियामकविनिगमकाभावादेव शास्त्रेषु न कुत्रापि तदनुज्ञा.

किञ्च पुष्टिमार्गीया हि भजनरीतिः तावत् श्रुतिस्मृतिपुराणागमैः खलु अविरुद्धापि न तन्मूलिका. भक्तिमार्गे सर्वमार्गवैलक्षण्यानुभूतिकृतां श्रीकृष्णहार्दविदां श्रीमदाचार्यचरणानां यो माहात्म्यज्ञानपूर्वकः श्रीकृष्णे निरुपधिस्नेहः तदवलम्बिन्येव सा रीतिः. तादृगुपदेशमूलकत्वेन च पुष्टिमार्गीयभजनविधौ कस्यचन प्रकारस्य शास्त्रानुमतत्वेऽपि निजाचार्यभावविरुद्धत्वे उपेक्ष्यतैव सर्वथा तत्र अभिमन्तव्या.

यत्तु वाल्लभब्रुवेण विमर्शकारेण श्रीयामुनेयाचार्याणां **''केचिद् यदि परं सन्तः शाश्वतावृत्तिकर्शिताः याजयन्ति महाभागैः वैष्णवैः वृत्तिकारणाद्, न तावता एषां ब्राह्मण्यं शक्यं नास्ति इति भाषितुम्, न खलु आध्वर्यवं कुर्वन् ज्योतिष्टोमे पतिष्यति. यदि ते न प्रतिगृह्णीयुः पूजैव विफला भवेद्''** (आग.प्रामा.) इति वचनं स्वस्य अदेवलकत्वे प्रमाणतया उपन्यस्तं तत्तु यजनयाजनयोः तारतम्यम् अजानतैव दुरुदाहृतमेव. नहि अत्र स्वकीयगृहे स्वार्थप्रतिष्ठापितस्य भगवतः पूजनाय परधनादिप्रतिग्रहानुज्ञा किमुत परार्थप्रतिष्ठापितदेवालये पौरोहित्यदक्षिणाविषयिण्येव अनुज्ञा इयम्.

अपिच *''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते''* इत्येकस्यैव वचनस्य श्रवणमात्रेण निखिलव्याकरणशास्त्रे पारंगतम्मन्यमानेन श्रीकृष्णप्रवणचित्ततायां हि नितान्तं विरक्तेन दुरन्तोदरदरीभरणाय निरन्तरधनेहया दोदूयमानेन मूर्तिमन्महामौढ्येन केनचिद् अस्मदीयेन **''कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता, चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''** (सिद्धा.मुक्ता.१-२) इति कारिकाव्याख्यानं स्वीये नूतनपत्रावलम्बने प्रकाशितम्. तत्र : 'तनुवित्तजा' इति पदम् एककर्तृकायाः द्विविधायाः, तनुजायाः च वित्तजायाः च, उपदेशपरम् इति प्रलपितम्. तदेतद् वानरचेष्टार्थं प्राग्जन्मीनदुरदृष्टहेतुभूतदुष्कर्मरशनानद्धत्वेन शास्त्रार्थविचारणार्थं संनद्धम्मन्यमानेन अपलटितमेव! तत्रैव पुनः एवंरीतिकापि भगवत्सेवा **''तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकं... अतः स्थेयं हरिस्थाने''** (भ.व.६-८) इति वचनात् न स्वगृहे

स्थित्वा सम्प्रदायानुगामिभिः अनुष्ठेया किन्तु वल्लभवंशजानां निवासेषु. तत्र गत्वा च तत्रत्यभगवदर्थं वित्तवस्त्रान्नपुष्पफलादीनां प्रदानेन सम्पादयितव्या. अन्यथा उत्तमरीतिकामपि भगवत्सेवां स्वगृहएव कुर्वाणाः विनंक्ष्यन्त्येव इति विरुद्धं बहु जल्पितम्! तदिह वानररुतं न कोऽपि बुद्धिमान् नरो अनुरौति तथापि निजाचार्यवाण्याः विगर्हितार्थव्याख्यानन्तु निराकर्तव्यमेवेति निष्ठया तदेव कर्म पिपराणि.

तथाहि : " '**चा'ऽर्थे द्वन्द्वः**" (पाणि.सू.२।२।२९) इत्यत्र येहि समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराः 'च'कारार्थाः, तेषु अन्तिमार्थद्वयएव द्वन्द्वसमासः सूत्रेण एतेन व्यवस्थापितः.

तत्र "**मिलितानाम् अन्वयः इतरेतरयोगः — समूहस्तु समाहारः**" (तत्रैव) इति सिद्धान्तमुक्तावली. इतरेतरयोगो नाम इतरेतरसाहित्यम्. अत्र साहित्यं खलु विशेषणीभूतम् इतरेतरेतु विशेष्यीभूते. तस्मात् तनुसहितेन वित्तेन, इतरेतरयुक्ताभ्यां तनुवित्ताभ्यां वा इति यावत्, जाता या सेवारूपा क्रिया सैव 'तनुवित्तजा'इति पदवाच्या. ततो न तनुजवित्तजयोः क्रिययोः इतरेतरयोगो अत्र शब्दमर्यादया भासते, तद् उपबृंहितं जयरामन्यायपञ्चाननैः "**साहित्यञ्च एकक्रियान्वयित्वम्**" (समासवादे : द्वन्द्वप्रकरणे). तस्मात् तनुजायां च वित्तजायां चेति क्रियाद्वित्वेतु 'तनु'-'वित्त'पदयोः योगस्य अभावाद् द्वन्द्वाभावापत्तिः. तथाच निजोक्ता एककर्तृका तनुवित्तजा क्रियापि व्याहन्येत.

ननु एकेनैव कर्तृणापि अनुष्ठेया अन्याहि तनुजा क्रिया अन्या च वित्तजा इति चेत् न, तनुजा क्रिया तावत् स्वतनुव्यापारेण भगवद्भजने स्रग्गन्धवस्त्रालंकारादीनां विनियोगरूपा. सा अस्ववित्तेन समासादितानां पदार्थानां विनियोगरूपा चेत् तदैव अन्यवित्तेन जाततया भिन्ना नैककर्तृका क्रिया भवति. तस्माद् एवं समासविग्रहेऽपि 'तनुजा'-'वित्तजा'इति पदद्वयोपलब्धिः दुर्वचैव. तस्माद् द्वन्द्वघटितं 'तनुवित्त'पदमेव 'जा'इत्युत्तरपदेन तृतीयातत्पुरुषसमासेन अन्वीयतइति 'तनुवित्तजा' इति समस्तं पदं निष्पद्यते. ततश्च 'तनुज'-'वित्तज'इति

पदद्वयघटितत्वाभावादेव तथाविधः समासविग्रहोऽपि शब्दमर्यादया वानरेतरबुद्धौ न भायात्.

अत्र विमर्शकारो प्रौढवयस्यपि बाल्यकालिकक्रीडोपस्करवासनायाः निर्मोकाभावेन *सेवादेवद्रव्यादिविमर्शक्रोडपत्रलेखनेन* मतिबाल्यप्रयुक्तां स्वक्रीडारतिम् आविष्चकार. तद् यथा ''**नहि तनुवित्ते चेतस्तत्प्रवणतासाधने भवितुम् अर्हतः. तस्मात् तनुज-वित्तजेएव सेवे तत्साधनरूपे अंगीकर्तव्ये. ततश्च नूनं तनुज-वित्तजसेवाद्वयसिद्धिः**'' (पृ.९९) इति.

तत्र समानयोगक्षेमाद् ''रामेण बाणेन हतो बाली'' इति वाक्येऽपि तूणीरस्थितबाणेनापि तद्वधापत्तिभिया मा भूद् बाणकरणको बालीवधो, अतो बाणं परित्यज्य तत्क्षेपणस्यैव करणता कुतो न उच्यते? काष्ठच्छेदनेऽपि तावद् उद्यमननिपातनरूपक्रियान्वितत्वाभावे नहि हस्तस्थितेन कुठारेण काष्ठच्छेदनं दृष्टचरमिति मा भूत् तस्यापि काष्ठच्छेदनकरणत्वम्! नूनं मोदकपूरणेनैव एतादृशानां बालकानां मुखचापल्यं निवारणीयम्. नच रोदनकारकेन कटुकेन प्रत्याख्यानेन किमपि फलम्! अथवा पाणिनीयाध्यापको हि कश्चन सुगुरुः एतादृशेन उपासनीयः. यः पुनः ''**कारकत्वञ्च क्रियान्वित-विभक्त्यर्थान्वितत्वम्. क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं 'करण'संज्ञं स्याद्. यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिः तत् प्रकृष्टं बोध्यम्. यथा रामेण बाणेन** हतो **बाली. अत्रहि बाणनिष्ठव्यापाराव्यवधानेन प्राणवियोगरूपक्रियानिष्पत्तेः 'करण'संज्ञा. कारकत्वेन च अन्वयि कारणं साधनम्**'' (न्या.को.) इत्येवमादिकं किमपि एतान् सामान्यशास्त्रानभिज्ञान् बालान् पाठयेत्!

तस्मात् 'तनुज'-'वित्तज'पदयोस्तु द्वन्द्वसमासे 'तनुजवित्तजा' इत्येव समस्तं पदं स्याद्, यथाच विमर्शएव स्वयमेव अभ्यूहितम् (पृ.११९).

किञ्च परिभाषेन्दुशेखरे ''**ननु वृद्ध्यादिसंज्ञाः समुदाये स्युः अतः आह 'प्रत्येकं वाक्यसमाप्तिः', 'देवदत्तादयो भोज्यताम्' इत्यत्र भुजिवत्. ननु एवं**

संयोगसंज्ञा-समाससंज्ञा-ऽभ्यस्तसंज्ञाअपि प्रत्येकं स्युः. अतः आह '**क्वचित् समुदायेऽपि**', '**गर्गाः शतं दण्ड्यताम्... इत्यादौ दण्डनवत्. लक्ष्यानुरोधेन च व्यवस्था**'' (परि.शेख.३।११६-११७.द्रष्ट. : पातं.म.भा.२।१।१) इति प्रत्येकयोः पदयोः 'समास'संज्ञा निषिद्धैव. तेन इतरेतरयोगसमाहरार्थकताम् अतिक्रम्य पुनः समुच्चयार्थकताबोधनेतु द्वन्द्वसमासएव अनुपपद्येत इति किं-केन सम्बद्ध्यते?

नच * ''**लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः**'' (पाणि.सू.१।४।९०) इति सूत्रे 'प्रति'-'परि'-'अनु'उपसर्गानां लक्षणादिषु प्रत्येकमेव अभिसम्बन्धद्योतनात्, तथाच ''**'छत्रोपानहप्रियः'... समुदायवृत्तौ अवयवानां मा कदाचिद् अवृत्तिः भूद् इति... इहहि द्वौ पक्षौ वृत्तिपक्षः च अवृत्तिपक्षः च**'' (पाणि.सू.वा.भा.२।१।५०) इति वार्तिकभाष्येऽपि 'छत्रोपानहौ'इति पदयोः प्रत्येकेन सह अभिसम्बद्धं 'प्रियः'इति पदम् अवधारितमेवेति ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बद्ध्यते'' इति नियमस्यापि काचन गतिस्तु वक्तव्यैव * इति वाच्यं, यतः क्वचिद् इत्थम् अन्वयस्य शक्यतया सर्वत्र सएव नियमो न अनुसन्धातव्यो भवति. नहि रामकृष्णदासेन सह यथाविधिः उद्वाहिता कन्या ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बद्ध्यते'' इति नियमापराधेन रामदासस्येव कृष्णदासस्यापि भार्या मन्तुं शक्या. कुतो न? इति चेत् ननु सैव प्रष्टव्या! तस्माद् ''**वित्तं दत्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा च कृता अपरा इति एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तपदम्**'' (सि.मु.वि.२) इत्यादिविवरणोपलम्भादेव 'जा' इति पदस्य प्रत्येकेन 'तनु'पदेन च 'वित्त'पदेन च अन्वयो अकल्प्यएव. तस्मादेव नेह इतरेतरयोगः परन्तु समाहारद्वन्द्वएव अभ्युपगन्तव्यः. किमतो यद्येवं? एवंनु स्यात् यस्य कस्य तनुवित्ताभ्यां जातापि सेवा न तनुवित्तजा भवेदिति. अतः स्वस्य तनुवित्तयोर्हि समाहारेणैव जाता तनुवित्तजा इति अभिप्रेयतुः मूलविवृतिकारौ.

अन्यथा एतादृङ्नियमस्य आत्यन्तिकानुरोधेतु इदं तावद् आलोचनीयम् : द्वन्द्वान्ते श्रुतं पदं किं द्वन्द्वघटकेन प्रत्येकेन पदेन समस्तपदे अभिसम्बद्ध्यते? उत द्वन्द्वपद-तदन्तपदयोः समासविग्रहरूपे वाक्ये? आहोस्विद् द्वन्द्वान्तश्रुत-

पदोपस्थितस्य अर्थस्य द्वन्द्वसमासघटकीभूतपदोपस्थापितेन प्रत्येकेन अर्थेन सह सम्बध्यते ? इति.

न तावद् आद्यो, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं च इति, द्वन्द्वघटकेन प्रत्येकेन च अभिसम्बद्धं च इत्यस्य मिथो विरुद्धत्वात्. न द्वितीयो, द्वन्द्वघटकेन प्रत्येकेन पदेन अन्विते सति द्वन्द्वान्तश्रुतपदे द्वन्द्वान्तताहानेः, इतरेतरयोग-समाहारान्यतरनिमित्तस्य अपाये सति नैमित्तिकस्य द्वन्द्वस्यापि अपायाद् इति. नच कुतोहि इतरेतरयोगापायः इति प्रष्टव्यम्, द्वन्द्वान्ते श्रुतस्य 'जा'इति पदस्य 'तनु'पदेन च 'वित्त'पदेन च सह समासे सति 'तनुवित्त'पदयोः इतरेतरयोगे सामर्थ्यापहरात्. अथ शाब्दबोधे 'जा'पदस्य 'तनु'पदेन च 'वित्त'पदेन च संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते इति अंगीकारे तादृशबोधजननाभिप्रायके वाक्ये द्वन्द्वसमासस्य अप्रसक्तत्वेन 'तनुज'-वित्तज'द्वन्द्वस्यैव तत्र औचित्यात् च.

नच * ''धवखदिरौ छिन्धि'' इति वाक्ये समानायां छेदनक्रियायां धवस्य च खदिरस्य च अन्वयो अवश्यम् अभ्युपेयो, नहि उपर्यधःस्थितयोः वा इतरेतरपार्श्वस्थितयोरेव वा तयोः छेदनविवक्षा, छेदनमात्रस्य अभिप्रेतत्वात्. तस्माद् विभिन्नदेशकालावस्थिताभ्यां जायमानाभ्यामपि उद्यमननिपातनरूपाभ्यां क्रियाभ्यां धवस्य च खदिरस्य चापि छेदने न कापि हानिः. तथैव इहापि तनुजया क्रिययेव वित्तजया क्रियया चापि भगवत्सेवने का हानिः भवित्री? * इति वाच्यं, तेहि एते क्रिये एककर्तृके चेद् घट्टकुट्यां प्रभातो; अथ, अनेककर्तृके चेद् अन्यस्य वित्तस्य स्वीयभगवद्भजने विनियोगस्य विवृतिकारैः प्रभुचरणैः निर्दिष्टः **''एतेन भगवदर्थं निरुपधिस्वसर्वस्वनिवेदनपूर्वकं तत्रैव स्वदेहविनियोगे प्रेम्णि जाते सा भवति इति भावः''** (सि.मु.वि.२) इति स्वतनुवित्तविनियोगनियमो बाध्येत.

तस्मात् तृतीयः कल्पो द्वन्द्वसमासघटकीभूतोभयपदोपस्थापितेन प्रत्येकेन अर्थेन सह द्वन्द्वान्तश्रुतपदोपस्थापितो अर्थः सम्बध्यते इति अंगीक्रियते चेत् तदा ओमिति ब्रूमः. तस्यतु 'प्रसक्तप्रतिषेध'न्यायेन द्वन्द्वसमासेनापि प्रतिषेधार्थम् अपेक्षणादेव. अन्यादृशी हि समस्तपदोपस्थापितपदार्थयोः आकांक्षा अन्यादृशी च विग्रहवाक्ये पदद्वयोपस्थापितपदार्थयोः. अतो उभयवैजात्यादेव न आचार्यचरण-प्रभुचरणोपदिष्टस्य

व्याहतिः. तदपि उक्तं ''**प्रथमाविभक्त्यन्त**'**घटा**'दिपदसमभिव्याहृत-**प्रथमान्त**'**नीला**'-**दिपदत्वमेव असमस्त**'**नीलघट**'पदाद्यांकाक्षा. समासस्थलेच 'घट'पदाद्यव्यहितपूर्वव-**र्ति**'**नीला**'**दिपदत्वं** 'नीला'दिपदाव्यवहितोत्तरवर्ति'घटा'दिपदत्वं वा आकांक्षा'' (व्युत्प.वा.कार.प्रथ.) इति. तस्मादेव 'शब्द-शब्दार्थौ' इत्यत्र द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं 'अर्थ'पदं नहि पूर्ववर्तिना 'शब्द'पदेन सम्बध्यते. नच *विषमोऽयं दृष्टान्तो द्वन्द्वघटकीभूतयोः 'शब्द'-'शब्दार्थ'पदयोः समासे सति समस्तं पदं 'शब्दशब्दार्थ'रूपं तदन्ते च श्रूयमाणं द्विवचनप्रत्ययोपस्थापितं द्वित्वन्तु 'शब्द'पदेन च 'शब्दार्थ'पदेन च प्रत्येकमेव अभिसम्बध्यतएव* इति वाच्यं, नहि एतद् द्वित्वं प्रत्येकपदवृत्ति चतुष्ट्वापत्तिप्रसंगात् पर्याप्तिवृत्त्यातु पदद्वयोपस्थाप्यार्थवृत्तित्वात् च.

तस्मात् 'तनुवित्त'पदस्य समाहारार्थकत्वम् अकामेनापि अंगीकार्यमेव. अंगीक्रियमाणेच या विवक्षिता क्रिया सा न तन्वा जाता नापि वित्तेन जाता प्रत्युत स्वीयतनुवित्तयोः समाहारेणैव जाता स्वीकरणीया. यस्माद् एतस्मिन् कल्पे तनुवित्तेतु विशेषणीभूते एतयोः समाहारेण विशेष्यीभूतेन जातैव क्रिया 'तनुवित्तजा' इति उच्यते, विशेषणं विशेष्येण अन्वेति विशेष्यञ्च क्रियया इति नियमात्.

यत्तु अस्मदीयेन केनचिद् पूर्वापरशब्दानुपूर्वीम् अनवधार्यैव भक्तिवर्धिन्याः वचनम् अत्र उदाहृतं, तत्तु अव्यापारेषु व्यापारव्यसनिनो वानरस्य कीलोत्पाटनचेष्टारूप-मेव अवगन्तव्यम्.

तथाहि व्यावृत्तिक्लिष्टो जनो यदा स्वगृहे भगवत्सेवां निर्वोढुं न शक्नोति तदा नवविधभक्त्यंगभूतेषु श्रवण-कीर्तन-स्मरणेषु तेन प्रयतितव्यम् इति उक्त्वा, तैः श्रवणादिभिरपि भक्तिबीजभावस्य प्रेमासक्तिव्यसनेषु विकासः सम्भवति इति समाश्वास्य च, तादृग्व्यसनभावापन्नस्यापि स्वगृहे भगवत्सेवाभावात् गृहस्थानं विनाशकं भवति इति आहुः ''**तादृशस्यापि सततं गेहस्थानं विनाशकम्** (इति गृह)**त्यागं कृत्वा यतेद् यस्तु... (स) लभते सुदृढां भक्तिं... त्यागे(ऽपि) बाधकभूयस्त्वं... अतः स्थेयं हरिस्थाने... सेवायां वा कथायां वा यस्य आसक्तिः दृढा भवेद्**

(तत्समाधानम्)

तत्र इदम् उच्यते—

(श्रुतिस्मृतिसदाचार-सिद्धत्वात् सर्ववृत्तिषु॥
गुरुत्वेऽप्यमृताख्यैव निर्दुष्टा वृत्तिरिष्यते॥४॥
स्वसम्प्रदायशिष्यैस्तु स्वपादोपान्तिकन्तु यद्॥
ह्युपानीतं तदेवात्र ग्राह्यं सदुपदेष्टृभिः॥५॥)

काण्वानां बृहदारण्यके षडाचार्यब्राह्मणे जनकेन दाने आरब्धे याज्ञवल्क्येन शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य इति स्वस्य नियमो दर्शितो "'**हस्त्यृषमं सहस्रं ददामि' इतिह उवाच जनको वैदेहः स ह उवाच याज्ञवल्क्यः 'पिता मे अमन्यत न अननुशिष्य वित्तं हरेत**'" (बृह.उप.४।१।२-७) इति श्रुतिः.

यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम" (भ.व.६-९) इति वाक्ययोजना. सुस्पष्टम् इह पूर्वन्तु स्वगृहएव भगवत्सेवा कर्तव्या, तदसम्भवे अनुकल्पतया भगवत्कथा, तयाच भक्तिव्यसनावस्थासम्पत्तौ गृहत्यागानुज्ञा, तत्र बाधकसम्भावनायां भगवत्सेवाकथापरैः तदीयैः सह अदूरे वा विप्रकर्षे वा स्थित्वा भगवतः सेवायाः वा कथायाः वा इति क्रमानुरोधि अनुष्ठानं समुपदिष्टम्. यतः तदन्यतरावलम्बनेऽपि न काचिद् नाशसम्भावना इति निजाचार्याणाम् अभिमतिः. सति चैवं सेवाभगवतोः दर्शनाय गोस्वाम्यावासे समागतानां धनप्रदायकानां यदि व्यसनावस्था न सिद्धा चेत् तदा तेषां कृते गोस्वामिगृहे सेवाभगवतोः दर्शनं व्यसनदशातः पूर्वम् अविहितमेव. विहितस्तु गृहत्यागएव. अन्यथा धनेहया स्वभगवत्प्रदर्शनं कुर्वाणैः देवलकैरपि स्वगृहे सेवाकरणे तेषामपि विनाशो ध्रुवइति तैरपि स्वगृहं त्यक्त्वा अन्यत्र क्वचन गन्तव्यं धनप्रदानाय इति समानो योगक्षेमः. तैस्तु न गम्यते चेत् तदा अन्येषां कृतेऽपि तद् अनावश्यकमेवेति अलं अर्थकामनामूढोक्त्यनुसन्धानेन!

तस्माद् न तावत् पुष्टिमार्गे भगवत्सेवा वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारयितुं शक्या नापि स्वपरिवारेतरस्य कस्यचन वित्तदातुः वित्तं स्वभगवत्सेवायां

विनियोगार्हं, देवलकत्वापादकत्वादेव. तद् उक्तं "**अपरञ्च दाने हि न स्वविनियोगो नतु निवेदने**", "**भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्. तत् क्लिष्टं त्रिविधं : लोकक्लिष्टम् आत्मक्लिष्टं चित्तक्लिष्टं च इति. अतो अक्लिष्टं निरूप्यते... सन्मार्गोपार्जितं न अन्येषां भागरूपं... इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्**" (न.र.प्र.१, त.दी.नि.प्र.२।२३६). तदेतद् सिद्धान्तमुक्तावल्यां नवरत्नविवृतिप्रकाशयोः जलभेदविवृतौ सर्वनिर्णयनिबन्धप्रकाशावरणभंगेष्वपि प्रतिपादितमेव. धनेहामूढानां कृतेतु तत्रेव अत्रापि सिद्धान्तावगतिश्रद्धाविश्वासराहित्यादेव पुनरुक्तौ न किञ्चिदपि प्रयोजनमिति अभिसन्धाय स्वसम्प्रदायसिद्धां श्रौतरूढिमेव पूर्वोत्तरपक्षाभ्यां विचारयितुं प्रक्रमन्ते **तत्र इदम् उच्यते** इत्यादिना. इह "**श्रुतिस्मृति...**" इत्यारभ्य "**...सदुपदेष्टृभिः**" इत्यन्तं यावत् कारिकाद्वयं मया योजितम्.

तथाहि यत् तावद् आक्षिप्तं प्रमाणाभावः इति तत् निरसितुं श्रुतिं प्रमाणयन्ति **काण्वानाम्** इत्यारभ्य **इति श्रुतिः** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन. एतेन शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्य इत्यस्मिन् अंशे श्रुतिरेव प्रमाणम् इति दर्शितं भवति.

ननु *एवं श्रुतिवचनोपन्यासेऽपि पुष्टिमार्गीयाणां गुरूणां वृत्तिः श्रुतिसिद्धा इति वक्तुं न साम्प्रतं, यस्मात् श्रुत्यातु उपनीतशिष्याध्यापकानामेव गुरूणां वृत्तिः उपदिष्टेति. पुष्टिमार्गीयाः गुरवस्तु नहि उपनीतानां द्विजानां गुरवो भवन्ति. नापि श्रुत्यादिशास्त्राध्यापनेन स्वेषां गुरुत्वम् अभिप्रयन्ति. प्रायस्तु निजेष्टदेवाराधनाम् अर्थोपार्जनायैव अनुतिष्ठन्तः, क्वचिद् नैवंकुर्वन्तोऽपि, श्रुत्यादिषु अनुपलब्धयोः अष्टाक्षरब्रह्मसम्बन्धमन्त्रयोः दीक्षाप्रदानेन, आत्मनो गुरुत्वं भावयन्ति. श्रौतं हि गुरुत्वन्तु तावद् आचार्योपाध्यायगुर्वर्त्विजां प्रभेदेन नैकविधं तत्र कतमोऽपि पुष्टिमार्गीयोपदेशको भवितुं नार्हति. तथाहि मनुस्मृतौ —

"उपनीयतु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तम् 'आचार्यं' प्रचक्षते॥
एकदेशन्तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
यो अध्यापयति वृत्त्यर्थम् 'उपाध्यायः' स उच्यते॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति च अन्नेन स विप्रो 'गुरुः' उच्यते॥
अग्न्याधेयं पाकयज्ञान् अग्निष्टोमादिकान् मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्य 'ऋत्विग्' उच्यते॥''

(मनुस्मृ.२।१४०-१४३) इति.

ततश्च उपनयनपूर्वकगायत्रीदीक्षाप्रदानं सकल्पसरहस्यवेदानां च अनध्यापनं वल्लभवंशजानाम् आचार्यत्वाभावे हेतुः. वृत्त्यर्थिनो हि वेदैकदेशोपदेशकाः वेदांगोपदेशकाः वा उपाध्यायाः भवन्ति, नहि तादृशाअपि पुष्टिमार्गीयगुरवो भवन्ति. कथञ्चिद् विप्रत्वोपपत्तावपि नहि पुष्टिमार्गीयाः गोस्वामिनः स्वपुत्रानेव दीक्षयन्ति प्रत्युत वर्णाश्रमिणइव वर्णाश्रमरहितानपि शिष्यीकुर्वन्तः कथंनु वैदिकगुरुत्वं स्वेषां प्रतिपादयेयुः? नचापि आर्त्विज्यं प्रतिपादयितुं शक्यं वैदिककर्मणाम् अकारणात्. अन्यथातु आर्हतेषु पञ्चनमस्करणीयेषु **''णमो आयरियाणं णमो उवज्झाणं''** इत्येवं नमस्करणीययोः आचार्योपाध्याययोः विषयेऽपि श्रुतेः प्रामाण्यापत्तिः दुर्वारा स्यात्. तस्मात् श्रुत्युदाहरणेऽपि न पुष्टिमार्गीयगुरूणां वृत्तिविषये श्रुत्यादयो प्रामाण्यं भजन्ते, इति प्राप्ते —

ब्रूमः : कुत्र तावत् श्रुतेः प्रामाण्यं कुत्र च न इति अग्रे व्युत्पादनीयम्. मानववचनानान्तु गुर्वाचार्ययोः न अव्याप्त्यादिदोषवर्जितलक्षणवर्णने अभिप्रायः परन्तु प्रायोवादम् आश्रित्य तेषां कर्तव्यनिरूपणएव तात्पर्यम् अंगीकार्यम्. यस्मात् क्वचिद् **''उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकं वेदम् अध्यापयेत्...''**, **''उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचम् आदितः''** (याज्ञ.स्मृ.१।२।१५, मनुस्मृ.२।६९) इत्येतयोः वचनयोः उपनयनपूर्वकवेदाध्यापकोऽपि गुरुत्वेनैव निर्दिष्टः. क्वचित् पुनः निषेकादिकर्मकर्ता उपनीय च स्वात्मजं वेदम् अध्यापयन् जनकपितैव गुरुत्वेन निरूप्यते **''निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि सम्भावयति च अन्नेन स विप्रो 'गुरुः' उच्यते''**,**''स गुरुः यः क्रियां कृत्वा वेदम् अस्मै प्रयच्छति''** (मनुस्मृ.२।१४२, याज्ञ.स्मृ.१।२।३३) इति. क्वचित्तु अजनकोऽपि गुरुः वेदस्य

वेदयोः वेदानां वा अध्यापकः आचार्यत्वेन "उपनीय ददद् वेदम् आचार्यः **स उदाहृतः", "गुरवेतु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया", "षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवैदिकं व्रतं... वेदान् अधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्"** (याज्ञ.स्मृ.१।२।३३, १।३।५१, मनुस्मृ.३।१-२) इति वर्णितः. महर्षिः यास्कस्तु पुनः **"आचार्यः आचारं ग्राहयति, आचिनोति अर्थान्, आचिनोति बुद्धिम् इतिवा"** (निरु.निघ.१।२।२) इति उपनयदीक्षां तत्र न नियतां गणयति. एतेन सर्वेऽपि आचार्याः गुरवस्तु भवन्ति परन्तु सर्वे गुरुभूताः 'आचार्य'पदभाजो न भवन्ति इति प्रतीयते. नच सर्वत्र उपदेशे उपनयननैयत्यम् **"अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्य उपकरोति यः, तमपि इह गुरुं विद्यात् श्रुतोपक्रियया तया. ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः. अध्यापयामास पितॄन् शिशुः आंगिरसः कविः 'पुत्रकाः!' इति ह उवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्... ऋषयः चक्रिरे धर्मं यो अनूचानो सवै महान्"** (मनुस्मृ.२।१४९-१५५) इत्यत्र स्वानुपनीतानामपि ज्ञानोपदेशदानश्रवणाद् गुरुत्वं प्रतिपादितमेव.

तस्मात् पुष्टिमार्गीयगुरोरपि वृत्तिस्वरूपादौ श्रुत्यादयो यथासम्भवं प्रमाणं भवितुम् अर्हन्त्येव. नचापि इह आर्हतसाधारण्यं शंकनीयं, तेषां वेदामूलकत्वाद् तद्विरुद्धकर्मोपदेशकत्वात् चापि भेदात्. नच *एवं सति वेदमूलक-तदविरुद्ध-धर्मोपदेशकत्वेतु गायत्रीमन्त्रोपदेशेन उपनीतानामेव गुरुत्वं कुतो न निर्वहन्ति?* इति वाच्यं, वैदिकदीक्षायां वेदाध्ययने वा कलिकालप्राबल्येन अधिकारनिश्चयस्य दुष्करत्वात्. गीताभागवतयोरपि **"समो अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो अस्ति न मे प्रियो. ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषुचापि अहं... मांहि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः स्त्रियो वैश्याः तथा शूद्राः तेऽपि यान्ति परां गतिं", "किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसाः आभीरकंकाः यवनाः खसादयो ये अन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति"** (भग.गीता.९।२९-३२, भाग.पुरा.२।४।१८) इति प्रतिपादनोपलब्ध्या भगवत्प्रपत्तौ भक्तौ च वा निःशंकं सर्वेषाम् अधिकारित्वनिश्चायनेन भगवदभिप्रायञ्च समूह्य भक्तिप्रपत्तिमार्गीयायां

दीक्षायां च तदनुकूलकर्मबोधने तथाविधतत्त्वोपदेशे च प्रवृत्तिभरो आचार्यैः दर्शितः. तस्माद् एतादृशे गुरुत्वे न हानिः कापि. अतएव वैदिकेऽपि कर्मणि तन्मन्त्रैरपि तथा बोध्यते —

''हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयचन्ते सखायः।
अत्राह त्वं विजहुः वेद्याभिः ओहब्रह्माणो विचरन्ति उ त्वे॥''

(ऋक्संहि.८।२।२४) इति.

स्वोदिते कर्मण्यपि, न्यायतौल्यात् तत्त्वेऽपि वा, शब्दब्रह्मैकज्ञानिनं परित्यज्य ओहब्रह्माणः ऋत्विजः श्रेयसे वरणीयतराः इति प्रतिपादितम्. तत् प्रतिपादितं महर्षिणा यास्केन 'ओहब्रह्माणः' इत्यस्य पदस्य 'ऊहएव एषां ब्रह्म' इति निरुक्त्युपदेशे.

तदेतत् सर्वं हृदि कृत्य आचार्यचरणैः —

''अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः।
स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः तथा आचारपराङ्मुखाः॥
क्रियमाणं तथा आचारं विधिहीनं प्रकुर्वते।
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ताः जिह्वोपस्थपरायणाः॥
व्रात्यप्रायाः स्वतोदुष्टाः तत्र धर्मः कथं भवेत्?
षड्भिः सम्पद्यते धर्मः ते दुर्लभतराः कलौ॥
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत् सदा।
श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति॥''

(त.दी.नि.२।२१२-२१५) इति प्रतिपादितम्.

तस्माद् एतादृशे काले भगवत्प्रपत्तिभक्तिभावावेव सकलजीवनिस्तारकाविति वेदादिशास्त्राभिप्रायविषयकम् ऊहं कर्तुं समर्थानां श्रीमदाचार्याणां तदनुसारिणां च

गुरुणां श्रौतगुरुत्वे न शंकालेशोऽपि.

ननु *काण्वश्रुतौ अननुशिष्य वित्तप्रतिग्रहस्य परस्वापहरणतया बोधनात् मास्तु आधुनिकानां वल्लभवंशजानां परस्वापहारित्वम्. स्वकीयभगवत्समाराधनस्य प्रदर्शने तेषामपि इदमेव प्रयोजनं सम्भवति यत् तदीयावासे आगन्तुकाः सेवाभगवद्दर्शनार्थिनो जनाः गुरुणा अनुष्ठितां भगवत्सेवारीतिं समवलोक्य भगवत्सेवारीतिं विजानीयुः इति. ततश्च तैः देवमूर्तेः संनिधौ असंनिधौ वा कोषभाण्डे निक्षिप्यमाणं द्रव्यं द्रव्यसंग्रहार्थं नियुक्तस्य पुरुषविशेषस्य हस्ते वा प्रदीयमानं द्रव्यादिकमपि न देवद्रव्यम्. यस्माद् गुरुनिवासो गुरुस्वामिकइति तत्र उपायनीकृतं सर्वं गुरुस्वामिकमेवेति गुरुदक्षिणैवेति श्रुतिसिद्धगुरुवृत्तिम् अनुसरताम् आधुनिकानां वल्लभवंशजानां न असदाचरणमिव किञ्चिद् उत्पश्यामः* इति चेद् न, मज्जतः कुशकाशावलम्बनाद् एतद् नातिरिच्यतइति.

सार्वजनिके निजाराध्यभजनप्रदर्शने तावद् दर्शनार्थिजनानां विनैव संकल्पद्योतनेन निक्षिप्तं द्रव्यादिकं किंनिमित्तकं वा किंसम्प्रदानकं वा? दातृप्रतिगृहित्रोः वा तथाविधदानप्रतिग्रहयोः अधिकारो अस्ति नवा? इत्यादिविवेकं विना न कथमपि दोषाद् मुक्तिः. नहि *गुरोः आवासे यदृच्छया अज्ञानेन वा समागतं यत् किमपि तत् सर्वं गुरुस्वामिकमेव भवति* इति मन्तुं युक्तं, विकल्पासहत्वात्. तथाहि दर्शनार्थिभिः निक्षिप्तं द्रव्यं गुरुनिमित्तकं, गुरोः आराध्यदेवो अस्तीति, देवसम्प्रदानकं वा? देवनिमित्तिकं, स्वीयदेवस्य आराधनां प्रदर्शयतीति, गुरुसम्प्रदानकं वा? आद्ये देवद्रव्यत्वानंगीकारे कस्मिंश्चित् शिष्यस्वामिके गृहे तदामन्त्रितेन अन्येन शिष्येन गुरवे प्रदत्तमपि द्रव्यं गृहस्वामिशिष्यस्य स्वामिकं भवेत् न गुरोः. अन्यथा श्रद्धाजडेन केनचिद् कुम्भकारेण गुरुश्रद्धया गुरुस्वामिके गृहे गर्दभोपाहरणे गुरोः गोस्वामित्वापगमेन गर्दभस्वामित्वं ध्रुवलेपायितं स्यात्! द्वितीयेतु निजदेवनिमित्तकद्रव्यांगीकारपूर्वके स्वोपभोगेतु देवलकत्वापत्तिः वज्रलेपायिता, दर्शनार्थिनो द्रव्यं ददतीति निजदेवः प्रदर्श्यतइति. पुष्टिमार्गे हि भगवत्सेवार्थं **''वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका—एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा.**

एतादृश्यौ ते ...न्याधिके **न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तपदम्**' (सि.मु.तत्रैव) इति आज्ञापयद्भिः प्रभुचरणैः भगवत्सेवार्थं वित्तस्य दानप्रतिग्रहौ प्रतिषिद्धाविति तदधिकारनिवृत्तौ न दातुः नवा प्रतिगृहीतुः वा अधिकारकल्पना शक्या. नच भगवत्सेवार्थं द्रव्यं न प्रतिगृह्यते किन्तु भगवत्सेवापरस्य गुरोः गुरुत्वनिर्वाहायैव इत्यपि साम्प्रतम्. सार्वजनिके देवप्रदर्शने सर्वे स्वशिष्याएव आगच्छन्तु इति नियमासम्भवात्. भगवद्दर्शनार्थं समागतानां शिष्यत्वाभावेतु यस्य कस्यापि द्रव्यग्रहणे प्रत्यवायश्रवणात्. तद् उक्तं—

''न द्रव्याणाम् अविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्याद् अवसीदन्नपि क्षुधा॥
न राज्ञः, प्रगृह्णीयाद्, अराजन्यप्रसूतितः।
सूना-चक्र-ध्वज-वतां वेशेनैव च जीवताम्[१]**॥**
अयाचिताहृतं ग्राह्यम् अपि दुष्कृतकर्मणो।
अन्यत्र कुलटाषण्डपतीतेभ्यः तथा द्विषः॥''
(मनुस्मृ.४।१८७,८४ याज्ञ.स्मृ.१।९।११२) इति.

द्रव्याणां प्रतिग्रहे क्षुधा अवसीदन्नपि प्राज्ञः धर्म्यं विधिम् अविज्ञाय प्रतिग्रहं न कुर्याद् इति सम्बन्धः. तस्मात् स्वकीयस्य भगवद्भजनस्य प्रदर्शनपराणां दर्शनार्थिजनधनप्रतिग्रहः पातित्यकारकएव. नहि पतीतानां च वेदादिशास्त्रोक्तकर्मोपदेशे, तदुक्ततत्त्वरूपपरब्रह्मोपदेशे वा दीक्षया सम्बन्धस्थापने वा अधिकारः. अतोहि आचार्यचरणैः एतन्मार्गीयगुरुवीक्षायै **''कृष्णसेवापरत्वे सति दम्भादिरहितत्वे सति श्रीभागवततत्त्वज्ञत्वम्''** (त.दी.नि.२।२२७) इति लक्षणं निर्दिष्टम्. तदात्मजैरपि **''माहात्म्यज्ञानपूर्वो हि सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः तया मुक्तिः नच अन्यथा. माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणां शास्त्राणाम् उपयोगो अत्र तत्र आकांक्षा गुरोः भवेद्''** (सा.दी.८-९) इति निरूप्य स्वजनकोक्तलक्षणमेव

१.पशुघातेन मांसविक्रयं, तैलविक्रयं मद्यविक्रयं वा ये कुर्वन्ति तेषाम् आजीविकाभिः उत याः हि पण्यस्त्रियो भवन्ति तासां भृतिः वेशः तदाजीविकया वा उपजीवनं न कर्तव्यम् इति अर्थः.(गो.श्या.म.).

प्रदर्शितम्. एतेन न निजाराधनाप्रदर्शनपरेण गुरुणा भाव्यं प्रत्युत शिष्याधिकारानुसारेण शास्त्रोक्तकर्तव्यतत्त्वान्यतरोपदेशपरेणैव भाव्यम् इति सिद्ध्यति. अन्यथा स्वभजनप्रदर्शनेन आजीविकोपार्जने हि ध्रुवं दाम्भिकत्वम्. तद् उक्तं ''**लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्वदेवलकत्वादिसम्पादकत्वात् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्ध-प्रकारेण**'' (सि.मु.वि.प्र.१६) इति पुरुषोत्तमैः.

इह एतस्मिन् लक्षणे 'कृष्णसेवापरत्वं' तावत् पुष्टिमार्गे गुरोः स्वरूपयोग्यताधायकं, 'दम्भादिरहितत्वं'तु गुरोः स्वरूपनिर्वाहकं तथैव 'श्रीभागवततत्त्वज्ञत्वं' गुरोः फलमुखयोग्यताधायकम् इति विवेकः. तस्माद् द्रव्योपार्जनार्थं दम्भेन कृष्णसेवापरत्वे भागवतोपदेशपरत्वे वा पुष्टिभक्तिहानेः गुरुत्वाधिकारच्युतिरेव.

नच *एतल्लक्षणोपदेशिकायां ''**कृष्णसेवापरं वीक्ष्य**'' (त.दी.नि.२।२२७) इति कारिकायामपि गुरुत्वेन वरणीयस्य पुरुषस्य कृष्णसेवापरतावीक्षणं कृष्णसेवावीक्षणएव पर्यवस्यत् कृष्णसेवाप्रदर्शनावश्यकतां प्रसाधयति. अतएव आचार्यचरणानां ''**जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत्... सर्वलक्षणसम्पन्नो गुरुः**'' (सर्वो.स्तो.१२-१३) इति नामानि तदात्मजैः पठितानि. तस्माद् आचार्यवंशजैरपि तथैव भवितव्यम्* इति वाच्यं, यस्माद् ''*गृहस्थं ब्राह्मणं वीक्ष्य तौ दम्पती आमन्त्र्य*'' इति आदिष्टस्य अनुचरस्य न जातु तयोः दम्पत्योः प्रणयक्रीडावीक्षणं धर्म्यम् इति युक्तं वक्तुम्. नापि ''**एवंगुणत्वेऽपि ब्रह्मचर्याविप्लवेन यत्नात् परीक्षितः पुंस्त्वे, एवं स्त्रियो स्त्रीत्वे परीक्षणीया**'' (या.बा.१।३।५५) इति याज्ञवल्कीयबालक्रीडायां वरकन्यापरीक्षणयोः उक्तत्वेन वरकन्ययोः योनिपरीक्षणं शिष्टपरम्परानुमतं दृश्यते. वस्तुतस्तु गुरुत्वेन विवरिषणीयः पुरुषो निजभगवत्सेवायाः अनुष्ठानं दम्भकामलोभपूजार्थं करोति न वा इत्येवमाकारकमेव वीक्षणम् इह विवक्षितं नतु सेवायाः. आस्तां तावद् वीक्षणं बहुला हि भगवत्सेवा पटाभ्यन्तरेव अनुष्ठीयते नच तत्र दर्शनार्थिजनानां प्रवेशो अनुमतः, प्रदर्शितातु जनेभ्यो भगवत्सेवा अल्पीयस्येवेति न तया कृष्णसेवापरत्वनिश्चयः सुलभो, पटाभ्यन्तरेतु सवैतनिकैः भृत्यैरेव सेवा सम्पाद्यतइति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः. तद् उक्तं

''**मूले 'दम्भादि' इति 'आदि'पदेन कामलोभपूजाः संगृह्यन्ते**'' (त.द.नि.आ.२।२-२७) इति आवरणभंगे. आचार्यचरणानां 'जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृद्' इति नाम्नः सप्तटीकाः वर्तन्ते तत्र नैकस्यामपि आचार्यचरणैः जनप्रशिक्षणार्थं स्वसेव्यस्य सेवायाः प्रदर्शनं कृतम् इति उपलभ्यते. वस्तुतस्तु स्वस्य श्रीकृष्णास्यस्वरूपत्वेन कृष्णसेवानुष्ठानम् अनावश्यकमपि पुष्टिजनशिक्षणार्थं स्वयं कृतवान् इत्येव आशयः, ''**आचिनोति हि शास्त्रार्थान् स्वयम् आचरते तु यः, शिष्यान् ग्राहयते यस्माद् तस्माद् 'आचार्यः' उच्यते**'' इति अभियुक्तोक्तिः अत्र प्रमाणम्. नहि आचार्यचरणैः स्वभजनप्रदर्शनं अस्वीयभक्तानां पुरतः कृतम् इति कल्पयितुमपि युक्तं यतोहि—

> ''**भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इत्येतदाशयेन ते धर्माः उक्ता. गोपने मुख्यहेतुम् आह 'अन्वयाद्' इति. यतो भगवता समम् अन्वयं=सम्बन्धं प्राप्य वर्तते, अतो हेतोः तथा... एतेन यावद् अन्तःकरणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव बहिः आविष्करणं सम्भवति, प्राकट्येतु न तथा सम्भवति इति ज्ञापितम्**'' (ब्र.सू.वा.भा.३।४।४९).
>
> ''**स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेत्**''(साध.दीपि.१०८).
>
> ''**११.अपराधो : अवैष्णवस्य स्वसेवाप्रदर्शनम्. फलं : वार्षिकसेवानिष्फलत्वम्**'' (६६ अपराधाः).
>
> ''**तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठाप्रसिद्धये...**'' (शिक्षाप.१८।१२).

इत्येवमादिषु प्राचां वचनेषु एतादृशाः प्रतिषेधाः नोपलभेयुः. अत्र स्वीयान् भक्तान् प्रदर्शयेद् अवैष्णवान् न प्रदर्शयेत्. स्वीयाअपि अभक्ताः चेत् न तान् प्रदर्शयेत्. 'स्वीयत्वे सति भक्तत्वं' हि स्वस्य सेवाभगवतोः दर्शने अन्येषाम् अधिकारितानिमित्तम्. तथैव तान् प्रति प्रदर्शनेऽपि न कस्यचित् फलस्य कामनया नापि प्रदर्शनेन वा ते द्रव्यादिकं प्रयच्छेयुः इति हेतोः वा. नापि सेवानिर्वाहसौकर्येन

श्रीभागवते तृतीयस्कन्धेच "**यज्जाताः सह वृत्तिभिः**" (भाग.पुरा. ३।६।-३४) इति स्वस्ववृत्ति-सहित-वर्णोत्पत्तिकथने ब्राह्मणस्य सहजा वृत्तिः शिष्याद् ग्रहणरूपैव उक्ता —

"मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह!
यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः॥"
(भाग.पुरा. ३।६।३०)

इत्यत्र उन्मुखत्वाद् गुरुत्वकथनं वृत्तिप्रदर्शकम्, उपदेशावसरे सर्वेषाम् अरिक्तपाणीनां वर्णानां नीचीनमुखत्वेन गुरोः उच्चमुखत्वात्.

स्वस्य वा स्वकीयानामपि वा प्रसादानुभोगे आजीविकोपार्जनायासमुक्तिसौलभ्यम् इति वा दुर्भावनया. नापिच प्रतिष्ठाप्रसिद्ध्यवाप्तये सेवाभगवतोः प्रदर्शनम्. भगवतोहि हृदि अन्तःस्थितत्वे नैवं सम्भवति इति सकलवचनानां समुदिताभिप्रायः.

इह अविमृष्टवादी विमर्शकारस्तु वदति : नैते निषेधाः सेव्यस्य भगवद्विग्रहस्य तस्य सेवायाः वा प्रदर्शनप्रतिषेधपराः किन्तु सेवकस्य भक्त्यात्मकानां स्वसेव्यविषयकगूढभावानां प्रदर्शननिषेधएव तात्पर्यम् इति.

अत्र ब्रूमः : भगवत्स्वरूपस्य तत्सेवायाः सेवानुकूलसामग्र्याः चेति सर्वस्य भावात्मकत्वे अंगीकृतेऽपि सेवैव येषां भक्तिभावरहिता चेत् कामं प्रदर्शयन्तु देवलकाः! येन भगवत्स्वरूपोऽपि क्रय्यभावम् आपद्येत. अन्यथातु सेवाप्रदर्शनं भावप्रदर्शनमेव.

यस्मात् पुष्टिमार्गे भगवत्स्वरूपः तद्भजनस्वरूपः तत्र अपेक्षिताः भगवल्लीलाभावनादयः च इति सर्वमपि श्रीमद्भागवतपीयूषसमुद्रमथनक्षमैः आचार्यचरणैः उद्भावितमिति भागवतवचनानुरोधेनैव गुरोरपि वृत्तिं निर्धारयितुम् आहुः **श्रीभागवते** इत्यारभ्य **उच्चमुखत्वाद्** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन. एतेन यदि गुरुः भागवततत्त्वज्ञः चेत् कथम् भागवतोक्ताद् विपरीतां वृत्तिं समाश्रयेत्? किञ्च

एकादशस्कन्धे च ब्राह्मणवृतीः उपक्रम्य-

“प्रतिग्रहं मन्यमानस् तपस्तेजोयशोनुदम्।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलाद् वा दोषदृक् तयोः॥”
(भाग.पुरा.११।१७।४१) इति भागवतोक्तम्.

राजसबुद्धेः तामसबुद्धेः वा दाम्भिकगुरोः वा वृत्तिः भागवतानुसारिणी न चेत् स कथंकारं श्रीमद्भागवतोक्तां निर्गुणां भक्तिं निर्वोढुं शक्नुयाद्? यथाच—

“मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिः अविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसो अम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य हि उदाहृतम्।
अहैतुकी अव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामिप्यसारूप्यैकत्वमपि उत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जानाः॥
सएव भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिकः उदाहृतः।
येन अतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावाय उपपद्यते॥”

(भाग.पुरा.३।२९।११-१४)

इत्यत्र निरूपिता. तस्माद् यदि पुष्टिमार्गीयाः गुरवो अभागवतज्ञाः चेत् न तेषु गुरुपदार्हता, यदितु भागवतोपदेशकाः चेत् तदा कुतो न भागवतोक्तां वृत्तिम् उपजीवेयुः? तस्मात् सर्ववेदान्तसाररूपस्य श्रीमद्भागवतस्य सर्वसन्देहवारकत्वेन एतदर्थोपोद्बलनाय तद्वाक्यम् अवतारयन्ति **श्रीभागवत...** इत्यादिना **इति भागवतोक्तम्** इत्यन्तेन. एतेन ब्राह्मणस्य सर्ववर्णगुरुत्वेन, गुरुत्वस्य च वृत्तितया शास्त्रेषु अनुमतत्वेन, एकादशस्कन्धीयेन ब्राह्मणवृत्तिनिरूपकेण वाक्येनापि प्रतिग्रहात्मिकायाः वृत्तेरपि त्यागेन स्वशिष्योपढौकितस्य अयाचितस्यैव द्रव्यादेः ग्रहणात्मिका वृत्तिः प्रशस्ता. अशिष्यात् प्रतिग्रहस्य अनुमतत्वेऽपि तपस्तेजोयशोपहार-कत्वं तस्य इति वर्णनात्. शिलेन कुटुम्बिनां निर्वाहस्य दुष्करत्वेन, भृतकाध्यापनस्य गर्हितत्वेन, देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माणां कलिकालदोषेण स्वतो अशुद्धानां

तत्र इदानीं कुटुम्बिनां शिलेन अवर्तमानत्वं जानतां, भृतकाध्यापने प्रतिग्रहे च दोषं पश्यतां, कालस्य यज्ञप्रतिपक्षतां च पश्यतां, पारिशेष्याद् अध्यापनमेव वृत्तौ अवशिष्यते. तेनापि गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति.

यज्ञफलोत्पत्तौ असहायकत्वेन चापि पारिशेष्याद् याजनप्रतिग्रहाध्यापनेषु अध्यापनमेव स्ववृत्तितया स्वीकर्तव्यम् इति निष्कर्षः. नहि अत्र शिष्याणां यजनानुकल्पतया वित्तजसेवा निजगुरोः भगवद्विग्रहार्थम् अनुमता, नापि गुरोः याजनानुकल्पतया तनुजसेवा वा, इति विशेषतो अवधेयम्. तदिदम् उक्तं **'तत्र इदानीम्'** इत्यादिना **'गुरुत्वमेव वृत्तित्वेन फलति'** इत्यन्तं यावत्.

ननु भक्तिमार्गीयगुरोस्तु भगवति भक्तिप्रपत्तीएव हृदये भावनार्हे, तदानुषंगिकाश्च — भगवति सर्वस्वसमर्पणं, भगवत्सौख्ये सुखित्वं, विरहतापो, दैन्यं वा इत्येवमादयो — गुणधर्माः, न पुनः अहंकारजनकानि तपस्तेजोयशांसीति, तेषां हानावपि न भक्तिमार्गे दोषः कश्चन. अतएव तपस्तेजोयशोनिर्वाहिकात्वेन उपदिश्यमाना वृत्तिरपि अभक्तिमार्गीयानां ब्राह्मणानां कृते भवतु न पुनः भक्तानां भक्तिमार्गीयगुरूणां वा कृते* इति चेत् —

तद् असाधु, आचार्यचरणानाम् **''तथा स्ववृत्त्यन्नेन जीवतां सर्वं साध्यम्'',''याममात्रं भगवत्सेवां विधाय पश्चाद् अनिषिद्धेन उपायेन जीवनं सम्पादयेत्. पारम्पर्यजीवनमपि निषिद्धं चेत् तदा त्यक्तव्यम् 'अचौराणाम् अपापानाम्' इति वचनात्''** (त.दी.नि.प्र.२।१८५,२३२) इति उपदेशोपलम्भात्. सर्वस्वसमर्पणमपि स्ववृत्त्योपलब्धस्यैव नतु असद्वृत्त्या उपलब्धस्य तद् उक्तं **''भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्... सन्मार्गोपार्जितं न अन्येषां भागरूपम्''** (तत्रैव.२३६). भगवत्सौख्यमपि यदृच्छालाभसन्तुष्टेन सम्पादितेन भगवत्सुखोपचारेण नतु अन्यथा तद् उक्तं **''अच्छिद्रसेवनात् चैव निष्कामत्वात् स्वयोग्यतः — सेवनं स्वयोग्यानुसारेण नतु अल्पं बहु वा प्रयोजकं — द्रष्टुं शक्यो हरिः सर्वैः न अन्यथातु कथञ्चन''** (त.दी.नि.प्र.२।३१६) इति. सेवापरायणस्य विरहतापो सेवानवसरएव अन्यथा कथापरायणस्यैव स मुख्यो धर्मः तद् उपपादितं निरोधलक्षणस्य आद्ये श्लोकत्रये. दैन्यमपि सेवायां भगवति सुखोपचारसमर्पणे अहंकाराराहित्यरूपं नतु भगवदितरजनेषु

भगवत्सेवार्थं तद्द्रव्याद्यपेक्षारूपं तद् उक्तं "**दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्यएव अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात्?**" (सुबो.१०।६०।२९) इति. तस्मात् पुष्टिमार्गे भगवतो भक्त-प्रपन्नोद्धारके प्रमेयबले निष्ठाव्याजेन भगवतएव आजीविकोपार्जनरूपे जघन्ये कर्मणि विनियोगं कुर्वाणैस्तु भगवतः प्रमाण-प्रमये-साधन-फलरूपाणां चतुर्णामपि बलानाम् अवलम्बनाधिकारिताहानेः सर्वथा त्याज्यैव इयं देवलकवृत्तिः.

यत्तु विमर्शे कर्मदेवलक-कल्पदेवलक-शुद्धदेवलकरूपं भेदत्रयं निरूप्य "**येन केन प्रकारेण विष्णोः आराधनं परं, तस्माद् देवलकत्वन्तु न विष्णुविषये क्वचित्**" (आक.स्थ.अनिर्दिष्टम्) इति कुशकाशावलम्बनं च कृत्वा "**भगवद्वंशजाताः ये ते वै भागवताः... न दोषाय भवेत् तेषां भूत्यर्थमपि पूजनं... भूतिमूलं यजेद् देवं न रक्षापोषणं विना**" (नार.संहि.११।२४-३०) इत्यादिकं स्वेषां आचार्यवंशजातत्वेन रक्षापोषणहेतुके हि येन-केनापि प्रकारेण भगवद्भजने न दोषः कश्चिद् इति उट्टंकितं तद् अलोचनीयं : येषां वंशे गृहीतजन्मतया स्वस्य महाभागवतत्वं स्वीक्रियते तेषां निजाचार्याणाम् उपदेशावहेलनयापि आत्मनो दोषराहित्यम् अभ्युपेयते अथवा शास्त्रानुमततया येन-केनापि प्रकारेण भगवद्भजने मनोभरइति तथा द्योत्यते? आद्ये मूलोच्छेदे न शाखाप्ररोहः. द्वितीये नेदं पाञ्चरात्रागमाभिप्रेतं किन्तु देवलकदुर्वासनाभिप्रेतमेव यथा तथा उपपादितम् अस्माभिः विशोधनिकायाम् इति ततो अवधेयम्.

सर्वथाहि पाञ्चरात्रागमेष्वेव पुरुषोत्तमस्य स्वार्थ-परार्थ-प्रतिष्ठयोः पार्थक्याभ्युपगमेन निजगृहे स्वार्थप्रतिष्ठापितस्य भगवद्विग्रहस्य भजने नान्यद्रव्यादेः उपादेयता. परार्थप्रतिष्ठापितदेवालये भजनप्रकारम् अजानतां साक्षाद् वा भजनाधिकाररहितानां प्रतिनिधितया भगवदर्चने तद्धेतुकदक्षिणांगीकारस्तु आगमोपदिष्टत्वेन अदोषावहः. नच पुष्टिमार्गे गोस्वामिनां निवासे प्रतिष्ठापिताः भगवन्मूर्तयोऽपि परार्थाएव इति अपलपितव्यं स्वाज्ञानाविष्करणात्. तथाहि

"सिन्धुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपिनादिके।
जगतां क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च॥

युक्तञ्च एतद् अनुपकृत्य परस्वग्रहणे ऋणित्वेन बन्धस्य प्रसञ्जनात्. परस्परोपकारे(ण) च श्रेयःप्राप्तेः गीतायां यज्ञप्रसंगे उक्तत्वात् तन्न्यायस्य इहापि शक्यवचनत्वेन निर्ऋणित्वेन बन्धाभावात् च.

किञ्च ऋतोत्तरम् 'अमृता'ख्यायाः अयाचितवृत्तेः उक्तत्वात् तस्यामपि शिष्यस्यैव ग्राह्यं न इतरस्यतु एवं संकोचे तस्याः अतिप्रशस्तत्वसिद्धिः.

संस्थितो वासुदेवस्तु 'परार्थः' इति कथ्यते।
सएव सर्वफलदः सर्वेषां मुक्तिदायकः॥
तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः।
ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्व-स्वसद्मनि।
स्थापितो देवदेवस्तु 'स्वार्थः' इति अभिधीयते॥
पश्वारामगृहक्षेत्रपुत्राद्याः स्वार्थसम्पदः।
<u>तन्मात्रदानात्</u> तद्देवः 'स्वार्थः' सम्प्रकीर्तितः॥
परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्॥''

(श्रीप्रश्नसंहि.५३।१५१-५७) इति.

एतेन स्वार्थप्रतिष्ठापितदेवार्चनाद्यर्थं स्वार्थसम्पदएव दाननियमनाद् अन्येषां द्रव्यादेः निषेधो अर्थलग्नोऽपि आयाति. अन्यथा भेदवैयर्थ्यापत्तेः. नच * स्वार्थसम्पद्दाने **''दाने हि न स्वविनियोगः''** (नव.र.प्र.१) इति वचनेन स्वोपभोगनिषेधाद् अनिवेदितभोगस्यापि निषेधात् च भजनासम्भवेन अशक्योपदेशः * इति शंक्यम्, एतस्मादेव हेतोः अत्र 'दान'पदं समर्पणाभिप्रायकं मन्तव्यम्. **युक्तञ्च एतद्** इति. **अनुपकृत्य** इति, निर्हेतुकेतु परद्रव्यग्रहणे आत्मनः ऋणित्वेन बन्धप्रसंगात् न तथा कर्तव्यम् इति निष्कर्षः. गुरुत्वेनतु मन्त्र-कर्तव्य-शास्त्राद्युपदेशद्वारा शिष्योपकारे सम्पादिते सति अयाचितेन तेन स्वकृतज्ञताद्योतकस्य द्रव्यादेः ग्रहणेतु न कश्चन दोषो मन्तव्यः. तम् एतम् अर्थम् गीतावचनेन उपोद्बलयन्ति **परस्परोपकारे...** इत्यादिना **...बन्धाभावात् च** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन.

किञ्च इति. इदम् अत्र अवधेयम् याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः हि ब्राह्मणवृत्तयः. तास्वपि मृतामृतभेदो भवितुम् अर्हति. तद् उक्तं **''वार्ता-विचित्रा-शालीन**

यायावर-शिलोञ्छनं विप्रवृत्तिः चतुर्धा इयं, श्रेयसीच उत्तरोत्तरा... ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेन वा सत्यानृताभ्यां जीवेत् न श्ववृत्त्या कथञ्चन. ऋतम् उञ्छशिलं प्रोक्तम् अमृतं स्याद् अयाचितं, मृतन्तु नित्ययाञ्चा स्यात् प्रमृतं कर्षणं स्मृतं, सत्यानृतन्तु वाणिज्यं श्ववृत्तिः नीचसेवनम् वर्जयेत् तां सदा विप्रो राजन्यः च जुगुप्सिताम्'' (भाग.पुरा.७।१२।१६-२०) इति. तस्माद् याजनाध्यायपनप्रतिग्रहेषु अयाचितप्राप्तं द्रव्यादिकम् अमृतं भवति. याचितन्तु पुनः मृतम् इति विवेकः. ऋतामृतमृतवृत्तिभिः जीवनाशक्यत्वे शास्त्रे प्रमृत-सत्यानृत-वृत्तिभ्यामपि आजीविकासम्पादनं विप्रस्य कृते अनुकल्पत्वेन विहितम्. आपदि कृषीवलेन वाणिज्येन वा विप्रो जीविकां सम्पादयेद् इति अभिप्रायः. एताभ्यां वृत्तिभ्याम् आजीविकां कुर्वन् यजनाध्ययनदानपरायणो ब्राह्मणो ब्राह्मणएव इति निष्कर्षः. यस्तु भृतकाध्यापको भृतकयाजको वा सतु दुर्ब्राह्मणः इति न तत्र संशयः कश्चित्. इहहि 'श्ववृत्तिः नीचसेवनम्' इत्यत्र 'नीचसेवन'पदेन ब्राह्मणस्य ब्राह्मणेतरभृत्यतानिन्दायां तात्पर्यं बोद्धव्यम्. तेन आधुनिके सार्वजनिकन्यासांगभूतदेवालये देवार्चनेन जीविकासम्पादनपराणां खलु निजाचार्यवंशजानां यदि देवदर्शनार्थिसर्वजनभृत्यता वा तत्प्रतिनिधिभूतन्यासिजनभृत्यता वा सर्वथापि सातु श्ववृत्तिरेव इति न संशयः. अथ देवालये प्रतिष्ठापितदेवविग्रहभृत्यता वृत्त्यर्थम् अभिप्रेता चेत् तदा कथञ्चित् नीचसेवनदोषपरिहारेऽपि **''भगवदर्थे भगवान् न सेव्यतइति न कृष्णः तुष्यति''** (त.दी.नि.प्र.१७) इति न्यायतौल्येन अभक्तिरूपता स्पष्टा. देवसेवार्थमेव देवभृत्यतायां देवालयव्यवस्थाविधाने आवासस्थलान्नवस्त्रादिकं यत् किमपि देवभृत्यपोषणार्थं नियतं ततोऽतिरिक्तं सर्वं देवस्वमिति तेषु यस्य कस्यापि वस्तुनो ग्रहणे देवस्वापहारएवेति स्थितिः.

अस्तु प्रकृतम् अनुसरामः. सर्वासु खलु वृत्तिषु अयाचितवृत्तिः हि अमृतोपमा. तयाच जीवनसम्पादनाग्रहे स्वशिष्यैरेव समानीतस्य द्रव्यादेः ग्रहणव्रते अध्यापनवृत्तिरपि अमृतोपमा भवति. तस्मात् स्वशिष्यैरेव उपानीतस्य ग्रहणम् इति नियमसंकोचे भृशं तत्र प्राशस्त्यं च भवति इति आहुः **किञ्च** इत्यादिना **अतिप्रशस्तत्वसिद्धिः** इत्यन्तेन ग्रन्थभागेन. क्वचिद् **'अपि प्रशस्तत्वसिद्धिः'** इत्यपि पाठः.

किञ्च "**वार्ता-सञ्चय-शालीन-शिलोञ्छइति वै गृहे**" (भाग.पुरा.३।१२।४२) इति उक्तासु चतसृषु गृहस्थवृतिष्वपि वार्तायाः गर्ह्यत्वाद्, अल्पधान्ययाञ्चा [पा.भे.१] (रूप) 'यायावरा'परपर्यायशालीनेन शिलोञ्छेन[१] वा अजीवनात् सञ्चयवृत्तिरेव समीचीना, पूर्वोक्तरीतिकया वर्णवृत्त्यैव प्राप्तस्य सञ्चयात्. "**अनया ते कात्यायन्या अन्तं करवाणि**" (बृह.उप.२।४।१) इत्यादिश्रौतलिंगेन याज्ञवल्क्यादिषु तथा निश्चयात् च. तत्रापि कुसूलधान्यकत्वादिकरणेतु अतिप्रकर्षः. अतएव आचार्यैः अश्वस्तनिकता कृता. तदुत्तरन्तु कुटुम्बबाहुल्येन सञ्चयः इति जानीहि.

एवं दातुः धनग्रहणप्रकारः प्रमाणतः प्रतिपादितइति बीजाभावाक्षेपोऽपि अर्थादेव परिहृतो वेदिव्यः. शास्त्रेषु यद् विहितं तदनुसरणाग्रहएव सर्वत्र बीजं शास्त्रप्रामाण्यवादिनां कृते इति. एतेनैव निष्फलत्वाक्षेपपरिहारोऽपि सिद्धएव. शास्त्रविहितस्य कृत्यस्य निष्फलत्वासम्भवात्.

एवं तावद् अर्थोपार्जनस्य शुद्धं-शुद्धं स्वरूपं प्रतिपाद्य इतः परं तादृक्प्रकारेण उपार्जितस्य द्रव्यस्य सञ्चयः कर्तव्यो नवा? यस्मात् तथाभूतेन सञ्चितेन स्वनिर्वाहेतु अयाचितेन शिष्योपढौकितद्रव्येण आजीविकायाः सम्पादनपरो यो विधिः सः कुण्ठितः स्याद्. अथ अयाचितवृत्त्यैव स्वनिर्वाहव्रते कदाचिद् अप्राप्तौ कदाचित् च प्राप्तौ कुटुम्बिजननिर्वाहो दुष्करएव स्याद् इति किंकर्तव्यविचिकित्सायां समाधानम् आहुः '**किञ्च**' इत्यादिना. "**वार्ता-सञ्चय-शालीन-शिलोञ्छइति वै गृहे**" इत्येतासु चतसृषु गृहस्थवृत्तिषु शालीनेन शिलोञ्छेन च उपजीवनम् अधुना दुरनुष्ठेयमिति वार्तासञ्चयवृत्ती विचारणीये भवतः. तत्र वार्तायाः वृत्तेः अनापदि अंगीकारे निन्दनीयत्वाद् सञ्चयवृत्तिरेव एका अवलम्बनीयेति प्रतिपादयन्ति '**चतसृषु**' इत्यारभ्य '**समीचीना**' इत्यन्तं यावत्. तत्रापि श्रौतलिंगम् उपन्यसन्ति '**अनया**' इत्यादिना. यद्यपि वचनेऽस्मिन् महर्षेः याज्ञवल्क्यस्य गृहे उपदेशादिना उपार्जितस्य द्रव्यादेः

---

१. "**शिलं नाम शाल्यादेः निपतितस्य परित्यक्तस्य परिग्रहणम्. उञ्छस्तु एकैकस्य कणस्य उपादानम्**" इति अन्यस्य कस्यचित् टिप्पणं ग्रन्थमध्ये प्रमादात् प्रक्षिप्तमिव भाति. अतः पुनः अधस्ताद् निवेशः (गो.श्या.म.).

सञ्चयः आसीद् इत्येतत्प्रमापकं पदं किमपि न श्रूयते तथापि मैत्रेयीकात्यायन्योः मध्ये गेहस्थसम्पदो विभाजनप्रतिज्ञारूपलिंगेन उपार्जितद्रव्यादेः सञ्चयः आसीद् इति श्रौतेन लिंगेन अनुमीयते, अर्थप्रकाशनसामर्थ्यस्य लिंगत्वाभ्युपगमात्. तस्मात् स्ववर्णानुरूपशास्त्रविहितवृत्त्या द्रव्याद्यर्जने दोषाभावइव सञ्चयेऽपि न दोषः कश्चन. इहहि कश्चन विशेषम् उपपादयन्ति **'तत्रापि'** इत्यादिना. **कुसूलधान्यकम्** इति, 'कुसूलः' इति इष्टकादिविनिर्मितधान्यादिस्थापनार्हं स्थानम् इति. तत्र यावता अन्नेन वर्षत्रयं स्वस्य स्वकुटुम्बस्य स्वकृत्यस्य वा निर्वाहो भवति तावन्मात्रसञ्चितधान्यो विप्रः कुसूलधान्यकः इति. **अतएव** इति. **'अश्वस्तनिकता'** इति श्वोभवं धान्यादिकं श्वस्तनिकं, न श्वस्तनिकं यत् तद् अश्वस्तनिकं तस्य भावो अश्वस्तनिकताइति, अद्यतनोपयिकः सञ्चयः इति यावत्. सतु प्रशस्ततरः. **आचार्यैः अश्वस्तनिकता कृता** इति, इयम् अश्वस्तनिकता श्रीमदाचार्यचरणैः तीर्थयात्रास्वेव कृता इति प्रतिभाति, निबन्धे (त.दी.नि.२।२४८-२५०) तथा निरूपणात्. भारतप्रदक्षिणात्रयानन्तरन्तु अडेलग्रामे च स्थिरनिवासांगीकारे अश्वस्तनिकताव्रतकल्पनायाः क्लिष्टत्वात्. आचार्यचरणोत्तरकालिकीं सदाचारप्राप्तां रीतिं वर्णयन्ति **तदुत्तर...** इत्यादिना.

तदिदम् उपपादितम् अस्माभिः गुरुत्वं मन्त्रोपदेशप्रयुक्तं कर्तव्योपदेशप्रयुक्तं शास्त्रोपदेशप्रयुक्तं च इति. तत्र कञ्चन शिष्यं प्रति एकोपाधिनिमित्तकं गुरुत्वम्, अपरं प्रति उपाधिद्वयनिमित्तकं, इतरं प्रतितु उपाधित्रयनिमित्तकमपि तद् भवितुम् अर्हति. **"उपनीय तु यः शिष्यं वेदम् अध्यापयेद् द्विजः संकल्पं सरहस्यं च तम् आचार्यं प्रचक्षते"** (मनुस्मृ.२।१४०) इति वचनेतु मन्त्र-कर्तव्य-शास्त्राद्युपदेशप्रयुक्तं गुरुत्वम्. तस्मात् स्वसम्प्रदायानुरोधेन भक्तिमार्गीयमन्त्र-तथाविधकर्तव्य-भगवत्स्वरूपसेवोपदेशकत्वरूपं वा भवतु प्रपत्तिमार्गीयमन्त्र-कर्तव्याद्युपदेशकत्वरूपं वा उभयविधमपि तद् गुरुत्वं साम्प्रदायिकमेव. वर्णाश्रमाचारविषयकविहितकर्तव्योपदेशकत्वरूपन्तु केवलशास्त्रोपदेशकत्वरूपं वा गुरुत्वं साम्प्रदायिकमेव इति न नियमः. वर्णाश्रमाचारानुरोधिस्वकर्तव्यजिज्ञासोः शास्त्राध्ययनार्थिनोः वा स्वसम्प्रदाये साम्प्रदायिकेन मन्त्रेण दीक्षिततावश्यकत्वाभावात्.

सर्वथातु गुरुवृत्त्या आजीविकोपार्जनं तावद् सिद्धान्तरहस्योक्तस्य असमर्पितवस्तु-वर्जनस्य, निवेदनगद्योक्तस्य स्वदेहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मदारागारपुत्राप्तेहपराणाम् आत्मना सह भगवते समर्पणस्य, भक्तिवर्धिन्युक्तस्वगृहस्थितिपूर्वकभजनस्य, सिद्धान्तमुक्तावल्युक्तस्वतनुवित्तजसेवनस्य, साधनाध्यायोक्तस्य सेवाभगवतोः अप्रदर्शनस्यापि आचार्योपदेशेन आनुकूल्यमेव. प्रातिकूल्यन्तु अपरिचितत्वेन असमर्पितानां दर्शनार्थिजनानां धनादेः स्वीयभगवत्सेवायां विनियोजनं, तदुत्तरञ्च भगवत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगाय अंगीकरणम्, अनिवेदितानान्तु असमर्पितत्वेऽपि अंगीकरणम्, दर्शनार्थिजनानां हि अस्वीये देवलकगृहे तनुजसेवनरहितं भजनमिति तान्येतानि सर्वथा अकरणीयान्येव.

नच *सर्वम् एतद् आचार्योपदिष्टं निर्वहन्नेव गुरुः भगवतः समधिकभूतिपूर्वकं भजनं चिकीर्षुः चेत् तदा स्वगृहे समागतान् जनान् स्वीयान् मत्वा तैः उपायनीकृतं धनादि स्वभगवत्सेवार्थमपि अंगीकरोति; तथैव दर्शनार्थिजनाअपि स्वस्वगृहेषु स्वस्वभगवत्स्वरूपान् सेवमानाएव गुरौ वा तत्सेव्ये भगवत्स्वरूपे श्रद्धाभावातिभरेण स्वधनादिकं स्वगुरोः गृहेऽपि समर्पयन्ति चेत् न तत्र बाधकं किमपि, आचार्योपदेशानुल्लंघनाद् इति वक्तव्यम्, आचार्योक्तस्य 'तनुवित्तजा'पदप्रयोगेन, तदात्मजोक्तेन च ''वित्तं दत्त्वा अन्येन पुरुषेण कृत्वा कारिता एका एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तपदम्'' इति व्याख्यानेनापि समं विरोधप्रसंगात्.

ननु उभयत्र तन्निर्वाहपूर्वकमेव अधिकं किञ्चित् कर्तुं दानं प्रतिग्रहः च कुतो न अनुमन्यते? शब्दमर्यादया 'तनुवित्तजा'पदे 'तनुजा'-'वित्तजा'पदयोः भानाभावेऽपि अर्थमर्यादया ''द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते'' इति नियमस्यापि प्रामाणिकत्वेन अवश्यम् अंगीकरणीयत्वेन तनुजसेवायाः वित्तजसेवायाः चापि पृथक्पृथग् अनुष्ठाने दोषाभावस्य अभ्युपगमनीयत्वं च इति चेत् न, **''सन्नियोगशिष्टानाम् अन्यतरापाये उभयोरपि अपायः''** (परि.शेख.३।८७) इति न्यायेन समाहारेतरेतरयोगान्यतरार्थके समस्तपदोपदिष्टतनुवित्तजसेवनापाये असमस्तपदार्थ

* ननु एवं सति स्वातिरिक्तसाम्प्रदायिके शिष्योपायनस्यापि अग्राह्यत्वम् आयाति * इति चेद्, ओम्! तथापि अयाचितत्वानपायाद् यत्किञ्चित्संकोच-स्यापि सर्वतो ग्रहणापेक्षया तत्र प्रशस्तत्वमेवेति अदोषः. दातुः फलन्तु भवत्येव.

''गुरो पितरि वाध्यक्षे अध्यात्मव्रतिकेषु च।
श्रद्धया दीयते यद् वै स्वस्त्यक्षरविवर्जितम्॥
विद्यते सागरस्यान्तो नान्तो दानस्य विद्यते।''
(. ।) इति शौनकस्मरणात्.

पर्यवसायिन्या समुच्चयान्वाचायान्यतरार्थद्योतकत्वापत्त्या तनुज-वित्तजसेवनयोरपि अवश्यकर्तव्यताकधर्मरूपत्वस्य अपायः.

* ननु मा भूत् तनुज-वित्तजक्रिययोः अवश्यकर्तव्यताकोपदिष्टधर्मरूपता. तथापि **''तस्मात् त्वम्... उत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनां, प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च, माम् एकमेव शरणम् आत्मानं सर्वदेहिनां याहि सर्वात्मभावेन मया स्याः हि अकुतोभयम्''** (भाग.पुरा.११।१२।१४) इति आज्ञप्ततया अनन्यशरणं भगवन्तमेव अवलम्बमानो गुरुश्च दर्शनार्थिजनाश्च अनुपदिष्टामपि कामपि भजनरीतिं निजहृद्गतभक्तिभावानुरोधेन अनुसरन्ति चेत् तत्र का हानिः? * इति चेद्—

अत्र प्रतिविधातव्यं महती हि हानिः आचार्योपदेशावज्ञायाम्. अल्पीयांस्तु पुनः लाभो सेवार्था अर्थोपलब्धिः इति. तद् अवधार्यतां **''तत् चेद् वित्तं वेतनत्वेन दत्वा कार्यते तदा स चित्तस्य राजसत्वं कुर्वन्ती चित्तस्य भगवत्प्रवणत्वं न करोति. यदि च वित्तं वेतनत्वेन गृहीत्वा क्रियते तदा ऋत्विजो यागवत् स्वस्य तत्प्रवणत्वरूपं फलं न साधयति... अतः तथा न कार्यं किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्''** (सि.मु.वि.प्र.२) इति. तस्माद् अनिष्टसाधनताश्रावणात् नेयं रीतिः अनुपदिष्टैव केवला प्रत्युत निषिद्धैवेति सर्वथा अननुष्ठेयैव.

ननु * अनुचरेभ्यो दीयमानवेतनत्वेन दाने वा प्रतिग्रहे एव वा दोषो

''दाता तत्फलम् आप्नोति प्रतिग्राही न दोषभाक्।''

इति आत्रेय(अत्रिस्मृति. ।)वचनात्.

''मनसा पात्रम् उद्दिश्य जलं भूमौ विनिक्षिपेद्।

विद्यते सागरस्यान्तो नान्तो दानस्य विद्यते।।''

(अग्निपुरा.२०९।५६) इति आग्नेये दानपरिभाषासु च.

तथा कृत्वा देशान्तरस्थपात्रगृहे प्रेषणस्य सर्वसम्मतत्वात् च इति दिक्.

नतु गुरुजनेभ्यो दीयमानदक्षिणात्वेन दाने ग्रहणे वा निषेधः कश्चन* इति इति चेद् **'''वी' गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु''** (पा.धा.पा.अदा.१०७३) इति धातोः **''वीपतिभ्यां तनन्''** (पाणि.सू.३।१५०) इति वीयते अनेन इति 'वेतन'पदसिद्धिः. तच्च गतिखादनयोः अन्यतरार्थकं 'वेतन'पदं हि न नियमेन दातुः स्वामित्वे नचापि गृहीतुः अनुचरत्वे वा लिंगम्. अतएव कोशेऽपि **''कर्मण्या विधा भृत्या भृतयो भर्म वेतनं भरण्यं भरणं मूल्यं निर्वेशः पणः''** (अम.को.२।१०।३८) इत्याद्यनेकैः पदैः पर्यायता 'वेतन'पदस्य दर्शिता. तस्माद् देवसेवारूपकर्मार्थं दर्शनार्थिजनेभ्यो अंगीकृतैः धनादिभिः स्वनिर्वाहे तु दर्शनार्थिजनानुचरत्वाभावेऽपि शूद्रवर्गपठित'वेतन'पदार्थग्राहिता स्पष्टा. तद् उक्तं मनुना **''जटिलं च अनधीयानं दुर्बलं कितवं तथा याजयन्ति च ये पूगान्**—बहुलान् जनान्—**तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्... चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणः तथा विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युः हव्यकव्ययोः''**(मनु.स्मृ.३।१५१-१५२) इति वचने बहुयाजकानां देवलकानां च एककोटिनिवेशः. तस्मात् स्वभगवद्भजनप्रदर्शनपूर्वकं तदर्थं परधनगृहीतॄणां बहुजनयाजकतायाः निराकरणम् अशक्यमेव.

तस्माद् निजाराध्यार्थन्तु दर्शनार्थिजनानां धनादिप्रदातॄणाम् अधिकारानधिकारविवेकं विना ग्रहणे दोषाणां वज्रलेपायितत्वेन गुरुशिष्योपाधिभ्यामेव दानप्रतिग्रहयोः निर्दोषता. तद् गुरुत्वं साम्प्रदायिकं वा साधारणब्राह्मणधर्मरूपं वा इति प्रतिपादयितुं किञ्चिद् आशंक्य समाधानाय अस्वसाम्प्रदायिकशिष्येभ्यः प्रतिग्रहो धर्म्यो नवा इति आशंक्य एतादृशेनतु शिष्येण याचनां विनैव उपानीतस्य द्रव्यादेः ग्रहणे

यत्तु चरणाग्रे धृते उपग्राह्ये लक्ष्म्यवज्ञानरूपदोषम् उत्थापयन्ति तत्तु मौर्ख्यैर्ष्यादिजनितं "**वैयात्यादेव नृणां पदे स्थिता लक्ष्मी निलयं सम्प्रयच्छति**" (मार्के.पुरा. । ।) इति मार्कण्डेयाद्, भूषणानां पादे स्थापनात् च इति सुधीभिः अवधेयम्.

इति श्रीपुरुषोत्तमविरचितः स्ववृत्तिवादः सम्पूर्णः

न तावती बाधा इति समाधानम् आहुः '**ननु**' इत्यादिना.

उक्तंहि अयाचितन्तु अमृतं भवति इति. तत्र स्वसम्प्रदाये अदीक्षितस्य शिष्यस्य अन्यसम्प्रदाये दीक्षितस्य वा पुरुषस्य राज्ञादेः वा द्रव्यग्रहणप्रसंगे समुपागते तत्रापि शिष्यस्यैव ग्राह्यम् इति अयाचितमेव ग्राह्यम् इति च व्रतद्वयस्य अपरित्यागः श्रेयान्. यत्किञ्चित्संकोचेन नियमपरिपालनस्य च सर्वतो ग्रहणापेक्षया नूनं श्रैष्ठ्यम्. सम्प्रदाये दीक्षितादेव शिष्याद् ग्रहणव्रतापेक्षयातु कनिष्ठत्वमपि इति विवेकः. तस्मादेव क्वचित् कर्तव्योपदेशेन क्वचित्तु पुनः शास्त्रीयतत्त्वोपदेशेन स्वसम्प्रदाये अदीक्षितेभ्यः सन्तुष्टेभ्यः नृपतिभ्यः भूमिभवनधनादिग्रहणैतिह्यं श्रूयते.

अथ शास्त्रप्रमाणसिद्धस्य कृत्यस्य निष्फलत्वासम्भवेन सामान्यतः सफलत्वे साधितेऽपि दातृग्रहीत्रोः स्वस्वहस्ताभ्यां संकल्पपूर्वकं दानग्रहणाभावेऽपि दातुः फलं साधयितुं प्रमाणानि उपन्यस्य समादधति '**दातुः**' इत्यादिना '**इति दिक्**' इत्यन्तम्.

ग्रन्थोपसंहारे प्रसक्तानुप्रसक्ताचिन्तने ग्रन्थकाराः गुरोः चरणयोः द्रव्यस्थापने लक्ष्म्यवज्ञारूपं दोषम् उद्भावयतां स्वसामयिकानां केषाञ्चन मूढानाम् आक्षेपं निराकुर्वन्ति '**यत्तु**' इत्यादिना.

तस्मात् सति सम्भवे याजनाध्यापनप्रतिग्रहरूपाः ब्राह्मणवृत्तयो हि विनैव याचनया अनुष्ठिताः अमृतवृत्तयो भवन्ति. तदसम्भवेतु याचनयापि कृताः ताः मृतवृत्तयो भवन्ति. आपदितु कृषीवलेन वाणिज्येनापि वा आजीविकासम्पादनपूर्वकं यजनाध्ययनदानपरायणत्वे सति ब्राह्मणस्यैव प्रमृत्तसत्यानृतरूपे वृत्ती भवतः. ब्राह्मणस्य ब्राह्मणेतरभृत्यतापूर्विकातु याजनाध्यापनान्यतररूपा वृत्तिस्तु दुर्ब्राह्मणतापादिका भवति.

तथैव देवलकवृत्तिरपि भृशं पातित्यापादिका इति निष्कर्षः. निषिद्धानान्तु अन्यासां वृत्तीनाम् इह अप्रसक्तानां शास्त्रेतु पुनः सुचिन्तितानां पुनः चिन्तनेन न कोऽपि पुरुषार्थः इति विरमामः.

श्रीमद्वल्लभवंशवृक्षजनितं भक्त्येकरूपं फलं
भूयात् तद् भुवि भोग्यभावभरितं कृष्णैकतोषे परम्।।
वृत्त्यर्थं भगवत्प्रदर्शनविधौ पातित्यमासादयत्
कष्टं भो कलिकाकदष्टमिह तद् द्रष्टवापि सीदेन्न कः !।।
द्वेषादेवापसिद्धान्ते रोषादपि तथा मया।
लिखिता विवृतिश्चैषा न द्वेषात् स्वीयबन्धुषु।।
कटुप्रत्युक्तयो नैकाः व्याख्यायां योजिताः मया।
विभीषिकायै बालानां न विद्वेषाभिव्यक्तये।।
सिद्धान्तादन्यथा किञ्चिन् मदुक्तौ चेद् विभाव्यते।
पौरुषं प्रकटीकृत्य खण्डनीयाः मदुक्तयः।।
नच वञ्चकमौनेन वर्तितव्यं स्वमानिभिः।
न परोक्षे हि निन्दाभिः वञ्चनीयाः स्वमार्गिणः।।
सर्वे वयं निजाचार्यवंशजाः स्मोऽवधार्यताम्।
संकोचोऽत्र न कर्तव्यो मद्वचःखण्डने मुधा।।
अहंकारान्नो वा निखिलविहितानान्तु करणाद्
न वैदुष्योत्कर्षप्रकटनधिया वापि लिखिता।
मयेयं व्याख्येति मनसि नहि भाव्यं तु भवता
निजाचार्योक्त्यैव स्वमति-कृति-शुद्ध्येकरुचिणा।।
सिद्धान्तबोधेऽस्खलितोऽपि नूनं स्खालित्यमेवात्मन आचिनोति।
जन्तुर्यदीयां हि कृपामलभ्य तं बुद्धिदं कृष्णम् अहं नमामि।।
भूपुमर्थखनेत्राब्दे वैक्रमे वत्सरे मया।
वैशाखे रचिता लघ्वी हृषीकेशस्थितेन हि।।
बह्वीर्दुरुक्तीः श्रुत्वा स्ववृत्तिवादप्रकाशिका।
सम्पादिता पुनः कैश्चित् संशोधनविवर्धनैः।।

इति श्रीमत्पुरुषोत्तमकृपालब्धमतिना तच्छिष्यश्रीविट्ठलरायवंशजेन
गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्यामनोहरेण विरचिता
स्ववृत्तिवादप्रकाशिका परिपूर्णा

सकलान्तरात्मा श्रीहरिः प्रसन्नोऽस्तु !

पाठभेदतालिका

१.याच्ञा इति **मु** पाठः. याचि इति **ख ग घ ङ च छ ज** मातृकासु.

।। अवतारवादावल्यां ।।

चतुर्विंशतितमो

।। वस्त्रादिसेवावादः ।।

स्वकीयेषु वस्त्रादिषु स्वानुभावं
प्रकाश्य स्वभक्त्यैकलभ्यं फलं यो।।
ददातुं समर्थोऽस्ति वन्दे तमीशं
समेषां स्ववर्त्मस्थितानां हि मृग्यम्।।१।।
पुराऽयं तु वादो कृतो मूलकृद्भिः
स कात्स्न्येन कुत्रापि नैवोपलब्धः।
अपूर्णां विलोक्यावतारावलीं तु
यतेऽहं प्रपूर्त्यै कृपालब्धबुद्ध्या।।२।।

सर्वत्र बहुधा अन्वेषणेऽपि वादोऽयं कृत्स्नतया न कुत्रापि उपलब्धः. श्रीनाथद्वारास्थिते द्वितीयपीठग्रन्थागारे त्रुटितः एकपुटपरिमितलेखनात्मको यथोपलब्धः इह प्रदीयते : (...निरासाय दिङ्मात्रम् उच्यते. स्मृत्यर्थ... **''हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च''** इति वाक्याद् भगवत्प्रसादवस्त्रसेवा... प्रतिमासु च शालिग्रामे च चक्रांके पट्टे मुद्रासु... फलपर्यवसायिन्येव न इति कल्पित्वा शिष्टाचारात्. नच 'पट्ट'पदं चित्रपट्टपरम् इति वाच्यं, **''शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती''** इत्यत्र चित्रप्रतिमायाअपि उक्तेः तयैव गतार्थत्वात्. अन्यथा तिरोहितचित्रेऽपि तदापत्तेः. नच इष्टापत्तिः बुद्धौ असन्निधानात्. अथ जायतएव सन्निधिः इति चेत्, सापि चित्रद्वारैवेति लेख्यायाएव तत्र प्रयोजकत्वात्, 'पट्ट'पदवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वमेव. नच 'पटः' इति पाठः शंक्यः, तथापि साक्षात् तस्याभावात् तच्चित्रफलादिना तद्देवतासन्निधेः वक्तव्यत्वेन तस्य चित्रभावानतिरेकात्, 'पट्ट'पदवैयर्थ्यतादवस्थ्यात्. तस्माद् वृथैव पाठकल्पतो प्रसिद्धपाठएव साधीयान्. सच सामान्यम् अगमयन् भगवत्सम्बविशिष्टमेव गमयति इति भ्रान्तिमूलिका अस्पर्शशंका. लिंगं नालिंगी इति दिक्. इति श्रीपुरुषोत्तमकृतौ वस्त्रसेवाविवेचनं द्वाविंशो वादः सम्पूर्णः) एवम् अशुद्धिबहुलोऽपि सम्प्राप्य तत्रत्यैः पीठाधीशैः सहृदयधुरन्धरैः निरतिशयेन औदार्येण झटिति प्रकाशनाय तत् पत्रं दर्शितं च दत्तं चेति

ननु असमञ्जसं हीदं विग्रहादिरूपैः धृतेषु वस्त्रादिषु स्वानुभावं प्रकाश्य स्वभक्त्यैकलभ्यं फलं भगवान् स्ववस्त्रादिसेवाकर्तृभ्यो वितरति इति, यस्मात्—

शास्त्रेष्वविहितत्वात्तु पूजनादेरसम्भवात्।।
भृत्यधार्यतया चापि वस्त्रसेवा वृथा मता।।३।।

तथाहि सर्वसमर्थे भगवति तथाविधसामर्थ्यसद्भावेऽपि भगवद्विग्रहं विहाय तत्परिधृतवस्त्रादीनां भजनस्य शास्त्रेषु क्वचिदपि विधानादर्शनात्, भक्त्यंगभूत-षोडशोपचारादि-विधिना वस्त्राणां पूजनासम्भवात्, ''**चन्दनोशीर-कर्पूर-कुंकुमागुरु-वासितैः, सलिलैः स्नापयेन् मन्त्रैः नित्यदा...**'' (भाग.पुरा.१-१।२७।३०) इत्येवमादिभिः वचनैः नित्यस्नापनस्य तथा सूर्यचन्द्रोपरागाद्युत्तरकाले च शुद्धिसम्पादनाय परम्पराप्राप्तस्य भगवद्विग्रहस्नापनादेरपि वस्त्रेषु अशक्यत्वात् च, तद्विना अशुद्धिनिवारणासम्भवात् चापि असमञ्जसमेव इदं प्रतिपादनम्. किञ्च ''**त्वया उपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः, उच्छिष्टभोजिनो दासाः तव मायां जयेमही**'' (भाग.पुरा.११।६।४६) इति वाक्ये स्रग्गन्धादीनां भगवत्सेवायां विनियोगे जाते सेवकजनोपभोगार्हतानिरूपणाद् 'वासः'पदेन वस्त्रस्यापि स्रग्गन्धादिगणे परिगणनात् च. न खलु अतो भगवद्वस्त्राणां सेवा भक्तिमार्गीयमुख्यफलदानाय अलम् इति प्राप्ते ब्रूमः—

शास्त्रोक्तत्वात् तथाचाराद् भगवद्वस्त्रसेवनम्।।
भक्तिमुख्यफलप्राप्तौ नैवाऽमुख्यं कदाचन।।४।।

तथाहि शास्त्राविहितत्वाभिधानन्तु तावद् भृशम् असमीक्षितमेव, यस्मात् स्मृत्यर्थसारे ''**अप्सु अग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च शालग्रामे च चक्रांके पटे मुद्रासु देवता नित्यं सन्ति हिरण्येषु ब्राह्मणेषु च गोषु**

भृशं कृतज्ञतया वयं तेभ्यो बहुधन्यवादं निवेदयामः. तमेतम् एकपत्रम् अनुसृत्य यथामतिसंशोधनविवरणसम्पूर्तिभिः नूतनतया विलिख्य वादमिमं श्रीपुरुषोत्तमानां करयुगले समर्पयामः. अस्यच 'जय-श्रीकृष्णो'च्चारणवादस्य चेति उभयोः द्वाविंशतया उल्लेखः तत्तन्मातृकासु उपलभ्य विषयक्रमानुरोधेन चतुर्विंशततमवादतया अस्माभिरेव स्थापितः(गो.श्या.म.).

च'' (द्रष्ट.स्मृ.च.आह्नि.का.) इति वाक्ये पटेऽपि पूज्यदेवसन्निधानोपपादनाद् भगवद्वस्त्रसेवापि भक्तिमार्गीयमुख्यफलपर्यवसायिन्येव इति मन्तव्यम्. शिष्टाचारेऽपि भगवद्वस्त्राणां भगवन्मुरलिकायाः भगवद्विग्रहाद् उद्वर्तितस्य अंगरागस्यापि भगवद्भावनया सेवाकृतेः उपलभ्यमानत्वात् च.

नच * स्मृत्यर्थसारवचनगतं 'पट'पदं चित्रपटपरम् * इति शंक्यं, **''शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती मनोमयी मणिमयी प्रतिमा अष्टविधा स्मृता''** (भाग.पुरा.११।२७।१२) इत्यत्र अष्टविधप्रतिमासु 'लेख्या'इति पदेन चित्रप्रतिमायाअपि परिगणनात्. 'प्रतिमा'पदेनैव च चित्रपटस्यापि गतार्थत्वाद् उक्तवाक्यगतं 'पट'पदं न चित्रपटपरं भवितुम् अर्हति. 'प्रतिमा'पदेनतु चित्रपटस्य गतार्थत्वाभावे चित्रतिरोधानवति पटेऽपि 'चित्र'पटपदप्रयोगापत्तेः. नच इष्टापत्तिः इति वाच्यं 'चित्र'पदोच्चारणे चित्रतिरोधानवतः पटस्य बुद्धौ असन्निधानात्. अथ जायतएव सन्निधिः इति चेत् सापि चित्रद्वारैव लेख्यायाएव तत्र प्रयोजकत्वेन 'पट'पदवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वमेव. नापि 'पट्ट'इति पाठान्तरः कल्प्यः, यस्मात् तथापाठस्वीकारेऽपि पट्टस्य साक्षात् देवतासन्निधिवत्त्वाभावात्. चित्रवत्त्वादिनैवतु तत्र तद्देवतासन्निधेः वक्तव्यत्वेन तस्य चित्ररूपत्वानतिरेकः, 'पट्ट'पदवैयर्थ्यमपि तदवस्थमेव ज्ञेयम्. तस्मात् पाठान्तरकल्पनातः प्रसिद्धपाठएव साधीयान्. सच सामान्यं पटम् अगमयन् भगवत्सम्बन्धविशिष्टमेव पटं गमयति इति निष्कर्षः.

अतएव श्रीमदाचार्यचरणाः सुबोधिन्याम् आहुः —

सेवायां विशेषम् आह 'अखिलसत्त्वनिकेतया' इति बहिर्मुखानां सेवा निवारिता. अखिलसत्त्वेषु निकेतःस्थानं यस्य, ''सर्वत्र भगवान् अस्ति'' इति ज्ञात्वा सर्वाविरोधेन ये परिचरन्ति इति अर्थः. ''सर्वं तद्धीष्ण्यम् ईक्षध्वम् एवं वः तोषितोहि असौ'' (भाग.पुरा.६।४।१३) इति वाक्यात् तथादर्शनमपि तोषहेतुः भवति. अन्यथा दोषश्रवणात् च ''कुरुते अर्चाविडम्बनम्'' (भाग.पुरा.३।-२९।२१) ''भस्मन्येव जुहोति स'' (भाग.पुरा.३।२९।२२) इत्यादिवत्. 'तव'इति षष्ट्या त्वत्सम्बन्धिनं पदार्थं यं कञ्चन

परिचरन्ति, परं सर्वात्मभभावो अपेक्ष्यते. ''मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति'' (कठोप.४।१०) इति भेददर्शनएव मृत्युपराक्रमश्रवणात्.

(भाग.सुबो.१०।८७।२७)इति.

तस्माद् भगवद्विग्रहधृतेषु वस्त्रादिष्वपि भगवत्सम्बन्धबुद्ध्या भगवद्भाववविवशेन भक्तेन कृतं भजनं भक्तिमार्गे भव्यायैव भवतीति विभावनीयम्. तस्माद् न इह असम्भावनाविपरीतभावने सम्भवतः, अतएव **''कृच्छ्रं ययौ मूर्धनि भर्तृपादुके बिभृन्''** (भाग.पुरा.११।२९।४६) इति उद्धववनप्रस्थानप्रसंगे वर्णनोपलम्भाद्. भगवतः श्रीरामचन्द्रस्यापि चरणारविन्दसम्बन्धेन स्वाराध्यभावनया भरतस्य भगवत्पादुकासेवनं रामायणेऽपि वर्णितम् **''स पादुके ते भरतः प्रतापवान् स्वलंकृते सम्परिपूज्य धर्मविद्... ततस्तु भरतः श्रीमान् अभिषिच्य आर्यपादुके... किञ्चिद् उपायनं च उपहृतं महार्हं स पादुकाभ्या प्रथमं निवेद्य''** (वा.रा.अयो.११२।२९ , १५।२६-२७) इति. गुरुपादुकापूजनादिप्रकारोऽपि उपलभ्यतएव. सतिचैवं चरणसम्बन्धतो पादुकायाः पूज्यतानिश्चयवद्भिः सकलश्रीविग्रहसम्बन्धिनि वस्त्रे अपूज्यतापादकं किमपि कारणं नैव उद्भावनीयं भक्तिमार्गीयैस्तु जनैः.

ननु उक्तं किल भक्त्यंगभूत-षोडशोपचारादि-विधिना वस्त्रे पूजायाएव अशक्यत्वम् इति चेत् —

न यथैव लेख्यायाः चित्रप्रतिमायाः सैकत्याः वा षोडशोपचाराः क्रियन्ते, तथैव भगवद्वस्त्रादेः सेव्यत्वेऽपि इति बोध्यम्. यत्तु नित्यं सूर्यचन्द्रोपरागाद्युत्तरकाले च शुद्ध्यर्था स्नापनादिविभीषिका सापि पूजाविध्यानालोचनमूलिकैव. तथाहि भागवते **''स्नपनं त्वविलेप्यायाम् अन्यत्र परिमार्जनं... स्नानालंकरणं प्रेष्ठम् अर्चायामेव तु उद्धव!''** (भाग.पुरा.११।२७।१४-४६) इति वचनोपलम्भाद् अप्राप्तमेव स्नापनं चित्रप्रतिमायामिव वस्त्रेऽपि. निर्णयसिन्धावपि **''चित्रमृण्मयादौ स्नानाद्यसंभवे...स्नापयेद् दर्पणेऽथवा''** (निर्ण.सि.२।दे.-मू.स्था) पुरुषोत्तमक्षेत्रेऽपि भगवतः श्रीजगन्नाथस्य दारुमयविग्रहस्य दर्पणएव स्नापनविध्युपलम्भात्. तस्माद् भ्रान्तिमूलिकैव नित्यं वा सूर्योपरागाद्युत्तरकाले

वा सेव्यस्य भगवद्वस्त्रादेः अशुद्धिनिवारणाशक्यतापत्तिः.

यत्तु भगवदुपभुक्तस्रग्गन्धादेः भगवद्भृत्यभोगार्हतानिरूपकं भागवतवचनं, न तद् भगवद्वस्त्रादेः सेवननिषेधे पर्यवसति किमुत भगवद्भृत्यभोगानुज्ञापरमेव तद् इति बोध्यम्. नहि प्राणप्रतिष्ठावाहन-रहितेषु कलशप्रतिमादिषु पूज्यत्वाभावः प्राणप्रतिष्ठोत्तरमपि तत्र अपूज्यत्वख्यापकइति केनचित् स्वीक्रियते. तस्मात् स्वोपभोगाय परिगृहीतेषु भगवदुपभुक्तस्रग्गन्धवासोलंकारादिषु न भगवद्बुद्धिः किन्तु भगवत्प्रसादबुद्धिरेव. भगवदाराधकस्य स्वोपभोग्यताबुद्धिः कदाचिद् अर्चनाद्यर्थन्तु निजाराध्यत्वेन परिगृहीतेषु भगवद्वस्त्रादिषु जायमानां भगवद्बुद्धिं न व्यावर्तयति. तथाच उच्यते—

''अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र च अर्चयेत्।
सर्वभूतेषु आत्मनि च सर्वात्मा अहम् अवस्थितः।।
एवं क्रियायोगपथैः पुमान् वैदिकतान्त्रिकैः।
अर्चन् उभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दन्ति अभीप्सिताम्।।''

(भाग.पुरा.११।२७।४८-४९).

इति भगवद्वस्त्रादिसेवनं भक्तिमार्गे सर्वथा समीचीनमेव इति दिक्.

सामान्यशास्त्राध्ययनादिशून्यं
येऽपाठयन् मां विविधान् हि वादान्।
वादावलीतो सुतवत्सलान् तान्
श्रीतातपादान् प्रणमन् स्मरामि।।५।।

इति श्रीपुरुषोत्तमविरचितः तत्कृपासादितमतिना च गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन
श्याममनोहरेण प्रपूरितोऽयं वस्त्रसेवावादः
सम्पूर्णः

।। अ व ता र वा दा व ल्यां ।।

प्रथमपरिशिष्टरूपो

।। मूर्तिपूजनवादः ।।

(विषयसंशयौ)

अथ इदं विचार्यते : मूर्तौ भगवत्पूजनं जघन्यम्, इतरसमं, श्रेष्ठं वा? इति.

(पूर्वपक्षः)

किं तावत् प्राप्तम्? जघन्यमेव इति. कुतः? पुराणेषु तथैव उक्तेः तथाहि तृतीयस्कन्धे **''यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तम् आत्मानम् ईश्वरं हित्वा अर्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः''** (भाग.पुरा.३।२९।२२) इत्यादिवाक्येषु. **''यस्य आत्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौमे ईज्यधीः यः तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज् जनेषु अभिज्ञेषु सएव गोखरः''** (भाग.पुरा.१०।८४।१३) इति दशमस्थभगवद्वाक्ये च निन्दास्मरणात्. एकादशस्कन्धेच **''सूर्यो अग्निः ब्राह्मणाः गावो वैष्णवः खं मरुज् जलं भूः आत्मा सर्वभूतानि भद्रपूजापदानि मे''** (भाग.पुरा.११।११।४२) इत्यत्र पूजापदेषु प्रतिमायाः अनुक्तेः च. नच * **''अप्सु अग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च शालग्रामे च चक्रांके पटे मुद्रासु देवता नित्यं सन्ति हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च''** (स्मृ.सा. ।) इति स्मृत्यर्थसारे वचनाद् इतरसाधारण्यम् * इति वाच्यम्, आचारमाधवे—

''अर्चनं सम्प्रवक्ष्यामि विष्णोः अमिततेजसो।
यत् कृत्वा मुनयः सर्वे परं निर्गुणम् आप्नुयुः।।
अप्सु अग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च।
षट्सु एतेषु हरेः सम्यग् अर्चनं मुनिभिः स्मृतम्।।

अग्नौ क्रियावतां देवो दिवि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमासु अल्पबुद्धीनां योगिनां हृदये हरिः॥
तस्य सर्वगतत्वाच्च स्थण्डिले भावितात्मनाम्।''
(द्रष्ट. : स्मृ.च.आह्नि.देव.) इति.

इति आग्नेयवचने प्रतिमार्चनस्य अल्पबुद्ध्यधिकारोक्तेः. एवञ्च इतरसमत्वस्यापि अशक्यवचनत्वेन श्रैष्ठ्यस्य दूरापास्तत्वाद् जघन्यमेव प्रतिमायां पूजनम्.

(उत्तरपक्षः)

इति प्राप्ते उच्यते—

[1]जि ज्ञा सो र धि का रि त्वा द् [2]ज्ञा न दो षा प्र सा ध ना त्॥
[3]त्रेधा हरित्वान् मूर्तेः [4]श्रीकृष्णो [5]भक्त्येह सेव्यताम्॥२॥

(स्वाधिकारित्वानुरूपत्वादेव जिज्ञासुना कृते मूर्तिपूजने न कोऽपि दोषः)

गीतायां "**चतुर्विधा भजन्ते माम्**" (भग.गीता.७।१६) इत्यत्र आर्तादीनां चतुर्णां भजने अधिकारः उक्तः, तेषु आर्तार्थार्थिनौ यावत्फलं भजनं कृत्वा ततः त्यजतइति जघन्यौ. जिज्ञासुस्तु पूर्वं ज्ञानार्थं भजन्नपि जाते ज्ञाने पुनः अतिशयेन भजतीति ताभ्याम् उत्तमो. ज्ञानिनो भजनन्तु अत्रैव (उत्तमत्वेन!) उक्तमिति न अत्र सन्देहः.

एवं सति जिज्ञासोः अल्पबुद्धितायाः अदुष्टत्वात्, तादृशा, एकादशस्कन्धीयोनविंशाध्यायोक्तरीत्या, आत्मनिवेदिना कृतानां पूजादीनां भक्तिपरमकारणत्वं ज्ञात्वा, भक्त्यर्थिना वा अज्ञेनापि सेवने, तद्विशेषस्य प्रतिमापूजनस्य न जघन्यत्वं सम्भवति प्रत्युत अन्येषां जघन्याधिकारिणां फलसाधनत्वात् तैरपि सेवने पूजनं श्रेष्ठमेव, महारोगग्रस्त-स्वास्थ्यसम्पादकौषधवत्. नच * "**प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेद्**

यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः. अशक्तौ विस्तरेणैवं प्रातः सम्पूज्य केशवं मध्याह्ने चैव सायं च पुष्पाञ्जलिमपि क्षिपेत्. मध्याह्ने च विस्तरेण संक्षेपेण अथवा हरिं सम्पूज्य भोजनं कुर्याद् अन्यथा नरकं व्रजेद्'' (काल.निर्ण. ।) इति कालनिर्णयदीपिकायां नारदीयात् नित्यायाः तस्याः प्रत्यवायप्रागभाव-परिपालनमात्रार्थत्वात् न फलसाधकत्वमिति दृष्टान्तवैषम्यात् न श्रैष्ठ्यम् * इति वाच्यं, नित्यस्य तावन्मात्रार्थतायाः अप्रयोजकत्वात्. तथा सति यावज्जीवाधिकारकाग्निहोत्रादपि स्वर्गाद्यभावप्रसक्तेः, तद्बोधक-'स्वर्गकामा'दि-पदवैयर्थ्यप्रसक्तेः च. किन्तु पूर्वोक्तगीतावाक्ये (भग.गीता.७।१६) अधिकारिमुखेन फलसम्बन्धबोधनात् ''श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः'' (. ।) इति वचनाद् विधेः नियोगार्थतायाएव औचित्याद्. अतः तदुक्ताकरणे राजदण्डवत् प्रत्यवायः, करणेतु तद्वदेव फलमिति दृष्टान्तवैषम्याभावात् न श्रैष्ठ्यहानिः, ''पूजनं प्रतिमायां तु उत्तमं परिकीर्तितम्'' (का.नि.दी. ।) इति, कालनिर्णयदीपिकायां प्रातःकालस्थले विष्णुधर्मोत्तरवाक्येन उत्तमत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् च. नच *इदम् अवैदिकपरम्* इति वाच्यं, विनिगमकाभावात् प्रत्युत स्मृत्यर्थसारे —

''अप्सु अग्नौ हृदये सूर्ये स्थण्डिले प्रतिमासु च।
शालग्रामे च चक्रांके पटे मुद्रासु देवता॥
नित्यं सन्ति हिरण्ये च ब्राह्मणेषु च गोषु च।
पौरुषेण च सूक्तेन गायत्र्या प्रणवेन वा॥
तल्लिंगैरेव वा मन्त्रैर् अर्चयेद् गुर्वनुज्ञया।''

(स्मृत्यर्थ. ।)

इति वाक्येन वैदिकपरत्वप्राप्तेः च. नच *''न तस्य प्रतिमा अस्ति तस्य नाम महद् यशः''(श्वेता.उप.४।१९) इति माध्यन्दिनश्रुतौ ब्रह्मप्रतिमानिषेधात् तत्पूजनम् असाम्प्रतम्* इति वाच्यं, श्रुतेः साम्यनिषेधपरत्वात् वैशम्पायनसहस्रनामव्याख्यायां शंकराचार्यैः तथा व्याख्यानात्. ''न तत्समश्च

अभ्यधिकश्च दृश्यते'' (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्यन्तरेऽपि तथा निर्णयात् च.

किञ्च पूर्वोक्ताग्नेयवाक्ये षट्सु सम्यक्पूजनं स्मृतमिति पूजनस्य षट्सु उत्तमत्वम् उक्त्वा ''**अग्नौ क्रियावताम्**'' (अग्निपु. । ।) इत्यादिना तत्तच्छ्रद्धानुरोधेन पूजार्थं भगवत्स्थितिः इत्यत्र अध्याहृत्य उच्यते नतु स्थितौ वैषम्यबोधनाय एवम् उक्तिः ''**तस्य सर्वगतत्वात् च**'' (तत्रैव) इति हेत्वन्तरस्य, श्रद्धानुरोधस्य च तेषु-तेषु तौल्यात्. अतः कथं जाघन्यसम्भावनापि! श्रद्धावैषम्यकृतं वैषम्यन्तु सर्वत्र समानम्. श्रेष्ठत्वन्तु उपपादितमेवेति जघन्यतावादिनएव जघन्याः इति दिक्.

*ननु यदि एवं तर्हि एकादशस्कन्धे ''**सूर्यो अग्निः**'' (भाग.पुरा.११।११।४२) इत्यत्र प्रतिमापि कुतो न उक्ता* इति चेद्, उच्यते—पूर्वोत्तरग्रन्थम् अजानन् एवं वदसि! पूर्वंहि ''**भक्तिः त्वयि उपयुज्येत कीदृशी सद्भिः आदृता**'' (भाग.पुरा.११।११।२६) इति उद्धवप्रश्ने भक्तिं वक्ष्यन् ''**मल्लिंग-मद्भक्तजन-दर्शनस्पर्शनार्चनम्**'' (भाग.पुरा.११।१-१।३४) इत्यादिना भक्तिसाधनानि वदन्—

''**गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिः मद्गृहोत्सवः।**
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु॥
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्।
मम अर्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य च उद्यमः॥
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि।
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः॥
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यद् अमायया।
अमानित्वम् अदम्भित्वं कृतस्य अपरिकीर्तनम्॥
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्याद् निवेदितम्।
यद्यद् इष्टतमं लोके यच्च अतिप्रियम् आत्मनः॥

तत्तन् निवेदयेन् मह्यं तद् आनन्त्याय कल्पते।''

(भाग.पुरा.११।११।३६-४१)

इत्यन्तैः मूर्तिपूजां सपरिकराम् उक्त्वा; पश्चात्, **''सूर्यो अग्निः''** (भाग.पुरा.११।११।४२) इत्यनेन एकादश पूजास्थानानि, ततो जघन्यानि, सर्वत्र स्वस्थितिबोधनाय अमानित्वाय भेददृष्टिवारणाय च अवदत्. अतएव—

''सूर्येतु विद्यया त्रय्या हविषा अग्नौ यजेत माम्।
आतिथ्येनतु विप्राग्र्ये गोषु अंग यवसादिना।।
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैः तोयपुरस्कृतैः।।
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैः भोगैः आत्मानम् आत्मनि।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्।।''

(भाग.पुरा.११।११।४३-४५) इति.

एकं साधनम् उक्तवान् नतु पूर्ववत् नामोत्सवादिपूर्वकाणि नानासाधनानि. तेन मूर्तिपूजनमेव मुख्यं भक्तिसाधनम् अभिप्रेतम् इति निश्चीयते, ध्यानसौकर्यात् च. **''धिष्ण्येषु एतेषु मद्रूपं शंखचक्रगदाम्बुजैः युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन् अर्चेत् समाहितः''** (भाग.पुरा.११।११।४६) इति वाक्ये ध्यानस्य अर्चनाधिकारत्वेन कथनात् तस्य अत्र सौकर्यात्. एवमेव सप्तविंशे महापुरुषपूजाध्यायेऽपि भगवता मूर्तिपूजैव महता प्रबन्धेन वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रभेदैः न्यरूपि. अतो अयं भ्रान्तानां मूर्तिद्विष्टॄणामेव पर्यनुयोगः.

(ज्ञानदोषाणाम् अप्रसक्तत्वात् सामान्यतो न दोषः)

ननु एवं सति तृतीय-स्कन्धोक्त-निन्दायाः निर्विषयत्वापत्तिः इति चेत् न, पृथग्भावेन कृतायाः पूजायाः विषयत्वात्, प्रकरणेन तथा निश्चयात्. तत्रहि **''भक्तियोगो बहुविधो मार्गैः भामिनि भाव्यते, स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते''** (भाग.पुरा.३।२९।७) इति उपक्रमे भक्तिमार्गस्य

नानात्वादिकं प्रतिज्ञाय "**अभिसन्धाय यो हिंसाम्**" (भाग.पुरा.३।२९।८) इत्यादित्रिभिः नवविधां सगुणभक्तिं वदता राजसभक्तौ या प्रतिमापूजा "**अर्चादौ अर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः**" (भाग.पुरा.३।२९।९) इत्यनेन उक्ता, सैव "**अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मा अवस्थितः सदा, तम् अवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुते अर्चाविडम्बनम्**" (भाग.पुरा. ३।२९।२१) इति द्वाभ्यां निन्द्यते. तादृशतत्कर्ताच "**द्विषन्तः परकायेषु मानिनो भिन्नदर्शिनो भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिम् ऋच्छति**" (भाग.पुरा. ११।५।१२) इति. "**अहम् उच्चावचैः द्रव्यैः क्रियया उत्पन्नया अनघे नैव तुष्ये अर्चितो अर्चायां भूतग्रामावमानिनः**" (भाग.पुरा.३।२९।२४) इत्यनेन निन्द्यते. तादृशार्चा-विधायक-वाक्यवैयर्थ्य-परिजिहीर्षया, "**अर्चादौ अर्चयेत् तावद् ईश्वरं मां स्वकर्मकृद् यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेषु अवस्थितम्**" (भाग.पुरा. ३।२९।२५) इति तादृश्याएव कालश्च नियम्यते. 'स्वकर्मकृद्' इति विशेषणेन धर्मरूपतापि तस्याः ज्ञाप्यते, नतु केवलभक्तिरूपता. तत्कर्तुरेव च "**आत्मनश्च परस्यापि यः करोति अन्तरोदरम्. तस्य भिन्नदृशो मृत्युं विदधे भयम् उल्बणम्**" (भाग.पुरा.३।२९।२६) इति भयं च उच्यते.

एवं सति उपक्रमे 'पृथग्भाव'पदाद् अग्रे निन्दायाम् 'अवज्ञा'दिपदेभ्यः च सगुणं पृथग्दृशा पूजनं यत् क्रियते तदेव सपरिकरं निन्द्यते इति सिद्ध्यति. या पुनः "**मद्गुणश्रुति...**" (भाग.पुरा.३।२९।११) इत्याद्युक्तलक्षणक-निर्गुणभक्ति-साधनाय "**सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमपि उत दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः, सएव 'भक्तियोगा'ख्य आत्यन्तिकः उदाहृतः येन अतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावाय उपपद्यते**" (भाग.पुरा. ३।२९।१३) इत्यनेन उच्यते. तस्यास्तु "**निषेवितेन अनिमित्तेन**" (भाग.पुरा.३।२९।१५) इत्यादिना उच्यमानेषु साधनेषु "**मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्श- पूजास्तुत्यभिवादनैः भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेन असंगमेन च**" (भाग.पुरा.३।२९।१६) इत्यनेन धिष्ण्यपूजादीनां सर्वेषु भगवद्भावनस्य च उक्तेः 'पृथग्भाव'पदानुक्तेः 'सर्वगुहाशय'पदोक्तेः च न एकादशवैसम्मत्यम्.

अतएव "**यो मां सर्वेषु भूतेषु**" (भाग.पुरा.३।२९।२२) इत्यस्य

सुबोधिन्याम् आचार्यचरणैः उक्तं —

“भजने प्रमाणाभावम् आह ‘मौढ्याद्’ इति नतु स्वतन्त्रो भगवन्मार्गो निषिद्धः. स गुणातीतइति वक्ष्यते ‘मन्निकेतन्तु निर्गुणम्’ इत्यादिभिः. प्रकरणेनच वाक्यानि सम्बद्धानि तत्प्रकरणस्थमेव गुणदोषं वदन्ति. तत्र पृथग्भावस्तु न उक्तः. द्वादशानुसारेण वा पुरुषोत्तमनारायणः ईज्यः, उभयत्रापि भेदगुणयोः अभावात् न एतानि दूषणानि सम्बद्धानि भवन्ति किन्तु अत्रैव एतानि पूर्वोक्तसगुणभक्तिदूषकानि.”

(भाग.सुबो.३।२९।२२) इति.

यद्यपि “**वनन्तु सात्त्विको वासो, ग्रामो राजसः उच्यते, तामसं द्यूतसदनं, मन्निकेतन्तु निर्गुणम्**” (भाग.पुरा.११।२५।२५) इति स्थानमेव निर्गुणत्वेन उक्तं तथापि प्रतिमास्थितिम् अन्तरेण भगवन्निकेतव्यवहारादर्शनात् तत्र मूर्तिस्थितिः तदर्थम् अंगीकार्या. अन्यथा भगवतः सर्वगतत्वेन सर्वस्यैव भगवन्निकेतत्वात् ‘मन्निकेतम्’ (भाग.पुरा.११।२५।२५) इति न पृथग् वदेत्.

एवं सति यत्र भगवन्मूर्त्यधिष्ठित-मन्दिरस्यापि निर्गुणत्वं तत्र प्रतिमायाः तत्पूजनस्य च निर्गुणत्वे कः सन्देहः ? अतएव अग्रिमे सेवाविषयकश्रद्धायाअपि निर्गुणत्वम् उक्तम्. “**मत्सेवायान्तु निर्गुणः**” (भाग.पुरा.११।२५।२७) इति. अतएवच एतादृशायाः मूर्तिपूजायाः फलं भक्तिः उक्ता. “**मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्**” (भाग.पुरा. ११।२७।५३) इति. अतो अत्र न चोद्यावकाशः.

“**अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धया ईहते न तद्भक्तेषु च अन्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृत**” (भाग.पुरा.११।२।४७) इतितु न भक्तिमार्गीय-भक्तविषयकम्, एकत्र(एव!) अयं भगवन्तं जानाति पूजाकरणात्, नतु भक्तेष्वपि, नापि पातिव्रत्यधर्मा, नापि ज्ञानी, अर्चार्हयोः

भेदनिर्देशात्, अन्येषु (भगवद्)भावाभावात्, 'च'कारेण भक्ताभक्तयोः तुल्यताज्ञानवान्. तेन यः तादृशः सएव प्राकृतत्वेन अत्र उच्यतइति अदोषः. एतेनैव दशमस्कन्धीयमपि व्याख्यातं ज्ञेयं देहात्मबुद्धि-सत्त्व-साधनादिना भिन्नदृक्त्वबोधनाद् इति.

(आधुनिकेषु एवम्भावाभावाद् विशेषतो दोषसम्भावनानिरसनम्)

ननु आधुनिकानाम् एवम्भावाभावात् तत्कृतपूजादीनां निन्द्यत्वं दुर्वारम् इति चेत् न, पित्रादिशिक्षया कृतसन्ध्यावन्दनादेरिव उपदेशानुसारेण तथाकरणे पूजायामपि तदप्रसंगात्. अतएव भक्तिमार्गीयत्वमपि तद् उपपादितं भक्तिहंसे प्रभुचरणैः "**भक्तिमार्गीयभजनप्रकारेषु**" इत्यारभ्य "**न अत्र लिख्यते**" (भक्तिहं.) इत्यन्तेन.

किञ्च सूर्यादिष्वपि "**ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्य...**" (आदित्यहृदयम् : ५५) इत्यादिना "**धिष्ण्येषु एतेषु मद्रूपम्**" (भाग.पुरा.११-।११।४७) इत्यादिना च ध्यानस्य आवश्यकत्वोक्तेः तस्यच मानसमूर्तिकल्पनम् अन्तरेण असिद्धेः मूर्तिः सर्वेषामेव पूज्येति शैल्यादिमूर्तिषु कदर्यएव प्रद्वेषो भवताम्. तथाच उक्तं स्कान्दे उत्तरसंहितायां पाण्डुरंगमाहात्म्ये —

"**शिलाबुद्धिः न कार्या च तत्र नारद! कर्हिचित्।**
ज्ञानानन्दात्मको विष्णुः यत्र तिष्ठति अचिन्त्यकृत्॥
तीर्थक्षेत्रे स्थिते विष्णौ शिलाबुद्धिं करोति यः।
स याति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम्॥
अत्र सामान्यतो मूढा हेतुकाः पापबुद्धयः।
प्रतिमेति विकत्थन्ते दृष्ट्वा आनन्दात्मकं वपुः॥"

(स्कान्द.उत्त.संहि. । ।) इति.

उत्कलखण्डे च पुरुषोत्तममाहात्म्ये "**अदो यद्दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषं तदालभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्**" (स्कान्द.पुरु.माहा. । -

।) इति मन्त्रो दारुब्रह्मपरत्वेन व्यासचरणैः उक्तो विद्यारण्येन च वेदभाष्ये तथा व्याख्यातमिति मूर्तिद्विष्टारो भगवद्द्वेषित्वाद् अन्त्यजाएव. **''अवैष्णवस्तु यो विप्रः स पाषण्डी प्रकीर्तितः... अन्त्यजो भगवद्द्वेषी देवि! तत्रैव निर्णयः''** (पाद्मपुरा.उत्त.खं.२३५।२७-२८) इति पाद्मोत्तरखण्डे शिववाक्यात्.

नच * उक्तवाक्यानां तत्तत्क्षेत्रस्थ-स्वरूप-परत्वाद् अन्यप्रतिमाप्रद्वेषे न दोषः * इति वाच्यं, **''ज्ञानानन्दात्मको विष्णुर् यत्र तिष्ठत्यचिन्त्यकृद्''** (तत्रैव) इति हेतूक्ति-सामान्योक्त्योः विरोधात्. अतो मूर्तेः भगवत्त्वं ज्ञात्वा तत्पूजने भक्त्या क्रियमाणे न कोऽपि दोषप्रसंगः.

(मूर्तेः त्रेधा हरित्वं तेन तत्पूजने न दोषः)

*ननु मूर्तेः भगवत्त्वे विशेषेण तत्र भगवस्थितिः प्रयोजिका. साच अनादिसिद्धासु देवादिकृतासु च तासु अस्तु, त्रिविक्रमभट्टादिभिः तत्र जीर्णोद्धारानंगीकारात्. अन्यासुतु **''खण्डिते स्फुटिते दग्धे भ्रष्टे मानविवर्जिते त्यागहीने पशुस्पृष्टे पतिते दुष्टभूमिषु अन्यमन्त्रार्चिते चैव पतितस्पर्शदूषिते दशसु एतेषु नो चक्रुः सन्निधानं दिवौकसः''** (. ।) इति ब्रह्मवाक्ये निमित्तवशाद् असन्निधानस्यापि उक्तत्वात्. त्रिस्थलीसेतौ **''स्त्रीणाम् अनुपनीतानां शूद्राणां च नरेश्वर! स्थापने नाधिकारो अस्ति विष्णोः वा शंकरस्य वा. यः शूद्रसंस्कृतं लिंगं विष्णुं वा विनमेद् नरः इहैव अत्यन्तदुःखानि पश्यति आमुष्मिके किमु''** (बृह.नार.पुरा. । ।) इति बृहन्नारदीयस्कान्दवाक्येषु **''यः शूद्रस्थापितं लिंगं विष्णुं वा विनमेद् द्विजः स याति नरकं घोरं यावद् आभूतसम्प्लवम्''** (। ।) इति वाक्ये —

''यः शूद्रेण अर्चितं लिंगं विष्णुं वा विनमेद् नरो।
न तस्य निष्कृतिः दृष्टा प्रायश्चित्तायुतैरपि॥
नमेद् यः शूद्रसंस्पृष्टं लिंगं वा हरिमेव वा।
स सर्वयातनाभोगी यावदाचन्द्रतारकम्॥
योषिद्भिः पूजितं लिंगं विष्णुं वा विनमेद् नरः।

स कोटिकुलसंयुक्त आकल्पं रौरवं वसेद्।।''

(त्रिस्थ.से. ।) इति.

त्रिस्थलीसेतौ नारदवाक्येषु नमनेऽपि दोषस्मरणात्. तत्रैव **''शूद्रो वा अनुपनीतो वा स्त्रियो वा पतितोऽपि वा केशवं वा शिवं वा अथ स्पृष्ट्वा नरकम् अश्नुते''** (. ।) इति शूद्रादीनां स्पर्शस्यापि पातकस्मरणात्. सन्निधानेच तदयोगात् तासु न स्थितिः इति अंगीकार्यम्. तथाच तादृश्याः पूजने कथं न दोषः* इति चेद्, उच्यते — मूर्तौ अस्ति त्रेधा भगवत्त्वं [क]सर्वस्य भगवद्रूपत्वेन तस्याअपि भगवद्रूपत्वात् [ख]साकारब्रह्मणः तत्र स्थितत्वात् [ग]मन्त्रादिभिः आवाहनेन सन्निधानात् च इति. तत्र **''खण्डिते स्फुटिते''** (. ।) वाक्याद् यद् असन्निधानस्वरूपं दूषणम् आयुष्मता उक्तं तत्तु देवान्तरविषयकं 'दिवौकसः' इति पदाद् बहुवचनात् च, नतु भगवन्मूर्तिविषयकम्. भगवतः सर्वत्र सन्निहिततया आवाहनस्य सन्निधापकत्वा-भावेन खण्डितत्वादीनाम् असन्निधापकत्वाभावस्यापि अर्थादेव सिद्धेः. अतएव उक्तं विष्णुधर्मोत्तरे तृतीयकाण्डे आवाहनप्रयोजनाध्याये —

वज्र उवाच

''विष्णुः सर्वगतो देवो महद्भ्योऽपि महत्तरः।
सूक्ष्मेभ्यश्च अतिसूक्ष्मश्च सर्वव्यापी जगन्मयो।।
नास्ति किञ्चिद् जगति अस्मिन् यत्र नास्ति जनार्दनः।
सदसच्च महाभाग तेन व्याप्तं महात्मना।।
आवाहनेन किं कार्यं तस्य सर्वगतस्यतु।''

मार्कण्डेय उवाच

''आवाहनम् अथ अत्रापि क्रियते यज् जगत्पतेः।
नित्यं सन्निहितस्यापि सर्वत्र परमेष्ठिनः।।
केवलं कारणं तत्र स्वमनस्तुष्टिकारणम्।
आवाहितो महादेवः तत्र सन्निहितोऽपि वा।।''

(विष्णुधर्मो.पुरा.३।१०८।१५-१६) इति.

अतएव “**दशपञ्चांगुला मुख्या मध्यमा द्वादशांगुला. अष्टांगुलाधमा प्रोक्ता न्यूनाधिक्यं न कारयेत्. प्रतिष्ठा विफला तस्य पूजनं निष्फलं भवेत्. मानांगुलिविहीना या प्रतिमा यत्र तिष्ठति**” (गोत.तं. ।) इति गौतमीतन्त्रवाक्योक्तो मानहीनत्वादिदोषोऽपि न. नापि “**हन्ति अर्थहीना कर्तारं मन्त्रहीनातु ऋत्विजं स्त्रियं लक्षणहीनातु न प्रतिष्ठासमो रिपुः**” (नार. । ।) इति नारदोक्तः प्रतिष्ठादोषः, तदुद्धारार्थं तथाप्राकट्यात्. प्रतिष्ठायाः विश्वासदार्ढ्यार्थत्वात् च.

एवं सति ये उपासनामार्गीयाः, तत्रापि अज्ञाः अदृढविश्वासाः, तेषां हृदि तथा स्फुरतीति तान् प्रत्येव एषा व्यवस्था, बिभीषिकाच, न भक्तान् ज्ञानिनः वा प्रति इति अकिञ्चित्करा. अतएव प्रतिष्ठानमनादिकृतोऽपि न तेषां दोषः. नापि “**खण्डिता स्फुटिता दग्धा यस्माद् अर्चा भयावहा. तस्मात् समुद्धरेत् तां तु पूर्वोक्तविधिना नरः**” (नार.पञ्च. ।) इतिनारदपञ्चरात्रोक्तो जीर्णोद्धारो, भक्तिमार्गविरुद्धत्वाद्, भक्तेः स्नेहरूपत्वात्, स्निग्धस्य तादृशत्वे उपचारकरणस्यैव औचित्याद्, रागस्य भयप्रतिपक्षत्वात् च, प्रतिमायाअपि न भयावहत्वम्. दुष्टस्पर्शादौतु स्वस्त्ययनादिकरणं पञ्चामृतस्नापनं महाभिषेकादिकं च भक्त्यंगतया प्राप्तं स्नेहभावेन कार्यं श्रीनन्दकृत-जातकर्मादिवत्. तावता “**द्रव्यवत्कृतशौचानां देवतार्चानां पुनःप्रतिष्ठापनेन शुद्धिः**” (. ।) इति विष्णुवाक्यमपि अनुकूलं भवतु नाम. प्रतिमाभंगे उपवासोऽपि स्नेहानुसारेणैव कार्यः. “**न राज्ञो विप्लवे अश्नीयात् सुरार्चाविप्लवे तथा**” (विष्णुधर्मो.पुरा. । ।) इति विष्णुधर्मवाक्यमपि तेनैव अनुकूलं भवतु नाम. विरुद्धवाक्यानितु अभक्तपराणि.

यद्यपि तद्रूपादिहेतुद्वयस्य सर्वसाधारणत्वं तथापि शालग्रामादिपूजाम् अनुक्त्वा भगवता प्रतिमापूजैव यत् महता प्रपञ्चेन निरूपिता तेन तत्र कश्चिद् विशेषो अस्ति इति ज्ञायते. सच ज्ञानिभक्तं प्रति ‘एनम् उद्धरिष्यामि’ इति इच्छया मृदादेः प्रादुर्भूतत्वरूपः एको, यथा स्तम्भात् प्रह्लादार्थम्.

जीवक्रियातु अभिव्यक्त्यर्थं व्यापृतापि इच्छाशरीरएव प्रविशतीति अकिञ्चित्करा, ''एनं जीवम् एवम् आविर्भूय उद्धरिष्यामि'' इति आकारात्. ब्रह्मणः साकारव्यापकतया मुखे मुखस्य हस्ते हस्तस्य एवं स्थितिः इति अपरः. तेन सर्वेषां कटककुण्डलाद्युपचाराणां साक्षाद् विनियोगः इति च. नच आधेयत्वेन स्थितौ कथं साक्षाद् विनियोगः इति आशंकनीयं भगवतः सर्वान्तरत्वात्, ''**यः पृथिवीम् अन्तरः**'' (बृह.उप.३।७।३) इत्यादिश्रुतेः. अन्तरयति इति अन्तरः. अतो यत्रैव विशेषतो भगवत्त्वं तत्र तत्पूजाद्वेष्टारो लघुतमाः इत्येव इति दिक्.

(श्रीकृष्णमूर्तेरेव सेव्यत्वे शंकासमाधाने)

*ननु एवं तथापि सर्वासु मूर्तिषु अविशेषात् श्रीकृष्णमूर्तिरेव सेव्या इति कोऽयं निर्बन्धः?

उच्यते भजनंहि मूलरूपएव मुख्यं फलनान्तरीयकत्वात्. मूलरूपता च ''**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**'' (भाग.पुरा.१।३।२८) '''**कृषिर्' भूवाचकः शब्दः**'' (गो.पू.ता.उप.१।१) इत्यादिवाक्यैः तत्रैव सिद्धा. इतरत्रतु अवतारादिरूपता. तद् उपपादितम् आचार्यैः सुबोधिनीभाष्यादिषु मूर्तौच स्थितिः आवेशरूपा वन्हेः अयसीव एवं सति मूर्त्यन्तरे यः आवेशः सः अवतारादिरूपस्य. तच्च भगवदंशभूतमिति द्व्यन्तरितत्वं मूर्तेः. श्रीकृष्णमूर्तौतु मूलरूपेणेति साक्षात्त्वम् इत्यतो अयं निर्बन्धः.

अथ मूर्त्यन्तरेऽपि भक्तिविशेषेण स्वयमेव चेद् आविर्भवेत्! भवतु नाम! तथापि साधनदशायां तत्तत्प्रतीतिरेव पूर्वं भवतीति द्व्यन्तरितत्वम् अबाधम्. एतेनैव पञ्चायतनपक्षोऽपि अपास्तः. ''**यथा हि स्कन्धशाखानां तरोर्मूलावसेचनम् एवम् आराधनं विष्णोः सर्वेषाम् आत्मनश्च हि**'' (भाग.पुरा.८।५।४९) इति अष्टम-स्कन्ध-पञ्चमाध्याय-वचनेन. ''**यथा तरोः मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः प्राणोपहाराच्च यथा इन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणम् अच्युतेज्या**'' (भाग.पुरा.४।३१।१४) इति चतुर्थसमाप्तौ

वचनेन च, तेनैव सर्वसिद्धेः उक्तत्वात् च. नापि तस्य पक्षस्य वैयर्थ्यम्, अनन्यभिन्नान् साधारणान् प्रति कृतार्थत्वाद् इति.

(भक्त्या सेवने शंकासमाधाने)

ननु प्रतिमायाम् एवम् आवेशः सर्वदा कदाचिद् वा? सोऽपि सर्वान् प्रति, कञ्चित् प्रति वा? अविशिष्टो विशिष्टो वा? इति विचार्यताम्! तत्र कक्षात्रयाद्यपक्षास्तु न भवन्ति सर्वदा सर्वेषाम् एकरूपाननुभवात्. द्वितीयाएवतु साधीयांसः. तथा सति अयमपि वह्न्यावेशे अयःस्थापनवद्, अत्र भक्तिरेव तस्य तादृशी निमित्तभूता वाच्या. साच 'रत्या'ख्यमनोविकाररूपत्वाद् आन्तरा व्यधिकरणा चेति न बहिः आवेशयितुं शक्नोति. तथा सति साधितमपि मूर्तेः भगवत्त्वम् अकिञ्चित्करम् इति चेत्,

उच्यते "**भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय**" (भाग.पुरा.७।९।९) "**भक्त्यैव तुष्टिम् अभ्येति**" (. ।) इत्यादिवाक्यैः भक्तेः भगवत्तोषहेतुत्वम् अविवादम्. तोषेच अविर्भावोऽपि अविवादः, सामानाधिकर-ण्यात्. सच अरणौ वह्नेरिव सतएवेति न पूर्वोक्तानुपपत्तिगन्धोऽपि. आविर्भावादेव च अनुभावानुभवो भक्तानाम् आरम्भदशायां तदभावेऽपि भावनासौकर्यन्तु अविवादमेव. साच गुरूपदेशम् अन्तरेण अनुपपन्ना. सच तद्भक्तिम् अन्तरेण तथा सापि "**यस्य देवे परा भक्तिर् यथा देवे तथा गुरौ**" (श्वेता.उप.६।२३) इति श्रुतेः उत्कटैव अपेक्षितेति तारतम्येऽपि न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. सेवनप्रकारः च दशमस्कन्धसिद्धो व्रजस्थानां गृह्यते, "**केवलेनहि भावेन**" (भाग.पुरा. ११।१२।८)इत्यादिना तेषां प्रशंसनात्. "**देशान् पुण्यान् आश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च**" (भाग.पुरा.११।२९।१०) इत्यनेन भक्ताचरिताश्रयणाज्ञापनाद्, "**गायन् अनुस्मरन् कर्म जन्म च अभिनयन् मुहुः**" (भाग.पुरा. ११।११।२३) इत्याद्याज्ञापनात् च. पञ्चायतनपूजादिकन्तु अनन्यताज्ञापनादेव निरस्तमिति न कोऽपि शंकालेशः.

एवञ्च "**यथा तरोः मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः**

प्राणोपहाराच्च यथा इन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणम् अच्युतेज्या'' (भाग.पुरा.४।३१।१४) इति चतुर्थस्कन्ध-समाप्तिस्थ-नारदवाक्यम्. समापर्व-दशमस्कन्धस्थ-भीष्मसहदेववाक्यं च संगतं भवति. इदञ्च सर्वं सपरिकरं निबन्धे सेवाप्रकरणे **''तद्रूपं तत्र च स्थितम्''** (त.दी.नि.२।२२८) इत्यादिना प्रकटीकृतम् आचार्यैः. फलञ्च सेवाफलविवरणे (से.फ.१.) साधनभक्तीनां स्वरूपं भगवतः प्रेमैकलभ्यत्वादिकं च प्रभुचरणैः भक्तिहंसविद्वन्मण्डनादौ प्रपञ्चितमिति उपरम्यते.

इति श्रीगोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमविरचितो मूर्तिपूजनवादः समाप्तः

॥ अवतारवादावल्यां ॥

द्वितीयपरिशिष्टरूपः

॥ शूद्रादेः श्रीभागवतादिपाठविषयकशंकानिरासवादः ॥

(श्रीभागवतस्य पठनपाठनयोः निखिलानाम् अधिकारो अस्ति न वा इति संशयनिराकरणे)

श्रीकृष्णाय नमः. पुराणान्तरे **''श्रावयेत् चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणम् अग्रतः''** (महाभा.१२।३१४।४५) इति शूद्रस्यापि सामान्यतः श्रवणविधानात्. स्मृतिकौमुद्यां स्कान्दे **''अस्ति शूद्रस्य शुश्रूषा पुराणे नैव वेदनम्.''** (. । ।) इति **''वदन्ति केचिद् विद्वांसः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्''** (. ।) इति **''सिद्धान्तश्रवणं प्राहुः द्विजानां मुनिसत्तम! शूद्राणां च विरक्तानां तथा स्त्रीणां महामुने! सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं पुराणश्रवणं बुधैः''** (. । ।) इति श्रवणबोधनात्. एकादशस्कन्धेऽपि **''साधवे शुचये ब्रूयात् भक्तिः स्यात् शूद्रयोषिताम्''** (भाग.पुरा.११।२९।३१) इति भगवद्वाक्यात्.

प्रथमस्कन्धे **''स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा इति भारतम् आख्यानं कृपया मुनिना कृतम्''** (भाग.पुरा.१।४।२५) इति वाक्यात् च

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

टिप्पणी

वादोऽयं वर्णाश्रमव्यवस्थाम् अनुसृत्य प्रकटितः. सातु **''चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः''** (भग.गीता.४।१३) इति वचनाद् मातापित्रादिपूर्वजेभ्यः सन्तत्यां समागताः साहजिकाः, तथाच देशकालव्यक्तीनां संगाद् जाताः ये नैमित्तिकाः गुणाः चेति गुणद्वैविध्यात् उभयविधगुणसापेक्षा. कर्मसु च तावत् संस्काराणां,

भारतपुराणश्रवणम् असन्दिग्धम्. ततश्च बुद्धिमतां ज्ञानमपि भवत्येव परन्तु तादृशज्ञाने **''आसक्तौ भगवानेव शापं दापयति क्वचित्! अहंकारेऽथवा लोके तन्मार्गस्थापनाय हि''** (पु.प्र.म.१८) इति उक्तरीतिकेन शापादिना कारणविशेषेण शूद्रयोनिगतानां महतां विदुरवेदवादिदासीसुतसदृशां फलमुखो अधिकारः, तादृशामेव तत्र कृतार्थत्वस्मरणात्. तत्र शूद्रयोनिगतत्वेऽपि न कर्मजातिशूद्राणाम्.

''अत्रापि वेदनिन्दायाम् अधर्मकरणात् तथा।
नरके न भवेत् पातः किन्तु हीनेषु जायते॥''
(त.दी.नि.२।२१६)

नित्यनैमित्तिकभेदेन अवश्यानुष्ठेयधर्माणां, प्रायश्चित्तानां, वर्णाश्रमभेदेन नित्यापत्कालिकाजीविकानां अनेकविधप्रभेदैः निखिलकर्मसापेक्षापि. एवं गुणकर्मसमुदाययोः निर्वाहे तत्तद्वर्णाभिमानिदेवतानाम् आवेशजप्राकट्यतन्निवृत्त्यन्यतरसापेक्षा हि वर्णाश्रमव्यवस्था इति सिद्ध्यति. तद् उक्तं **''ब्राह्मण्यं न जातिः व्यक्तिसद्भावेऽपि तस्य अपगमाद्... तस्मात् शास्त्रे बहुवाक्यविरोधाद् ब्राह्मण्यं काचिद् देवता. सा यस्मिन् देहे अभिव्यक्ता भवति ते 'ब्राह्मणाः' इति उच्यन्ते... साच उपनयनेन देहे समायाति... एवं क्षत्रम्...''** (सुबो.२।१।३८) इति आचार्यचरणैः. तस्माद् वादेऽस्मिन्नपि 'जातिशूद्र'इति पदप्रयोगः शूद्रसंस्कार-शूद्रनियतधर्म-शूद्राजीविकेति त्रयाणां निर्वाहिण देहे जातं यत् शूद्रदेवताप्राकट्यं तदभिप्रायकं ज्ञेयम्. न केवलं शूद्रकुलजातमातृपितृसम्भोगजशरीरपरं तद् इति.

किञ्च —

''अधुनातु कलौ सर्वे विरुद्धाचारतत्पराः।
स्वाध्यायादिक्रियाहीनाः तथाचारपराङ्मुखाः॥
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते।
विक्षिप्तमनसो भ्रान्ता जिव्होपस्थपरायणाः॥
व्रात्यप्रायाः स्वतोदुष्टाः तत्र धर्मः कथं भवेत्।
षड्भिः सम्पद्यते धर्मः ते दुर्लभतराः कलौ॥
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेद् बुधः।

इत्युक्तरीतिकेन कर्मणा जातिशूद्राणां न फलमुखो अधिकारः इति. ब्रह्मसूत्रप्रथमाध्यायतृतीयचरणे **''श्रवणाध्ययनार्थप्रतिरोधात् स्मृतेः च''** (ब्र.सू.१।३।३८) इति सूत्रस्य भाष्ये **''स्मार्ते पौराणिके ज्ञानादौ''** इति 'आदि'पदेन **''जपस् तपस् तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनं देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षड्''** (अत्रिसंहि.१३६) इति एतेषां संग्रहो विदुरादीनां तीर्थयात्रादिदर्शनाद्. इतरेषान्तु एतानि निषिद्धान्येव. अतएव इदानीन्तनानां तत्कर्तॄणां कामक्रोधादयएव दृश्यन्ते नतु उपशमः इति. येषान्तु उपशमः तेतु विदुरादिकोटिष्ठाएवेति फलबलात् कल्प्यते. तेन कर्मजातिशूद्राणां न फलमुखो अधिकारः इति सिद्धम्.

अथ प्रसंगाद् इदं विचार्यते : शूद्रादयः सर्वं भारतं पुराणं च पठेयुः न वा? इति.

''श्रीभागवतमार्गेण स कथञ्चित् तरिष्यति॥

....

वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु।
क्रियमाणे न धर्मः स्याद् अतः तस्माद् न मोचनम्॥
बुद्धिमान् आदरं तस्मिन् छले साध्येऽपि धर्मतः।
त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्तिमार्गे समाविशेत्॥''

(त.दी.नि.२।२१२-२२३)

इति आचार्यचरणैः भक्तिमार्गस्य वर्णाश्रमधर्ममार्गविकल्पानुकल्पान्यतररूपत्वप्रतिपादनात् तद्भक्तिमार्गप्रतिपादकश्रीभागवतस्य सर्वोद्धारकत्वेऽपि तैः **''यावद् देहो अयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा.** यदा पुनः आत्मानं जीवं मन्यते, संघातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्मो अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः'' (सुबो.३।२८।२) इति व्यवस्थापितम्. तेन देहादिसंघातव्यतिरिक्तात्मनि भगवदंशत्वाभिमानिनां वर्णिनां तदितरेषां वा सर्वेषामपि भागवतोक्ते भक्तिप्रपत्तीएव स्वधर्मभूते. तस्य ज्ञानन्तु भागवतेनैव भवतीति सति सम्भवे द्विजमुखादेव श्रीमद्भागतं श्रोतव्यं किन्तु कलेः बलिष्ठत्वेन उपदेशाधिकारिद्विजालाभे स्वतोऽपि भागवतानुवादं पठनीयं मननीयं तदुपवर्णिताः

(तत्र वाक्यत्रयीणां विमर्शेन निखिलानां निखिलेऽपि ग्रन्थे पठनपाठनाधिकारो भवतु इति शंका)

तत्र [१]“**भारतव्यपदेशेन हि आम्नायार्थश्च दर्शितः, दृश्यते यत्र वै धर्मः स्त्रीशूद्रादिभिरपि उत**” (भाग.पुरा.१।४।२८) इति प्रथमस्कन्धे, [२]“**विप्रो अधीत्य आप्नुयात् प्रज्ञां, राजन्यो दधिमेखलां, वैश्यो निधिपतित्वं, शूद्रः शुद्ध्येत पातकात्**” (भाग.पुरा.१२।१२।६४) इति द्वादशस्कन्धे च, धर्मदर्शन-श्रीभागवताध्ययनयोः बोधनात्. [३]“**तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यः च स्मर्तव्यः च इच्छता अभयम्**” (भाग.पुरा.२।१।५) इत्यत्र अभयेच्छायां सर्वसाधारण्येन कीर्तनविधानात् च सर्वमेव भारतं पुराणं च सर्वे पठेयुः इत्येवं प्राप्ते—

(निखिलानां न निखिलेऽपि भागवतादौ अधिकारः किन्तु ब्रह्मज्ञानांशभागव्यतिरिक्ते इति समाधानम्)

अभिधीयते : ब्रह्मज्ञानभागांशव्यतिरिक्तमेव पठनीयं, धर्मब्रह्मणोः अतीन्द्रियत्वेन [१]प्रथमवाक्ये ‘दृशेः’ मुख्यार्थस्य गृहीतुम् अशक्यतया धर्मादिशाब्दज्ञानमात्रार्थकत्वेन पाठाप्रापकत्वात्.

भगवल्लीलाः च नित्यं कीर्तनीयाः. न तत्र अनधिकारिताचिन्ता काचित्. यस्मात् सम्प्रति—

श्रीमद्वल्लभवंशजा हि बहुला मान्या द्विजेषूत्तमाः
जाता देवलका विगर्ह्यमतयः लज्जाविहीनाः स्वयम्।
अन्ये भागवतोपजीवनपरास्तद्दीक्षिता वै द्विजाः
सत्स्वेतेष्वितरे पुराणपठनायोग्याः स्वमार्गे कुतः ?

तस्माद् ग्रन्थकृता विमृष्टोऽयं विषयो अधुना नूनम् अप्रसक्तएव प्रतिभाति तथापि अस्मत्पूर्वजानां सिद्धान्ताभिमतिः कीदृशी आसीद् इति इतिहासरुचिषु अध्येतृषु कुतुहलोपशमनाय एतद्वादग्रन्थप्रकाशनं न तावद् अप्रसक्तमेव इति मे मतिः(गो.श्या.म.).

[2]द्वितीयेऽपि 'अधीत्य' इत्यस्य स्मरणाध्ययनासाधारण्यात् "स्मृत्वा गुरुमुखाद् वा गृहीत्वा" इति अर्थेन तथात्वात्. नच * स्वाध्यायब्राह्मणश्रुतौ "**प्राङ् आसीनः स्वाध्यायम् अधीयीत**" (तैत्ति.आर.२।११) इत्यादौ केवलोच्चारणेऽपि तथाप्रयोगात् तत्प्राप्तिः * इति वाच्यं विनिगमनाविरहात्. नच * इतः पूर्वं "**य एतां श्रावयेद्**" (भाग.पुरा.१२।१२।५८-५९) इति सर्वां संहितां "**पठन् अनश्नन् प्रयतः**" (तत्रैव) इति पाठं च प्रकम्य "**विप्रो अधीत्य**" (तत्रैव) इति श्लोककथनाद् उपक्रमएव विनिगमको अस्तु * इति वाच्यं, तत्रापि श्रावणाद्युत्तरम् एतत्कथनेन 'अध्ययन'शब्दमहिम्ना च श्रावणौत्तर्ये सिद्धे, कपिलदेवैः स्वमातुरपि औपनिषद्-भागवतज्ञानयोः अनुक्तत्वेन स्त्रीशूद्रयोः तदंशाश्रावणे तयोः तच्छ्रवणानधिकारे च सिद्धे, "**शूद्रयोनौ अहं जातो नातो अन्यद् वक्तुम् उत्सहे. कुमारस्यतु या बुद्धिः वेद तां शाश्वतीम् अहम्**" (महाभा.५।४१।५) इति उद्योगे सनत्सुजातीयारम्भे विदुरवाक्याद् ज्ञानोत्तरमपि वदनानधिकारे च सिद्धे, श्रवणपठनयोःपठनएव वा तावदंशत्यागस्यैव औचित्यात्.

तथा प्रणवादिमान् वैदिकमन्त्रयुक्तोऽपि त्याज्यः "**वेदः प्रणवएव अग्रे धर्मो अहं वृषरूपधृग् उपासते तपोनिष्ठां हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः**" (भाग.पुरा.११।१७।११) इति. "**स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्**" (भाग.पुरा.१२।६।४१) इत्यादिवाक्यैः प्रणवस्य विशेषतो वेदत्वनिश्चयाद् औपनिषदानां नारायणाष्टाक्षरादीनां मन्त्राणां नारायणकवचादौ प्रत्यभिज्ञानात् च. नच * देवतादिवाचकपदवत् प्रत्यभिज्ञायाः अप्रयोजकत्वम् * इति शंकयं, नाममन्त्रस्तु गुह्यः इति "**स्वाहाकार-नमस्कारौ मन्त्रौ शूद्रे विधीयते ताभ्यां शूद्रः पाकयज्ञैः यजेत ब्रह्मवान् स्वयम्**" (महाभा.१२।६०।३६) इति आनुशासनिकपर्वादो तदनुज्ञादर्शनेन एतेषां च तदभावेन एतदद्दृष्टान्तस्य अत्र वक्तुम् अशक्यत्वात्.

किञ्च द्वितीयस्कन्धे श्रीशुकैः "**तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिः ईश्वरः श्रोतव्यः कीर्तितव्यः च स्मर्तव्यः च इच्छता अभयम्**" (भाग.पुरा.२।१।५) इति श्रवणात् तृतीयं स्मरणम् उक्तम्. प्रथमे सूतेनापि "**श्रोतव्यः कीर्तितव्यः च ध्येयः पूज्यः च**" (भाग.पुरा.१।२।१४) इति

तथा उक्तम्. एवं प्रकृतेऽपि श्रवणपठनफलकथनोत्तरं स्मरणस्यापि तद् वाच्यम्. अन्यथा आकाङ्क्षान्तरोदयप्रसंगात्. अतः सादेश्यादपि 'अधीत्य'इति पदं स्मरणार्थकम् अवसीयते. यत्तु "**ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चस्वी राजन्यो जगतीपतिः वैश्यः पठन् विट्पतिः स्यात् शूद्रः सत्तमताम् इयात्**" (भाग.पुरा.४।२३।३२) इति चतुर्थस्कन्धीयं, तत्तु पृथुचरितम् उपक्रम्य पठित्वात् प्रकरणावरुद्धमिति न तेन सर्वपाठः प्रापयितुं शक्यते. नच * "**पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतम् आदरात्**" (त.दी.नि.२।२३२) निबन्धे श्रीमदाचार्यैः उक्तत्वात् सर्वं पठनीयम् * इति शंक्यं, तत्रापि तदंशत्यागे बाधकाभावाद्. अन्यथा "**यद् औपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा वर्णिनामेव तद्धि स्यात् स्त्रीशूद्राणां ततो अन्यथा**" (त.दी.नि.३।२४।१७८) इति तृतीयस्कन्धीयनिबन्धवाक्यस्य "**भागवतज्ञानमपि त्रैववर्णिकानामेव उपासनायाः प्राधान्यात्. यदेव भगवता ब्रह्मणे प्रोच्यते तत् त्रैवर्णिकानामेव इति ज्ञातव्यम्**" (त.दी.नि.प्र.३।२४।१७८) इति तत्प्रकाशग्रन्थस्य च विरोधापत्तेः.

नच * एकादशस्कन्धेऽपि "**एष ते अभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः**" (भाग.पुरा.११।२९।२३) इति कथनात् चतुश्लोकीतुल्यतया उपदेशस्य तत्रापि सत्त्वात् तत्रापि अनधिकारः * शंक्यः, तदग्रे "**नैतत् त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च अशुश्रूषोः अभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्, एतैः दोषैः विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्यात् शूद्रयोषिताम्**" इति (भाग.पुरा.११।२९।३०-३१) कथनात् कर्मज्ञानादिमिश्रिततया उपदेशात् च तादृशां श्रावणे बाधकाभावेन तत्र तेषां श्रवणाधिकारस्य सिद्धेः. अन्यथा तद्विरोधापत्तेः च.

[३]नच * अभयेच्छायां तदर्थं कीर्तनस्य विरोधः * शंकयः, तत्र भगवतएव कथनात् 'श्रीभागवत'पदाभावात् च. उक्तैकदेशातिरिक्तभागवतकीर्तनादपि तत्परिहारसिद्धेः. पुरुषोत्तमसहस्रनामपाठस्यापि फलोक्तिप्रसंगे "**सहस्रं यैस्तु पठितं पठितं स्यात् शुकामृतम्**" (पुरु.सह.४) इति आचार्याणां वाक्यात् तस्मादपि तत्सिद्धेः च.

ये पुनः एतानि वाक्यानि आश्रित्य स्वस्यापि पाठाधिकारं शूद्रादयो

आपादयन्ति तेषां मात्सर्यादिदोषग्रासेन श्रीभागवतोक्तधर्मेष्वपि अनधिकारः, "**धर्मः प्रोज्झितकैतवो अत्र परमो निर्मत्सराणां सतां वेद्यं वास्तवम् अत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनं श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैः ईश्वरः सद्यो हृदि अवरुध्यते अत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिः तत्क्षणात्**" (भाग.पुरा.१।१।२)- इति वाक्यात् किम्पुनः पाठे. एतेनैव गीतापाठोऽपि व्याख्यातः. तत्रापि अध्याय-समाप्तौ उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायाम् इति दर्शनात्.

(निष्कर्षः)

तस्माद् उक्तातिरिक्तमेव शूद्रैः पठनीयं नतु श्रावणीयं पाठनीयं वा विध्यभावाद् इति निष्कर्षः.

इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन कृतः
शूद्रादेः श्रीभागवतपठनपाठनविषयकशंकानिरासवादः
समाप्तः

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

त

द

प

ब

म

र

श

ह